PCO

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

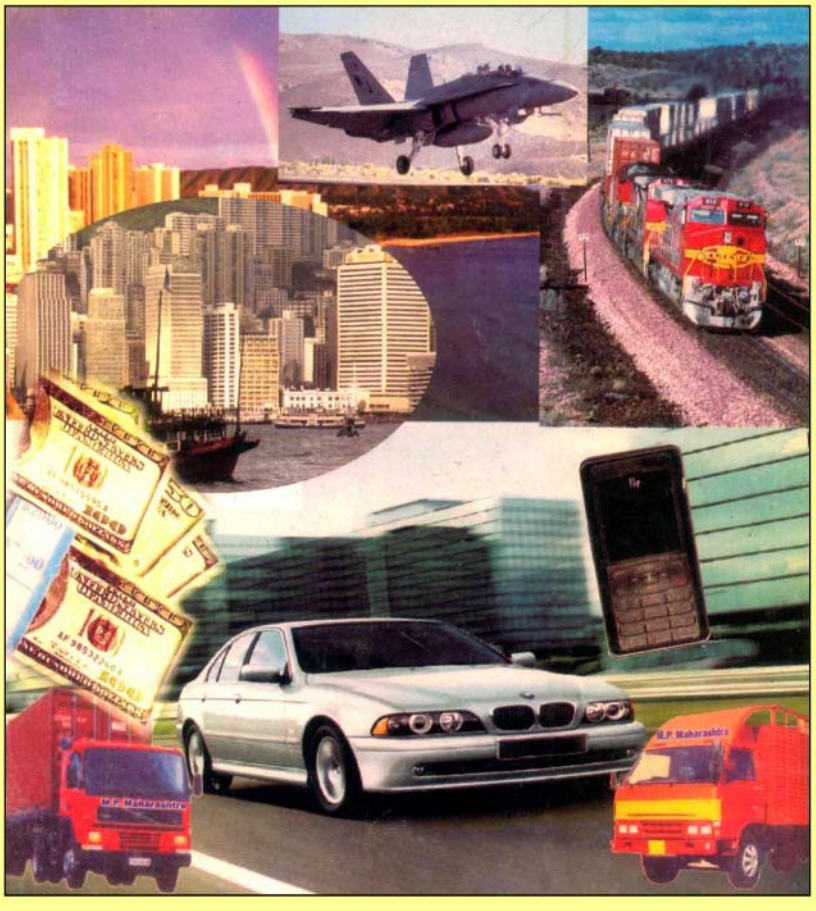

वाणिज्य में प्रारम्भिक पाठ्यक्रम

PCO

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

वाणिज्य में प्रारम्भिक पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

अध्यक्ष

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा

संयोजक

प्रो. (डॉ.) एम डी. अग्रवाल
से.नि. आचार्य (वाणिज्य)
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा

सदस्य सचिव

प्रो. (डॉ.) अनाम जैतली
निदेशक (अकादमिक)
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा

सदस्य

1. **प्रो. (डॉ.) आर.के. दीक्षित**
   आचार्य एवं अध्यक्ष, ई.ए.एफ.एम. विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जयपुर
2. **प्रो. (डॉ.) एस.जे. लालवानी**
   आचार्य व्यावसायिक वित्त एवं अर्थशास्त्र
   वाणिज्य एवं प्रबन्ध संकाय
3. **प्रो. (डॉ.) आई.वी. त्रिवेदी**
   आचार्य बैंकिंग एण्ड बिजनेस इकॉनोमिक्स
   मोहन लाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर
4. **प्रो. (डॉ.) एस.जी. शर्मा**
   सह आचार्य, ए.बी.एस.टी. विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
5. **डॉ. पुखराज दाधीच**
   राजकीय महाविद्यालय, अजमेर

सम्पादन एवं पाठ्यक्रम लेखन

सम्पादन

1. **प्रो. एम.एन. शर्मा**
   व्यावसायिक प्रशासन विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
2. **डॉ. एन.डी. माथुर**
   ई.ए.एफ.एम. विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

पाठ लेखक

1. **डॉ. उम्मेद सिंह**
   राजकीय वाणिज्य महाविद्यालय, कोटा
2. **डॉ. के.सी. गोयल**
   राजकीय वाणिज्य महाविद्यालय, कोटा
3. **डॉ. वी.वी. खामेश्र**
   अग्रवाल कॉलेज, जयपुर
4. **डॉ. एच.सी. गढ़वाल**
   राजकीय वाणिज्य महाविद्यालय, कोटा
5. **डॉ. गोपाल सिंह**
   राजकीय वाणिज्य महाविद्यालय, कोटा
6. **डॉ. आशा गुप्ता**
   सह आचार्य व्यावसायिक प्रशासन विभाग
   विश्वविद्यालय महारानी कॉलेज, जयपुर
7. **डॉ. के.सी. श्रृंगी, से.नि. आचार्य**
   राजकीय वाणिज्य महाविद्यालय, कोटा
8. **डॉ. ओ.पी. गुप्ता**
   विभागाध्यक्ष ई.ए.एफ.एम., एम. डी. कॉलेज,
   श्रीगंगानगर
9. **डॉ. आर. गुप्ता**
   राजकीय वाणिज्य महाविद्यालय, कोटा

पाठ्यक्रम पर्यवेक्षण एवं उत्पादन

निदेशक (अकादमिक)

प्रो. (डॉ.) अनाम जैतली
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय
कोटा

निदेशक
पाठ्यसामग्री उत्पादन एवं वितरण

प्रो. (डॉ.) पी.के. शर्मा
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय
कोटा

उत्पादन : नवम्बर, 2007

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकार का कोई भी अंश वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफी अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

निदेशक (अकादमिक) द्वारा वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित

PCO

वाणिज्य में प्रारम्भिक पाठ्यक्रम

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अनुक्रमणिका

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
1.	व्यवसाय-परिचयात्मक	6
2.	एकाकी संगठन, साझेदारी एवं सहकारी संगठन	19
3.	संयुक्त स्कन्ध कम्पनी	41
4.	बहुराष्ट्रीय निगम	50
5.	व्यावसायिक कार्यालय संगठन	66
6.	प्रलेखों की अनुक्रमणिका एवं नत्थीकरण	84
7.	कार्यालय उपकरण	95
8.	कार्यालय सन्देशवाहन व्यवस्था	113
9.	व्यावसायिक वित्त : कार्य एवं क्षेत्र	126
10.	व्यावसायिक वित्त के स्त्रोत	140
11.	बैंक एवं वित्तीय संस्थायें	157
12.	भारत में बैंकिंग संरचना	167
13.	बीमा : एक सामान्य अध्ययन	183
14.	व्यावसायिक जोखिम एवं बीमा	199
15.	परिवहन एवं परिवहन के साधन	207
16.	संचार एवं संचार के साधन	223
17.	आर्थिक क्रियाओं का वृत्ताकार प्रवाह	238
18.	मानवीय आवश्यकतायें एवं उपयोगिता	245
19.	माँग एवं पूर्ति : एक सामान्य अध्ययन	263
20.	अन्य आर्थिक अवधारणाएं	290
21.	शब्दावली	303

इकाई 1 व्यवसाय - परिचयात्मक (व्यवसाय की मूलभूत संकल्पनाए)

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 व्यवसाय
1.2.1 व्यवसाय की विशेषता अथवा लक्षण
1.2.2 व्यवसायक के उद्देश्य
1.2.3 व्यवसाय का क्षेत्र
1.3 उद्योग
1.4 वाणिज्य
1.4.1 व्यापार
1.4.2 व्यापार की सहायक क्रियाएँ
1.5 व्यवसायिक संगठन
1.6 सारांश
1.7 शब्दावली
1.8 प्रमुख उपयोगी पुस्तकें
1.9 स्वपरख प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात अप्प बता सकेंगे कि-

- "व्यवसाय क्या है"?
- व्यवसाय की प्रमुख विशेषताओं तथा उद्देश्यों को समझ सकेंगे ।
- व्यावसायिक क्षेत्र का विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।
- व्यावसायिक संगठन का आशय तथा उनके प्रमुख प्रारूपों को जान सकेंगे ।

1.1 प्रस्तावना

दैनिक जीवन में हम उद्योग, व्यापार और वाणिज्य आदि शब्दों का बहुतायत रूप में उपयोग करते रहते हैं । इन सभी शब्दों का अर्थ इस इकाई में आप समझ सकेंगे । इस इकाई में आप व्यवसाय के प्रमुख लक्षण एवं उद्देश्य,व्यवसाय का कार्य क्षेत्र एवं व्यावसायिक संगठन का अर्थ एवं इसके प्रमुख प्रारूपों के नामों की जानकारी प्राप्त करेंगें ।

1.2 व्यवसाय (Business)

सामान्यत: व्यवसाय का अर्थ धन उत्पति के लिए की जाने वाले समस्त मानवीय क्रियाओं से लिया जाता है । इस अर्थ में किसान का खेती करना, डॉक्टर का चिकित्सा करना, शिक्षक का पढ़ाना, वकील का मुकदमा लड़ना, दर्जी का कपड़ा सीना, मजदूर का मजदूरी करना,

व्यापारियों द्वारा माल खरीदना एवं बेचना, उधोगपत्तियों का उद्योग लगाकर उत्पादन करना आदि सभी क्रियाएँ व्यवसाय कही जा सकती है । वस्तुत: यह व्यवसाय का अतिव्यापक अर्थ है, जिसे अग्रेजी भाषा में अतिव्यस्तता की दशा (The State of Being Busy) कहते है।

समाज में मनुष्य दो प्रकार की क्रियाओं में व्यस्त रहता है- (i) आर्थिक तथा (ii) गैर आर्थिक । **आर्थिक क्रियाएँ** (Economic activities) वे क्रियाएँ है, जो धन प्राप्ति के लिए की जाती है, **गैर आर्थिक क्रियाएँ** (Non- Economic Activities) वे क्रियाएँ है, जिनका उद्देश्य धन कमाना नही होता । उदाहरण के लिए खेलना, कूदना, तैरना, अखबार पढ़ना, घूमना, गपशप करना आदि । व्यवसाय में केवल आर्थिक क्रियाएँ ही सम्मिलित की जाते है किन्तु सभी आर्थिक क्रियाएँ व्यवसाय नही कहलाती । यदि कोई व्यक्ति अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए उत्पादन करता है तो उसका कार्य आर्थिक होते हुए भी व्यवसाय नहीं है । व्यवसाय में उस आर्थिक क्रिया को भी सम्मिलित किया जा सकेगा जिससे समाज की आवश्यकता पूरी होती हो ।

एच.एल. हेने के अनुसार, "व्यवसाय एक मानवीय क्रिया है जो कि वस्तुओं के क्रय-विक्रय के द्वारा धनोत्पत्ति या धन प्राप्ति के लिए की जाती है । "

उर्विक के अनुसार, "व्यवसाय वह संस्था है जो समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं एवं सेवाओं का निर्माण करती हैं, वितरण करती हैं अथवा उन्हे उपलब्ध करवाती है।"

बेयोर्ड ओ. व्हीलर के शब्दों में, "व्यवसाय निजी लाभ की प्रेरणा की दृष्टि से समाज के लिए माल तथा सेवाओं की व्यवस्था करने हेतु एक संगठित तथा संचालित संस्था है ।"

उपयुक्त परिभाषाओं के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है, कि ' 'व्यवसाय के अन्तर्गत वे समस्त वैध मानवीय आर्थिक क्रियाएँ आती है जो वस्तुओ एवं सेवाओं के निरन्तर उत्पादन विनिमय हस्तान्तरण अथवा विक्रय के लिए की जाती है तथा जिनका उद्देश्य समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति एवं सन्तुष्टि करके लाभ कमाना है । "

1.2.1 व्यवसाय की विशेषताऐं अथवा लक्षण (Characteristics of Business)

प्रत्येक आर्थिक क्रिया व्यवसाय नहीं कहलाती । व्यवसाय कहलाने के लिए कुछ आवश्यक लक्षणों या विशेषताओं का होना आवश्यक है । व्यवसाय की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित है:-

1. **व्यवसाय एक मानवीय तथा आर्थिक क्रिया है**
   व्यवसाय मानवीय क्रिया है जो मानव द्वारा मानव के लिए सम्पन्न की जाती है । इस क्रिया को पूर्ण करने में वह पशुओं, अन्य व्यक्तियों एवं मशीनों का प्रयोग करता है । व्यवसाय एक आर्थिक क्रिया भी है, क्योंकि इससे धन या लाभ अर्जित किया जाता है।
2. **वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन अथवा विनिमय**
   समस्त आर्थिक क्रियाएँ व्यवसाय में नही आती, केवल वही क्रियाएँ आती है जो वस्तुओं या सेवाओं के उत्पादन अथवा विनिमय एवं वितरण से सम्बन्धित है । कोई व्यक्ति यदि वस्तुओं का उत्पादन स्वयं के उपभोग के लिए करता है या किसी को उपहार या दान देने

हेतु किया जाता है तो इन क्रियाओं को व्यवसाय नही माना जा सकता है । हाँ, वह बेचने या लाभार्जन के लिए करता है तो उसे व्यवसाय माना जायेगा ।

3. उत्पादन एवं विनिमय की निरन्तरता

व्यवसाय में वस्तुओं का उत्पादन या विनिमय निरन्तर रूप से होना चाहिए । किसी एक बार के लेन-देन को व्यवसाय नहीं कहा जा सकता । उदाहरण के लिए, एक विद्यार्थी अपना पुराना स्कूटर किसी अन्य व्यक्ति को बेच दे तो यह व्यवसाय नहीं कहलायेगा चाहे उसे लाभ ही क्यों न हुआ हो, यदि विद्यार्थी पुराने स्कूटरों को बेचने का धन्धा अपना ले अर्थात् इस कार्य को नियमित या निरन्तर रूप से करना प्रारम्भ कर दे तो वह व्यवसाय कहलायेगा ।

4. विनिमय द्वारा लाभ

यदि वस्तुओं या सेवाओं का उत्पादन एवं विनिमय लाभ के लिए नही किया जाता है तो हम उसे व्यवसाय नहीं कह सकते है । व्यक्तिगत उपयोग के लिए किया गया सेवाओं का आदान-प्रदान एवं उत्पादन व्यवसाय नहीं होता है, इसका आशय यह नहीं कि प्रत्येक व्यावसायिक क्रिया से लाभ ही हो, किन्तु प्रत्येक व्यावसायिक क्रिया का उद्देश्य लाभ कमाना अवश्य होना चाहिए ।

5. साहस एवं जोखिम

व्यवसाय कहलाने के लिए आर्थिक क्रियाओं में साहस एवं जोखिम के तत्व विद्यमान होने चाहिए । कहा गया है कि ' 'बिना जोखिम के लाभ नहीं होते और बिना साहस के व्यवसाय नहीं होता । जिन व्यवसायों में जोखिम अधिक होती है उनमें लाभ भी अधिक होते है और ऐसे व्यवसायों को करने के लिए भी अत्यधिक साहस की जरूरत होती है ।

6. वैधानिक क्रियाएँ

व्यवसाय के अन्तर्गत की जाने वाली समस्त आर्थिक क्रियाएँ वैधानिक होनी चाहिए । प्रत्येक देश की सरकार आर्थिक क्रियाओं के संचालन एवं नियंत्रण के लिए कानून बनाती है जो आर्थिक क्रियाएँ उनका उल्लंघन करते हुए की जाती है, वे व्यवसाय नहीं कहलाती जैसे- तस्करी, मिलावट, काला बाजारी एवं बिना लाइसेंस के दवाईयों का विक्रय करना आदि।

7. सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति

व्यवसाय एक सामाजिक क्रिया है जो समाज में रहकर समाज के लोगों द्वारा समाज की इच्छाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की जाती है । व्यवसाय किसी जंगल में नहीं किया जा सकता है । समाज के साधनों का अनुकूलतम उपयोग करके ही व्यावसायिक सफलता प्राप्त की जा सकती है ।

8. विस्तृत कार्यक्षेत्र

व्यवसाय का एक अन्य महत्वपूर्ण लक्षण इसका व्यापक क्षेत्र होता है । व्यवसाय मे वस्तुओं के उत्पादन से लेकर अन्तिम उपभोक्ता तक उसे पहुँचाने तक की समस्त क्रियाएँ सम्मिलित की जाती है । यही कारण है कि इसमें व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योग आदि सभी को सम्मिलित करते है ।

1.2.2 व्यवसायक के उद्देश्य (Objectives of Business)

प्रत्येक मानवीय क्रियाओं का कुछ न कुछ उद्देश्य होता है । व्यवसाय भी एक मानवीय क्रिया है । जिसका पूर्व निर्धारित लक्ष्य होता है । सुपरिभाषित उद्देश्य व्यावसायिक योजना बनाने में, व्यवसायी को एक दिशा प्रदान करने में एवं व्यवसायी को निरन्तर परिश्रम हेतु प्रोत्साहित करने में मदद करते है । व्यवसाय के दो पहलू है- (i) व्यक्तिगत पहलू तथा (ii) सामाजिक पहलू ।

(i) **व्यक्तिगत पहलू** (Indiviudal Aspect): बतलाता है कि, लोग व्यवसाय के क्षेत्र में क्यों प्रवेश करते है और क्यों बने रहते है । व्यवसायी अपनी जरूरतों हेतु व्यवसाय का कुशल संचालन करके पर्याप्त मात्रा में लाभ अर्जित करने का प्रयास करता है । इस प्रकार व्यवसाय का व्यक्तिगत पहलू व्यवसाय में लाभ उद्देश्य को उत्पन्न करता है ।

(ii) **व्यवसाय का सामाजिक पहलू** (Social Aspect) बतलाता है कि, व्यवसाय किसके लिए, किसके साधनो, किसके बीच तथा किन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है । यह पहलू व्यवसाय और समाज के बीच अन्तर्निर्भरता को व्यक्त करता है । सामाजिक पहलू समाज सेवा के उद्देश्य को जन्म देता है ।

व्यवसाय में लाभ व्यवसाय की सफलता का महत्वपूर्ण मापदण्ड है । व्यवसाय केवल इस लाभ उद्देश्य को लेकर दीर्घकाल तक नही चलाया जा सकता है, उसे सेवा उद्देश्य को साथ लेकर चलना पड़ेगा ।

उर्विक के शब्दों में, "जिस प्रकार दौड़ का उद्देश्य शर्त लगाना नहीं है, क्रिकेट का उद्देश्य रन बनाना नहीं है अथवा जीवन का उद्देश्य पेट भरना नहीं है, उसी प्रकार व्यवसाय का उद्देश्य केवल लाभ कमाना नहीं है।"

जॉर्ज आर.टेरी के अनुसार, ' 'लाभ कमाना व्यवसाय का उद्देश्य नही है, बल्कि इसका उद्देश्य सामाजिक हित एवं आवश्यकता की पूर्ति करना है । "

यह कहना तो युक्तिसंगत नही होगा कि व्यवसाय का उद्देश्य लाभ कमाना है या समाज सेवा करना है, परन्तु एक व्यवसायी आधुनिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए लाभ उद्देश्य तथा मानवीय उद्देश्यों में एक अनुकुलतम संयोग निर्धारित करता है ।

फ्रेंक अब्राहम लिखते है कि, "व्यवसाय का उद्देश्य उसमें प्रत्यक्ष हित रखने वाले समूहों-अंशधारियों, कर्मचारियों, ग्राहकों तथा. समस्त जनता के हितों में समान तथा कार्यात्मक सन्तुलन स्थापित करता है । "व्यवसाय के उद्देश्यों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बांटा जा सकता है- 1. आर्थिक या लाभ उद्देश्य 2. सामाजिक या सेवा उद्देश्य, तथा 3 मानवीय उद्देश्य ।

1. आर्थिक उद्देश्य (Economic Objectives)

व्यवसाय का आधारभूत उद्देश्य है । इस उद्देश्य के अभाव में व्यवसाय के अन्य उद्देश्यों की पूर्ति ही सम्भव नहीं होती है । कुछ प्रमुख आर्थिक उद्देश्य निम्नलिखित है-

(i) उचित लाभ प्राप्त करना ।

(ii) उपक्रम की व्यावसायिक गतिविधियों का विकास एवं विस्तार करना ।

(iii) संतुष्ट ग्राहकों का सृजन करना । नवीनीकरण को अपनाना तथा वस्तुओं ओर सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार करना तथा इनकी लागतों को व्यावहारिक बनाये रखना ।

(iv) औद्योगिक संयंत्रों एवं उपकरणों का अधिकतम सदुपयोग करना ।

(v) संस्था की भुगतान क्षमता को बनाये रखना तथा संस्था का कुशलतापूर्वक संचालन करना।

2. सामाजिक उद्देश्य (Social Objectives)

व्यवसाय एक सामाजिक क्रिया है । व्यवसाय करने का अधिकार समाज से ही प्राप्त हुआ है, अत: व्यवसाय का प्रमुख दायित्व है कि वह समाज की आवश्यकताओं को प्राथमिता के साथ एव प्रभावी का से पूरा करे । व्यवसाय के कुछ प्रमुख सामाजिक उद्देश्य निम्नलिखित है :-

(i) ग्राहकों को अच्छा माल उचित कीमत पर प्रदान करना ।

(ii) देश के नागरिकों को पर्याप्त रोजगार के अवसर उपलब्ध करवाना ।

(iii) विनियोक्ताओं को विनियोजित पूँजी पर उचित प्रत्याय (Return) दिलवाना ।

(iv) समाज के साधनों का समुचित एवं संतुलित उपयोग करना ।

(v) समाज को व्यावसायिक दुराचारों जैसे मिलावट, जमाखोरी एवं कृत्रिम अभाव आदि से बचाना ।

(vi) समाज के कल्याण एवं उन्नति के लिए कार्य करना जिससे समाज के जीवन स्तर में वृद्धि होती है ।

(vii) पर्यावरण संरक्षण को बढ़ावा देना ताकि दूषित पर्यावरण से समाज को बचाया जा सके ।

3. मानवीय उद्देश्य (Human Objectives)

व्यवसाय में समरस कार्यो को अकेले व्यवसायी के द्वारा पूरा करना असम्भव होता है । व्यवसायिक संगठनों का आकार बढ़ा होने के कारण कर्मचारियों के सहयोग से कार्य सम्पन्न कराया जाता है । वास्तव में, किसी भी संस्था में कर्मचारियों की सन्तुष्टि उस संस्था का प्रमुख उद्देश्य होता हैं । कर्मचरियों की सन्तुष्टि ही उनकी कार्यक्षमता और उत्पादकता को प्रभावित करती है । कुछ महत्वपूर्ण मानवीय उद्देश्य इस प्रकार है -

(i) कर्मचारियों के साथ मानवीय व्यवहार करना एवं मानवोचित आदर देना ।

(ii) पर्याप्त वेतन एवं भत्ते प्रदान करना ।

(iii) कर्मचारियों हेतु अच्छा कार्य वातावरण एवं अच्छे औजार एवं उपकरण की व्यवस्था करना ।

(iv) संस्था के कर्मचारियों हेतु पर्याप्त विकास एवं पदोन्नति के अवसर प्रदान करना ।

(v) कर्मचारियों को रोजगार की सुरक्षा प्रदान करना ।

(vi) संस्था में सामाजिक सुरक्षा एवं श्रम कल्याण योजनाओं को अपनाना ।

(vii) कर्मचारियों को कार्य सन्तुष्टि प्रदान करना, सहयोग की भावना विकसित करना तथा उनके मनोबल में वृद्धि करना ।

1.2.3 व्यवसाय का क्षेत्र (Scope of Business)

व्यवसाय का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है । इसके कार्य क्षेत्र में विभिन्न आर्थिक क्रियाएँ सम्मिलित होती है, जो वस्तुओं के उत्पादन से पूर्व की क्रिया से प्रारम्भ होकर उसे अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचाने तक फैली हुई है । समस्त व्यवसायिक क्रियाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है:-

(i) उत्पादन सम्बन्धी कार्य जिन्हे 'उद्योग' कहा जाता है ।

(ii) व्यापार एवं व्यापार में सहायता पहुँचाने वाले कार्य, जिन्हे 'वाणिज्य' कहा जाता है ।

1.3 उद्योग (Industry)

उद्योग व्यावसायिक क्रियाओं का वह भाग है जिसमें वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है । प्राकृतिक साधनों से प्राप्त वस्तुओं का रूप परिवर्तन कर उनकों जनोपयोगी बना देने कि क्रिया 'उद्योग' कहलाती है । जैसे कच्चा लोहा और कपास का स्वरूप परिवर्तित करके इस्पात और कपड़ा तैयार करना । तब इन वस्तुओं का व्यापक उपयोग सम्भव हो जाता है । सरल शब्दों में, उपभोग योग्य वस्तुओं (Cunsumer Godds) तथा पूँजीगत वस्तुओं (Capital Goods)के उत्पादन हेतु कच्चे माल को पक्के माल में बदल देने की क्रिया को 'उद्योग' कहते है ।

उद्योगों का वर्गीकरण अथवा प्रकार

उद्योगो का वर्गीकरण निम्नलिखित आधारों पर किया जा सकता है-

1. **कार्य की प्रकृति के आधार पर**
   - (क) उत्पति अथवा जननिक उद्योग
   - (ख) निष्कर्षण उद्योग
   - (ग) निर्माणी उद्योग
   - (घ) रचनात्मक उद्योग
2. **स्वामित्व के आधार पर**
   - (क) सार्वजनिक या सरकारी क्षेत्र के उद्योग
   - (ख) निजी क्षेत्र के उद्योग
   - (ग) सहकारी क्षेत्र के उद्योग
   - (घ) संयुक्त क्षेत्र के उद्योग
3. **वस्तुओं की प्रकृति के आधार पर**
   - (क) उपभोक्ता वस्तु उद्योग
   - (ख) पूंजीगत वस्तु उद्योग
4. **कार्य क्षेत्र के आधार पर**
   - (क) स्थानीय उद्योग
   - (ख) राज्य-स्तरीय उद्योग
   - (ग) राष्ट्र-स्तरीय उद्योग

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग

5. कार्य के विस्तार के आधार पर

(क) छोटे पैमाने के उद्योग

(ख) बड़े पैमाने के उद्योग

यहां हम प्रथम वर्गीकरण के बारे में ही अधिक विस्तार से चर्चा करेंगे ।

(क) उत्पत्ति अथवा जननिक उद्योग (Genetic Industries)

इस प्रकार के उद्योग में कृषि, वनस्पति एवं पशुओं से सम्बन्धित उद्योग आते है जैसे पशुपालन, मुर्गीपालन, मछली पालन, बागवानी एवं कृषि कार्य । इन क्षेत्रों में नस्ल को सुधारकर एवं इनकी संख्या में वृद्धि करके विक्रय द्वारा लाभ कमाया जाता है ।

(ख) निष्कर्षण उद्योग (Extractive Industrices)

इस वर्ग में वे समरस मानवीय क्रियाएँ आ जाती है जो भूमि, वन, जल, आकाश एवं समुद्र आदि प्राकृतिक स्त्रोतों से कोई पदार्थ निकालने में लगी है जैसे वनो से लकड़ी काटना, खानों से विभिन्न खनिज पदार्थ निकालना तथा समुद्र से हीरा-पन्ना निकालना । ये पदार्थ कच्चे पदार्थों के रूप में होते है और इन्हें उपभोग योग्य बनाने के लिए निर्माणी उद्योग व रचनात्मक उद्योग अपने लिए प्रयोग में लेते है ।

(ग) निर्माणी उद्योग (Manufacturing Industries)

निर्माणी उद्योगों से तात्पर्य ऐसे उद्योगों से है जो वस्तुओं का रूप परिवर्तन कर देते है । दूसरे शब्दों में, जब कच्चे माल या अर्द्धनिर्मित माल को पक्के माल या उपभोग योग्य माल में परिवर्तित कर दिया जाये तो उसे 'निर्माणी उद्योग' कहते है । जैसे- लोहा एवं इस्पात उद्योग, कपडा उद्योग एवं चीनी उद्योग आदि ।

(घ) रचनात्मक उद्योग (Constructive Industries)

इसके अन्तर्गत वह उद्योग आते है जो सार्वजनिक हित के लिए स्थायी निर्माण कार्य करते है जैसे सडक, पुल, बाँध, नहरें, भवन आदि का निर्माण । इन उद्योगों की विशेषता यह पायी जाती है कि ये क्रियाएँ एक निश्चित स्थान पर सम्पन्न की जाती है और इन से निर्मित माल बाजार में बिकने के लिए नहीं आता है ।

1.4 वाणिज्य (Commerce)

वाणिज्यिक क्रियाएँ उद्योगों द्वारा उत्पादन कार्य पूर्ण कर लेने के पश्चात् प्रारम्भ होती है । वाणिज्य, उत्पादक एवं ग्राहक के मध्य की दूरी को पाटने का कार्य करता है । यह निम्न चित्र रो स्पष्ट है । उत्पादक वाणिज्य उपभोक्ता

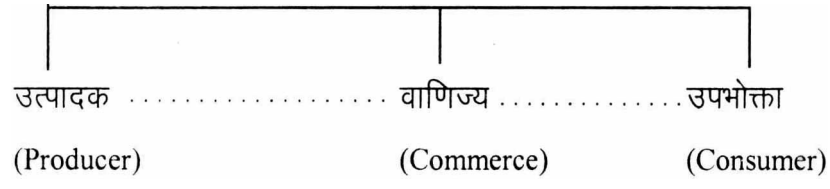

विस्तृत अर्थ में, वाणिज्य में उन समस्त क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जो वस्तुओं और सेवाओं के वितरण से सम्बन्धित है, ताकि वे उपभोक्ताओं तक न्यूनतम बाधा से पहुँच जाये ।

> **प्रो. जेम्स स्टीफेन्सन** के अनुसार, "वाणिज्य उन समस्त क्रियाओं का योग है जिनके द्वारा वस्तुओं के विनिमय में आने वाली व्यक्ति(व्यापार), स्थान (यातायात एवं बीमा), समय(भण्डारण) एवं वित्तीय(बैंकिग) सम्बन्धी बाधाओं को दूर किया जाता है ।"

उत्पादक से माल उपभोक्ताओं तक पहुँचने मे समय, स्थान, विनिमय, सूचना तथा व्यक्तिगत समस्याएँ या बाधाएँ आती है । वाणिज्य द्वारा इन समस्याओं को दूर करके उत्पादकों द्वारा उत्पादित माल को उपभोक्ताओं तक सरलता से पहुँचाया जाता है । इस प्रकार वाणिज्य में वस्तुओं के क्रय-विक्रय, जिसको हम व्यापार कहते हैं, के अतिरिक्त वे सब सहायक क्रियाएँ भी सम्मिलित की जाती है जो इस व्यापार को सम्भव बनाती है जैसे बैंकिंग, बीमा, परिवहन, सन्देशवाहन भण्डार व्यवस्था तथा विज्ञापन आदि ।

वाणिज्य = व्यापार + व्यापार में सहायक सेवाएँ

वाणिज्य क्रियाओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- 1. व्यापार एवं 2. व्यापार की सहायक क्रियाएँ ।

1.4.1 व्यापार (Trade)

व्यापार के अन्तर्गत लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से वस्तुओ और सेवाओं के क्रय-विक्रय को सम्मिलित किया जाता है । विस्तृत अर्थ में 'व्यापार' से आशय पारस्परिक लाभ या सन्तुष्टि के लिए वैधानिक क्रय-विक्रय अथवा विनिमय से है, इस क्रय-विक्रय कार्य में जो मध्यस्थ लोग संलग्न होते हैं, उनको व्यापारी कहा जाता है । मौटे तौर पर व्यापार को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है-

(i) देशी व्यापार, तथा (ii) विदेशी व्यापार

1. **देशी व्यापार (Home Trade) :** एक देश भौगोलिक एवं राजनैतिक सीमाओं मेन किया जाने वाला क्रय-विक्रय 'देशी व्यापार' कहलाता है । सरल शब्दों में, एक ही देश में रहने वाले क्रेताओं और विक्रेताओं के मध्य होने वाला 'देशी व्यापार' है । इसमें मूल्य का भुगतान उसी देश की प्रचलित मुद्रा में किया जाता है । देशी व्यापार निम्नलिखित तीन प्रकार का होता है

   (क) **स्थानीय व्यापार (Local Trade) :** ऐसा व्यापार जो एक शहर या कस्बे या एक सीमित क्षेत्र में ही होता है तो उसको 'स्थानीय व्यापार' कहा जाता है । उपभोक्ताओं की रोजमर्रा की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली एवं नाशवान वस्तुओं जैसे सब्जी, अण्डे, दूध, फल आदि का व्यापार प्राय: स्थानीय ही होता है ।

   (ख) **राज्य-स्तरीय व्यापार (State Level trade) :** जब व्यापार एक राज्य या प्रान्त की सीमाओं मे ही किया जाता है उदाहरणार्थ राजस्थान राज्य में स्थित विभिन्न स्थानों के मध्य होने वाला व्यापार 'प्रादेशिक व्यापार' होता है ।

(ग) **अन्तर्राज्यीय व्यापार (Inter State Trade) :** जब वस्तुओ के उत्पादक और उपभोक्ता अलग अलग राज्यों में रहते हो और वस्तु पूरे देश मे बेची जाती हो, तो उसे 'अन्तर्राज्यीय व्यापार' कहा जाता है । उदाहरणार्थ, राजस्थान व मध्य प्रदेश के बीच होने वाला व्यापार अन्तर्राज्यीय व्यापार कहलायेगा ।

2. विदेशी व्यापार (Foreign Trade) : जब किसी वस्तु के क्रय-विक्रय का क्षेत्र एक देश की राजनैतिक सीमाओं को पार करके दूसरे व अन्य देशों तक फैल जाता है तो उसे ''विदेशी व्यापार' कहा जाता है । उदाहरणार्थ, भारत की चाय रूस और ब्रिटेन के व्यापारी क्रय करते है, तो इसे विदेशी व्यापार कहा जाता है । विदेशी व्यापार को तीन भागों में बांटा जा सकता है - (क) आयात व्यापार, (ख) निर्यात व्यापार, तथा (ग) पुनर्निर्यात व्यापार ।

(क) **आयात व्यापार (Import Trade) :** जब एक देश दूसरे देश से अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएँ खरीदता है, तो उस देश के लिए 'आयात व्यापार' होगा । उदाहरण के लिए, भारत रूस से अस्त्र-शस्त्र क्रय करता है तो वह आयात व्यापार कहा जाता है ।

(ख) **निर्यात व्यापार (export Trade) :** जब कोई देश दूसरे देश को किसी वस्तु का विक्रय करता है, तो यह उस देश के लिए 'निर्यात व्यापार' कहा जायेगा । उदाहरण के लिए, भारत फांस को जूट का सामान बेचता है तो भारत के लिए यह निर्यात व्यापार है ।

(ग) **पुनर्निर्यात व्यापार (Re- Export Trade) :** जब एक देश किसी वस्तु का आयात इस उद्देश्य से करता है कि उसे इस आयातित माल को अन्य देश को भेजना है तो इसे 'पुनर्निर्यात व्यापार' कहा जाता है । उदाहरण के लिए, भारत द्वारा ईराक से पेट्रोलियम का आयात कर नेपाल को पेट्रोलियम का निर्यात किया जाये तो यह पुनर्निर्यात व्यापार होगा ।

1.4.2 व्यापार की सहायक क्रियाएँ (Aids to Trade):

व्यापार की सहायक क्रियाएँ ही व्यापार को सम्भव और सुविधाजनक बनाती है । व्यापार में आने वाली स्थान, जोखिम, समय, सूचना तथा वित्त सम्बन्धी बाधाओं को दूर करने हेतु जो सेवा कार्य किये जाते है, उन्हें व्यापार की 'सहायक क्रियाएँ' कहा जाता है ।

व्यापार की प्रमुख सहायक क्रियाएँ निम्नलिखित है :-

1. परिवहन (Transportation)

परिवहन द्वारा माल को उत्पादन स्थल से उन स्थानों पर पहुँचाया जाता है जहां उसकी मांग होती है अथवा उपभोक्ता निवास करते हैं । परिवहन द्वारा स्थान सम्बन्धी बाधा को दूर किया जाता है । आधुनिक समय मे सड़क यातायात, रेल, समुद्री जहाज आदि की सहायता से माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीघ्रता से पहुँचाया जा सकता है । परिवहन के साधनों के विस्तार से व्यापार का अधिक विस्तार सम्भव हुआ है ।

2. भण्डारण व्यवस्था (Ware Housing)

भण्डारण का उद्देश्य माल को उस समय तक सुरक्षित रखना है जब तक बाजार में उसकी मांग उत्पन्न न हो जाये । उत्पादित माल का तत्काल उपभोग सम्भव नहीं है अर्थात् उसके

उत्पादन और उपभोग में कुछ समय का अन्तराल होता है । इस ' समय' सम्बन्धी बाधा को भण्डारण व्यवस्था द्वारा दूर किया जाता है । उत्पादक माल को गोदामों मे संग्रहित करके रखते हैं और व्यापारियों को उनकी मांग के अनुसार पूर्ति करते रहते हैं ।

3. बीमा (Insurance)

माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजते समय मार्ग मे माल के नष्ट होने का भय हमेशा बना रहता है । इसी प्रकार माल गोदामों में संग्रहित करके रखा जाता है तो आग लगने अथवा चोरी होने की जोखिम बनी रहती है । बीमा कम्पनियाँ इन जोखिमों से सुरक्षा प्रदान कर व्यापारी की जोखिम थोड़े से प्रीमियम के बदले में स्वयं ले लेती है ।

4. सन्देशवाहन (Communication)

सन्देशवाहन व्यावसायिक क्रियाओं को अधिक सुगम बनाता है । व्यवसाय में समय अधिक महत्वपूर्ण होता है । सन्देशवाहन के आधुनिक साधनों ने भौगोलिक दूरी की समस्या को समाप्त कर दिया है । टेलीफोन, तार, पत्र व्यवहार एवं इन्टरनेट से क्रय-विक्रय के सौदे शीघ्रता से किया जाना सम्भव हुआ है ।

5. विज्ञापन (Advertising)

विज्ञापन द्वारा उत्पादक या व्यापारी अपने माल की जानकारी ग्राहकों क्रो प्रदान करते है । यह उपभोक्ता की ज्ञान सम्बन्धी बाधा को दूर करता है । विज्ञापन द्वारा नवनिर्मित वस्तुओं की जानकारी के साथ-साथ क्रय करने के लिए प्रेरित किया जाता है । ताकि माँग उत्पन्न की जा सके ।

6. बैंकिग (Banking)

बैंकिग क्रियाऐं व्यवसाय को विनिमय सम्बन्धी बाधाओं तथा वित्तीय कठिनाइयों को दूर करने में सहयोग प्रदान करती है । आधुनिक युग में बडे-बड़े उद्योग स्थापित करने के लिए बैंक तथा वित्तीय संस्थायें व्यावसायियों को ऋण उपलब्ध करवाती है । व्यापारियों द्वारा उधार खरीदे गये माल के भुगतान करने में भी बैंक सहायता प्रदान करता है ।

1.5 व्यवसायिक संगठन (Business Organisation)

किसी भी व्यवसाय के उद्देश्य चाहे कितने ही अच्छे क्यों न हो उन्हे उस समय तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि एक सही प्रकार के संगठन का निर्माण नहीं कर लिया जाता है । व्यवसाय की सफलता या असफलता इस बात पर निर्भर करती है कि व्यावसायिक संगठन की सरचना कितनी सुदृढ़ है । व्यवसाय में विभिन्न साधनों जैसे पूँजी, श्रम, कच्चा माल, मशीनरी आदि को एकत्रित करना होता है । इन साधनों की उपलब्ध ही पर्याप्त नही है । लक्ष्य प्राप्ति के लिए इन साधनों को समन्वित करके काम मे लाना जरूरी होता है ।

व्यावसायिक संगठन दो शब्दों व्यवसाय + संगठन का सम्मिश्रण है । व्यावसायिक संगठन का अर्थ जानने से पूर्व व्यवसाय एवं संगठन का अर्थ जानना आवश्यक है । व्यवसाय का अर्थ हम पूर्व में ही समझ चुके है । अत: यही पर 'संगठन' शब्द को समझना जरूरी है।

उर्विक के अनुसार, "किसी कार्य को सम्पादित करने के लिए किन-किन क्रियाओं को किया जाए, इसका निर्धारण करना एवं उन क्रियाओं का व्यक्तियों के बीच वितरण की व्यवस्था करना ही संगठन है । "

ओलिवर शेल्डन के शब्दों में, " संगठन कार्य के सम्मिश्रण की उस प्रक्रिया को कहते है जो कार्य व्यक्तियों तथा व्यक्तियों के समूह द्वारा उसके निष्पादन के लिए आवश्यक सुविधाओं की सहायता से पूरा किया जाना है ताकि उपलब्ध साधनों के कुशल, व्यवस्थित, सुनिश्चित तथा समन्वित प्रयोग के लिए सर्वश्रेष्ठ स्त्रोत प्रदान कर सकें । "

इस प्रकार व्यावसायिक संगठन का अर्थ है - निर्धारित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संस्था के साधनों जैसे मानव, पूँजी, यंत्र, कच्चा माल, श्रम आदि को जुटाना तथा इनके मध्य प्रभावी समन्वय स्थापित करना ताकि सभी व्यक्तियों की क्रियाओं को सही दिशा प्रदान की जा सकें। व्यवहार में व्यावसायिक संगठन शब्द निम्न दो अर्थो में ग्रहण किया गया है:-

(अ) **व्यावसायिक संगठन क्रिया में रूप में -** क्रिया के इस रूप में, व्यावसायिक संगठन से आशय व्यवसाय सम्बन्धी क्रियाओं के संचालन हेतु संगठन स्थापित करने से है । इस अर्थ में ' 'व्यावसायिक संगठन वह क्रियात्मक कला एवं विज्ञान है जो सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु समूह प्रयासों का पथ प्रदर्शन, नेतृत्व एवं नियंत्रण करता है । "

(ब) **व्यावसायिक संगठन संज्ञा के रूप में -** संज्ञा के रूप में, व्यावसायिक संगठन से आशय आर्थिक क्रियाओं का संचालन करने वाली संस्था से है । इस अर्थ मे, बाटा, डीसीएम, निरमा कम्पनी आदि व्यावसायिक संगठन है ।

व्यावसायिक संगठन के प्रारूप (Forms of Business Organisation)

व्यावसायिक संगठन के विभिन्न प्रकार एवं प्रारूप किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास के साथ प्रत्यक्ष रूप से अन्तर्सम्बन्धित होते है । व्यवसाय का स्वामित्व एवं प्रबन्ध किसी एक व्यक्ति के पास हो सकता हैं अथवा समूह के हाथों में भी हो सकता है । इस प्रकार आज कोई भी व्यवसायी जब कोई कारोबार प्रारम्भ करने का निर्णय लेता हैं तो उसके सामने सर्वप्रथम यह समस्या आती है कि वह व्यावसायिक संगठन के कौन से प्रारूप का चुनाव करे । हम मोटे रूप से स्वामित्व एव प्रबन्ध के आधार पर व्यावसायिक संगठनों को चार वर्गो में बॉट सकते है-

1. एकाकी स्वामित्व संगठन (Sole Proprietorship)
2. साझेदारी संगठन (Parthership Organisation)
3. कम्पनी (Company
4. सहकारी संगठन (Cooperative Organisation)

प्रथम दो वर्गो (एकाकी स्वामित्व संगठन तथा साझेदारी संगठन) को संगठन का ' 'गैर निगमित रूप' कहा जा सकता है तथा अन्य दो वर्गो (कम्पनी तथा सहकारी संगठन) को संगठन का 'निगमित रूप' कहा जा सकता है । संगठन के इन स्वरूपों का विस्तृत अध्ययन आप आगे की इकाईयों में करेगे ।

1.6 सारांश

मानवीय क्रियाओं को दो भागों में - (i) आर्थिक क्रिया तथा (ii) गैर आर्थिक क्रिया में विभक्त किया जा सकता है । व्यवसाय से आशय वस्तुओं और सेवाओं का आवश्यतानुसार उत्पादन तथा विनिमय से हैं, जिनका उद्देश्य ग्राहक सन्तुष्टि प्रदान करके लाभ अर्जित करना होता हैं । व्यवसाय के प्रमुख लक्षण इस प्रकार है - 1 व्यवसाय एक मानवीय तथा आर्थिक क्रिया है, 2. वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन अथवा विनिमय, 3 उत्पादन एवं विनिमय की निरन्तरता, 4. विनिमय द्वारा लाभ, 5 साहस एवं जोखिम, 6. वैधानिक क्रियाएँ, 7. सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति, तथा 8. विस्तृत कार्य क्षेत्र । व्यवसाय के उद्देश्यों को मोटे तौर से तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है -(i) आर्थिक या लाभ उद्देश्य, (ii) सामाजिक या सेवा उद्देश्य, तथा (iii) मानवीय उद्देश्य । व्यावसायिक क्षेत्र को दो भागों - (i) उद्योग तथा (ii) वाणिज्य में वर्गीकृत किया जा सकता है । उद्योग को प्रमुख 4 भागों में बांटा जा सकता है - (i) उत्पत्ति अथवा जननिक उद्योग, (ii) निष्कर्षण उद्योग, (iii) निर्माणी उद्योग, तथा (iv) रचनात्मक उद्योग । वाणिज्य की क्रियाओं को दो भागों में विभक्त किया गया है - (i) व्यापार तथा (ii) व्यापार की सहायक क्रियाएँ । व्यापार के अन्तर्गत क्रय और विक्रय सम्बन्धी कार्य सम्मिलित होते है । वे कार्य जो वस्तुओं और सेवाओं को उत्पादक से उपभोक्ता तक पहुंचाने में सहायता प्रदान करते है, व्यापार की सहायक क्रियाओं के अन्तर्गत सम्मिलित होते है । व्यापार की सहायक क्रियाओं में - (i) परिवहन, (ii) भण्डारण व्यवस्था, (iii) बीमा, (iv) सन्देशवाहन, (v) विज्ञापन (vi) बैंकिग सम्मिलित है ।

1.7 शब्दावली

बैंकिग	इसमें वे सभी कार्य आते हैं जो लोगो को धन जमा करवाने के लिए प्रोत्साहित करते हैं तथा जिन व्यक्तियों को ऐसे धन की जरूरत होती है उनको ऋण प्रदान करते है ।
वाणिज्य	वाणिज्य में वे समस्त क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं जो वस्तुओं और सेवाओं के क्रय विक्रय के साथ-साथ उन्हे उत्पादक से उपभोक्ताओं तक सुविधाजनक पहुंचाने में मदद करती हैं
आर्थिक कियाएँ	वे समस्त मानवीय कार्य जो धन अर्जित करने हेतु सम्पन्न किये जाते है।
निर्यात व्यापार	एक देश द्वारा अन्य देशों को माल का विक्रय करना ।
आयात व्यापार	किसी अन्य देश से अपनी जरूरत की चीजें खरीदना ।
बीमा	एक निश्चित प्रीमियम, बीमा कम्पनी को प्रदान करके व्यावसायिक हानि अथवा जोखिम से स्वयं को सुरक्षित रखना ।
भण्डारण	वस्तुओं को सुरक्षित रखना तथा उपभोक्ताओं को उनकी जरूरत के मुताबिक माल की पूर्ति बनाये रखना।
जननिक उद्योग	इसके अन्तर्गत वनस्पति या पशुओं की अच्छी नस्लों में प्रजनन करा

	कर उनकी संख्या को बढ़ाया जाता है, ताकि विक्रय द्वारा लाभ कमाया जा सकें ।
पुनर्निर्यात व्यापार	किसी देश द्वारा आयातित माल को किसी दूसरे देश को निर्यात करना ही पुनर्निर्यात व्यापार है ।
निष्कर्षण उद्योग	प्रकृति से प्राप्त संसाधन जैसे - पौधे, पेड़, खनिज पदार्थ, समुद्री पदार्थ आदि को नया रूप प्रदान करके उपयोगी बनाने वाले उद्योग ।
विज्ञापन	इसमें लोगो को क्रय हेतु प्रेरित करने की कला होती है तथा नवनिर्मित उत्पादों की जानकारी प्रदान करना भी इसका प्रमुख उद्देश्य है ।
पूँजीगत माल	ऐसा माल जिसका उपयोग भारी उद्योगों में किया जाता है जैसे - मशीने, उपकरण आदि ।
जोखिम	व्यावसायिक अनिश्चितताओं से प्राप्त हानि ही जोखिम है ।
साहस	जोखिम उठाने की क्षमता को ही साहस कहते है ।

1.8 प्रमुख उपयोगी पुस्तकें

(i) डॉ. आर.के. बजाज, डी.आर. सैनी एवं बी.एल. गुप्ता : **व्यावसायिक संगठन,** जयपुर, कैलाश बुक डिपो ।

(ii) जी.एल. जोशी, जी.एल.शर्मा एवं एल.एस.सी. जोशी ; **व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध,** दिल्ली,

(iii) श्री महावीर बुक डिपो ।

(iv) आर.सी. अग्रवाल : **व्यावसायिक संगठन,** जयपुर, कालेज बुक हाउस ।

(v) यदुकूल भूषण एवं ओपी अग्रवाल : **व्यावसायिक संगठन के सिद्धान्त,** नई दिल्ली, सुल्तान चन्द एण्ड रास ।

(vi) राठौड, लढ़ढा, जोशी. शर्मा : **व्यावसायिक संगठन,** शिवम् बुक हाउस प्रा.लि, जयपुर ।

1.9 स्वपरख प्रश्न

1. व्यवसाय से क्या आशय है? व्यवसाय की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये ।
2. व्यवसाय के प्रमुख उद्देश्यों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ।
3. उद्योग किसे कहते हैं ? इसके वर्गीकरण को उदाहरण सहित बताइये ।
4. वाणिज्य से आप क्या समझाते हैं ' वाणिज्य की विभिन्न क्रियाओं का संक्षेप में वर्णन कीजिए ।
5. व्यवसाय के क्षेत्र पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए ।
6. व्यावसायिक संगठन से क्या तात्पर्य है? व्यावसायिक संगठन के आधारभूत प्रारूप कौन से हैं?

इकाई 2 एकाकी संगठन, साझेदारी संगठन एवं सहकारी संगठन

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 एकल स्वामित्व संगठन
2.2.1 प्रमुख विशेषताएँ या लक्षण
2.2.2 लाभ व दोष
2.3 साझेदारी संगठन
2.3.1 प्रमुख विशेषताएँ
2.3.2 साझेदारी का वर्गीकरण
2.3.3 एकाकी व्यापार और साझेदारी में अन्तर
2.3.4 लाभ व दोष
2.4 कम्पनी संगठन
2.4.1 प्रमुख विशेषताएँ
2.4.2 कम्पनियों का वर्गीकरण
2.4.3 साझेदारी और कम्पनी प्रारूप में अन्तर
2.4.4 लाभ व दोष
2.5 सहकारी संगठन
2.5.1 प्रमुख विशेषताएँ
2.5.2 सहकारी समितियों का वर्गीकरण
2.5.3 लाभ व दोष
2.6 सारांश
2.7 शब्दावली
2.8 प्रमुख उपयोगी पुस्तकें
2.9 स्वपरख प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप -

- विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक संगठनों का आशय समझ सकेंगे ।
- प्रत्येक प्रकार के व्यावसायिक संगठनों की विशेषताएँ जान सकेंगे ।
- प्रत्येक व्यावसायिक संगठन के प्रकारों को समझ सकेंगे ।
- विभिन्न व्यावसायिक संगठनों के मध्य के भेद अथवा अन्तर को समझ सकेंगे ।
- प्रत्येक व्यावसायिक संगठन के लाभों एवं दोषों का वर्णन कर सकेंगे ।

2.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने पढ़ा है कि उपलब्ध साधनों का न्यूनतम व्यय पर अधिकतम सदुपयोग करने एवं व्यावसायिक क्रियाओं में सामंजस्य स्थापित करना, व्यावसायिक संगठन कहलाता है । वह व्यक्ति जो कारोबार शुरू करता है, पूँजी लगाता है, लाभों पर अधिकार प्राप्त करता है तथा जोखिम उठाता है, व्यवसाय का स्वामी कहलाता है । व्यावसायिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में एक ही व्यक्ति, व्यवसाय में पूँजी लगाता था, जोखिम वहन करता था और वह स्वयं ही व्यवसाय का प्रबन्ध एवं संचालन भी करता था । धीरे धीरे बड़े पैमाने पर उत्पादन होने तथा व्यवसाय के क्षेत्र में वृद्धि होने की कठिनाई के अतिरिक्त व्यवसाय के प्रबन्ध एवं संचालन की समस्या भी उत्पन्न होने लगी । इसके परिणास्वरूप साझेदारी, कम्पनी सहकारी संगठन, सरकारी एव संयुक्त क्षेत्र के संगठनों का प्रादुर्भाव हुआ । धन की उपलब्धता, चातुर्य एवं ज्ञान की सीमाओं तथा शारीरिक व मानसिक क्षमताओं की सीमितता आदि के कारण व्यक्ति या व्यक्तियों के साथ मिलकर व्यवसाय की स्थापना का निर्णय लेता है किन्तु कोई भी निर्णय लेने से पूर्व उसे व्यावसायिक संगठन के विभिन्न प्रारूपों के गुण-दोषों से परिचित होना आवश्यक है । यही पर आप व्यवसायिक संगठनों के विभिन्न स्वरूपों के लक्षण, वर्गीकरण, लाभ एवं दोष आदि की विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे । चित्र 2. 1 में व्यावसायिक संगठन के प्रमुख प्रारूपों को बताया गया है

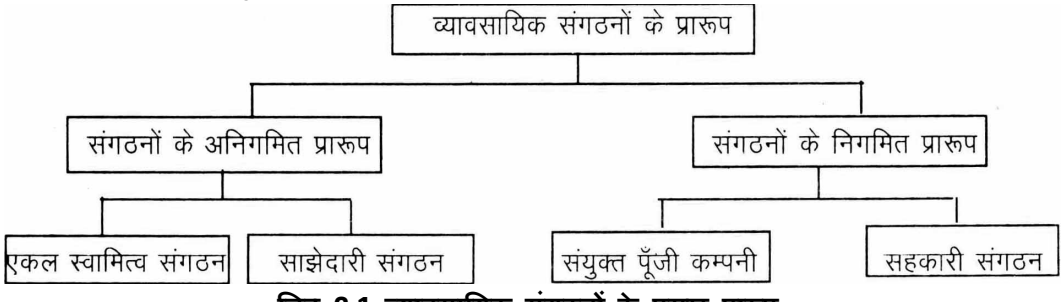

चित्र 2.1 व्यावसायिक संगठनों के प्रमुख प्रारूप

2.2 एकल स्वामित्व संगठन (Sole Proprietorship Organisation)

व्यावसायिक स्वामित्व के प्रारूपो में एकाकी व्यवसाय / व्यावसायिक संगठन सबसे प्राचीनतम एव आज भी विश्व में सबसे लोकप्रिय है । अन्य व्यावसायिक संगठनो की तुलना में इसकी स्थापना करना सरल है । इस व्यवसायिक संगठन का स्वामित्व, प्रबन्ध, संचालन एवं नियंत्रण एक ही व्यक्ति के पास होता है । वहीं व्यक्ति उस व्यवसाय की समस्त पूँजी की व्यवस्था अपने पास से अथवा अपने मित्रों या रिश्तेदारों से लेकर करता है । वह व्यक्ति अपने व्यवसाय का चयन स्वतंत्र रूप से कर सकता है तथा जब चाहे प्रारम्भ कर सकता है और जब चाहे बन्द कर सकता है । एकाकी व्यापार व्यवसाय में होने वाले लाभ हानियों के लिए स्वयं उत्तरदायी होता है । इसे एकाकी व्यापार (Sole Trading)एक ल साहसी (Individual Enterpreneur) एवं एकाकी स्वामित्व (Sole Ownership) आदि नामों से भी जाना जाता

है । विभिन्न विद्वानों ने एकाकी व्यापार की अपने अपने दृष्टिकोण से परिभाषाएँ दी है, वे निम्नलिखित है :-

लुईस एच. हेने के अनुसार, "एकाकी व्यवसाय, व्यावसायिक संगठन का वह स्वरूप है जिसका प्रमुख एक ही व्यक्ति होता है, जो उसके समस्त कार्यो के लिए उत्तरदायी होता है, उसकी समस्त क्रियाओं का संचालन करता है एवं लाभ हानि का सम्पूर्ण भार स्वयं ही उठाता है ।"

जे.एल. हैन्सन के शब्दों में, "एकाकी व्यापार एक प्रकार के कारोबार की इकाई है जिसमें वह व्यक्ति ही पूर्णरूप से पूँजी जुटाने तथा उद्यम की जोखिम उठाने तथा कारोबार का प्रबन्ध करने लिए उत्तरदायी होता है । "

व्हीलर के मतानुसार, " एकाकी व्यापार व्यावसायिक स्वामित्व का वह स्वरूप है जिसका स्वामित्व एवं नियंत्रण एक ही व्यक्ति के हाथों में होता है । वही व्यवसाय की सफलता या असफलता की दशा में लाभ एवं हानि को उठाता है । "

2.2.1 प्रमुख विशेषताएँ अथवा लक्षण (Main characteristics or Elements Of Sole Trade)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर एकाकी व्यापार की प्रमुख विशेषताएँ या लक्षण निम्नलिखित है : -

1. **एकल या व्यक्तिगत स्वामित्व :** इस व्यवसाय की समस्त सम्पतियों और पूँजी पर एक ही व्यक्ति का स्वामित्व होता है । उसमें अन्य कोई साझेदार या सहयोगी नहीं होता । समस्त पूँजी वह अपने स्तर पर एकत्रित करता है ।
2. **असीमित दायित्व :** एकाकी व्यवसायी का दायित्व असीमित होता है अर्थात हानियों का भुगतान व्यवसाय की सम्पतियों से पूरा न हो तो एकाकी व्यापारी को अपनी निजी सम्पत्ति से इन देनदारियों का भुगतान करना पड़ता है ।
3. **स्वामित्व और प्रबन्ध मे अलगाव नहीं :** इस प्रकार के संगठन में अन्य व्यावसायिक संगठनों की तरह स्वामित्व और प्रबन्ध में पृथकता देखने को नहीं मिलती है । एकाकी व्यापार में जो व्यक्ति स्वामी होता है वही उसका प्रबन्ध एवं संचालन का कार्य करता है ।
4. **कम वैधानिक औपचारिकताएँ :** साझेदार तथा कम्पनी के समान एकाकी व्यापार के लिए कोई अलग से अधिनियम नहीं बना हुआ है । एकाकी व्यापार की स्थापना करने में कम से कम वैधानिक औपचारिकताएँ पूरी करनी पडती है । कोई भी व्यक्ति अपनी पसन्द का कोई भी व्यवसाय प्रारम्भ कर सकता है । उसको व्यवसाय स्थापित करते समय जहाँ आवश्यक हो लाइसेन्स आदि लेने ही पड़ते है अन्यथा व्यवसाय स्थापित करने में कोई समस्या नहीं आती है ।.
5. **लाभ-हानि में अन्य हिस्सेदार न होना :** एकाकी व्यापार में जितना भी लाभ अर्जित किया जाता है, वह सम्पूर्ण लाभ उसे ही प्राप्त होता है । व्यवसाय में निहित जोखिम वह स्वयं ही उठाता है, अत: जो हानि होती है उसे एकाकी व्यापारी को ही वहन करना पडता है।

6. **पृथक अस्तित्व का अभाव :** एकाकी व्यापार व्यवसाय तथा उसके स्वामी के अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं होता है । व्यवसाय उस व्यवसाय की व्यक्तिगत सम्पत्ति ही मानी जाती है । व्यवसाय का अस्तित्व उस व्यावसायी के अस्तित्व से जुडा होता है ।
7. **अस्थायी अस्तित्व :** एकाकी व्यापार में समस्त कार्य एक ही व्यक्ति द्वारा सम्पन्न किया जाता है, अत: ऐसे व्यक्ति के दीर्घकालीन समय तक बीमार पडने पर या बाहर चले जाने पर या मृत्यु हो जाने पर व्यापार स्वत: ही बन्द हो जाता है ।
8. **सीमित कार्य क्षेत्र :** एकाकी व्यापार में सीमित पूँजी और सीमित प्रबन्धकीय योग्यता के कारण इसका कार्य क्षेत्र भी सीमित ही होता है । अत: एक व्यक्ति छोटे व्यवसाय का ही संचालन कुशलतापूर्वक कर सकता है ।
9. **कारोबार की स्वतन्त्रता :** एकाकी व्यवसाय में व्यवसायी अपने कारोबार का चयन स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है । वह अपनी पूँजी, योग्यता तथा रूचि के अनुरूप कोई भी व्यवसाय चुन सकता है । यदि सरकार ने किसी व्यवसाय पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगा रखा हो तो उसके लिए लाइसेंस या

2.2.2 लाभ व दोष

एकाकी व्यापार में निम्नलिखित लाभ और दोष या सीमाएँ पाई जाती है-

लाभ या गुण

1. **स्थापना एवं अन्त सरलता :** एकाकी व्यापार की स्थापना करते समय किसी प्रकार की वैधानिक औपचारिकताएँ नहीं करनी पडती है, अत: कोई भी व्यक्ति आसानी से इसकी स्थापना कर सकता है । व्यवसायी जब तक चाहे इसका संचालन कर सकता है और जब चाहे वैधानिक कठिनाई के बिना बन्द कर सकता है ।
2. **शीघ्र निर्णय:** एकाकी व्यापार में निर्णय लेने वाला व्यक्ति चूंकि एकाकी व्यवसायी स्वंय ही होता है अर्थात उसे दूसरे लोगो से सलाह लेने की आवश्यकता नहीं होती । इरा वजह से वह शीघ्रता से उचित निर्णय लेकर व्यावसायिक अवसर का फायदा उठा सकता है ।
3. **अधिक लोचशीलता :** बड़े व्यावसायिक संगठनों की तुलना में इस संगठन में परिरिथतियों के अनुरूप शीघ्र परिवर्तन करना सरल होता है । इस व्यवसाय के कार्य क्षेत्र को विस्तृत करना अथवा सीमित करने में कोई वैधानिक रूकावट नहीं होती है ।
4. **प्रत्यक्ष प्रेरणा :** इस संगठन से प्राप्त लाभों पर एकाकी व्यापारी का अधिकार होता है, अत: वह पूर्ण लगन के साथ परिश्रम करता है ताकि अधिकाधिक लाभ अर्जित कर सके । कार्यो में शिथिलता आने पर हानि भी उसी को वहन करनी होती है ।
5. **समन्वय और नियंत्रण में सुविधा :** व्यवसाय का कार्य क्षेत्र छोटा होता है तथा एक ही व्यक्ति सम्पूर्ण व्यवसाय का संचालन करता है एवं समस्त निर्णय स्वयं ही लेता है । अत: सभी क्रियाएँ पूर्ण समन्वित और नियंत्रित रहती है ।
6. **प्रत्यक्ष सम्पर्क :** व्यवसाय का क्षेत्र छोटा होने के कारण एकाकी व्यापारी अपने ग्राहकों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आता है, जिससे उसे अपने ग्राहको की रूचि और आवश्यकताओं की जानकारी प्राप्त करने में मदद मिलती हैं । इसका फायदा यह होता है कि अपने

क्रियाकलापों में परिवर्तन कर ग्राहक को सन्तुष्टि प्रदान की जा सकती है । इस प्रकार के संगठन में यदि कुछ कर्मचारी कार्यरत हो तो उनसे भी सीधा सम्पर्क होता रहता है । इससे व्यवसाय में कर्मचारियों से मधुर संबंध बनाने में सहायता मिलती है ।

7. **गोपनीयता :** व्यवसाय में लिए जाने वाले निर्णय यदि गोपनीय नहीं रखे जाते है तो उसका लाभ प्रतिस्पर्धी संस्था उठा लेगी । एकाकी व्यापारी अकेला निर्णय लेने वाला व्यक्ति होता है अत अन्य किसी भी व्यक्ति को लिये गये निर्णयों की जानकारी नही होती है ।
8. **पैतृक ख्याति का लाभ :** एकाकी व्यापार पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है इसलिए पूर्वजो द्वारा अर्जित ख्याति का लाभ इसे मिल जाता है । इस ख्याति के कारण व्यवसायी को ऋण मिलने तथा उधार पर माल मिलने में सुविधा रहती है।

दोष या सीमाएँ

1. **सीमित वित्तीय साधन :** एकाकी व्यापारी अकेला व्यक्ति होने के कारण उसके द्वारा पूँजी जुटाने की क्षमता कम हो जाती है। स्वयं के पास भी पूँजी कम होती है और एक ही व्यक्ति होने के कारण ऋण भी कम मात्रा में मिल पाता है, परिणामस्वरूप आधुनिक मशीनों एवं उपकरणों का उपयोग करना तथा व्यवसाय को विस्तार दे पाना कठिन कार्य हो जाता है ।
2. **सीमित प्रबन्धकीय योग्यता :** प्रत्येक छोटे बड़े व्यवसाय की सफलता उसके कुशल प्रबन्ध एवं संचालन पर निर्भर करती है । एक व्यक्ति भी योग्य क्यों न हो उसे व्यवसाय के विभिन्न क्षेत्रों का पूर्ण ज्ञान हो यह जरूरी नही है । इसके अतिरिक्त व्यवसाय में एक व्यक्ति द्वारा लिए गए निर्णय ठोस और उपयुक्त नही पाये जाते ।
3. **असीमित दायित्व :** एकाकी व्यापारी का दायित्व असीमित होता है अर्थात व्यवसाय से उत्पन्न देनदारियों अथवा हानियों के लिए उसकी निजी सम्पत्ति का प्रयोग किया जा सकता है । निरन्तर अथवा भारी हानि होने पर एकाकी व्यापारी बर्बाद हो सकता है अत: बड़ी जोखिम उठाने के लिए वह साहस नहीं कर पाता है ।
4. **अस्थायी अस्तित्व :** एकाकी व्यापार में व्यावसाय का अस्तित्व उसके स्वामी से जुडा रहता है । इसमें व्यवसायी की मृत्यु होने अथवा पागल होने पर व्यवसाय बन्द करना पडता है ।
5. **अनुपस्थिति में हानि :** यदि एकाकी व्यापारी अस्वस्थ हो जाये या अन्य कार्य से बाहर चला जाता है जो स्वाभाविक है तो उसकी इस अनुपस्थिति में व्यवसाय बन्द रखना पडता है । इससे व्यवसाय को तो नुकसान होगा ही, साथ साथ ग्राहकों को भी परेशानी उठानी पडती है ।
6. **उतावले निर्णय :** एक व्यक्ति की तुलना में समूह द्वारा लिये गये निर्णय अधिक सही होते है । जहाँ एक ओर शीघ्र निर्णय लेकर व्यापारिक अवसरों का लाभ उठाया जाता है, वहीं जल्दबाजी में गलत निर्णय लिये जाने का भी डर बना रहता है।
7. **बड़े पैमाने के व्यवसाय के लिए उपयुक्त नहीं :** सीमित पूँजी और सीमित प्रबन्धकीय क्षमता के कारण बडे पैमाने के व्यवसाय के लिए यह व्यावसायिक प्रारूप उपयुक्त नहीं होता है

। एकाकी व्यापार छोटे पैमाने पर चलाये जाने वाले कारोबार के लिए ही उपयुक्त रहता है ।

8. **विशिष्टीकरण के लाभ से वंचित :** विशिष्टीकरण में योग्यता और निपुणता के अनुरूप व्यक्तियों को कार्य दिया जाता है । एकाकी व्यापार में समस्त कार्य अकेले व्यक्ति द्वारा किया जाता है, अत: वह एक कार्य में दक्षता प्राप्त नहीं कर पाता है । इससे एकाकी व्यापार को विशिष्टीकरण एवं श्रम विभाजन के लाभों से वंचित रहना पडता है ।

2.3 साझेदारी संगठन (Partnership Organisation)

एकाकी व्यापार की प्रमुख सीमाएँ जैसे सीमित पूँजी, प्रबन्ध एवं संचालन करने की सीमित प्रबन्धकीय क्षमता तथा बड़े पैमाने के व्यवसाय की जोखिम वहन करने में असमर्थता के कारण साझेदारी प्रारूप का विकास हुआ । एकाकी व्यापार के विस्तार में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से एक से अधिक व्यवसायी मिलकर व्यवसाय का संचालन करने लगे । एक व्यक्ति के पास पूँजी होती है तो व्यावसायिक कौशल की कमी हो सकती है तथा अन्य व्यावसायिक कौशल वाले व्यक्तियों के पास पूँजी का अभाव हो सकता है । इस पूँजी तथा व्यावसायिक कौशल के श्रेष्ठतम मिश्रण द्वारा कारोबार का संचालन करने के लिए कुछ व्यक्ति साथ मिलकर व्यवसाय करने लगे । इस प्रकार अधिक पूँजी एकत्रित करने, अधिक योग्यता से व्यवसाय का प्रबन्ध करने, एकाकी व्यवसायी के दोषों से मुक्ति पाने तथा विकासशील व्यवसाय के संचालन के लिए साझेदारी व्यवसाय का उद्गम हुआ है ।

साझेदारी का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Partnership)

सामान्य अर्थों में साझेदारी से आशय दो या दो अधिक व्यक्ति आपस में मिलकर सामूहिक रूप से अपनी पूँजी एवं श्रम लगाकर किसी व्यवसाय का संचालन करते है और उस व्यवसाय से होने वाले लाभों को आपस मे बाँटते है ।

> **विलियम आर. स्प्रीगल** के शब्दों मे, "साझेदारी दो या दो अधिक सदस्यों की संस्था है जिसमें प्रत्येक सदस्य साझेदारी के कार्यो के लिए उत्तरदायी होता है । प्रत्येक साझेदार दूसरों को अपने कार्यो से सम्पत्ति को फर्म के ऋणों के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है ।"
>
> **गर्स्टन बर्ग** के अनुसार, " सामान्य साझेदारी व्यावसायिक संगठन का वह स्वरूप है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति सह-स्वामियों के साथ में लाभ के लिए व्यवसाय चलाते है ।"
>
> **भारतीय साझेदारी अधिनियम, 1982 की धारा 4** के अनुसार, " साझेदारी उन व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध को कहते है जो एक ऐसे व्यापार के लाभों को आपस में बाँटने के लिए सहमत हुए हों, जिसे वे सब या उन सब की ओर से कार्य करते हुए उनमें से कोई एक व्यक्ति चलाता हो।"

उपयुक्त परिभाषाओं के आधार पर हम यह कह सकते है कि **"साझेदारी दो या दो से अधिक व्यक्तियों की वह संस्था है जिसका निर्माण आपसी समझौते द्वारा होता है, जो सभी के द्वारा संचालित या सभी की ओर से किसी एक द्वारा संचालित कारोबार का लाभ आपस में बाँटने**

के लिए सहमत होते है ।" साझेदारी व्यवसाय के स्वामी, व्यक्तिगत रूप से साझेदार कहलाते है तथा सामूहिक रूप से फर्म या साझेदारी फर्म ।

2.3.1 साझेदारी के प्रमुख लक्षण अथवा विशेषताएँ

उपयुक्त परिभाषाओं के आधार पर साझेदारी संगठन के प्रमुख लक्षण इस प्रकार है

1. दो या दो से अधिक व्यक्तियों का होना

साझेदारी की स्थापना के लिए कम से कम दो व्यक्तियों का होना अनिवार्य होता है । फर्म में साझेदारों की अधिकतम संख्या सामान्य कारोबार मे 20 और बैकिग कारोबार मे 10 तक हो सकती है ।

2. ठहराव का होना

साझेदारी की उत्पत्ति उन व्यक्तियों के बीच हुए समझौते से उत्पन होती है । धारा 5 के अनुसार "साझेदारी का जन्म अनुबन्ध से होता है किसी स्थिति के कारण नही ।" यह ठहराव लिखित, मौखिक अथवा गर्भित हो सकता है ।

3. कारोबार या व्यवसाय का होना

किसी भी साझेदारी के लिए वैद्य कारोबार का होना आवश्यक है । क्योंकि कुछ व्यक्तियों का समूह जिसका उद्देश्य कारोबार करना नहीं है, उसे साझेदारी नही कहा जा सकता ।

4. लाभ का आपस में बँटवारा

साझेदारी का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना तथा उसे आपस में बाँटना होता है । केवंल कल्याण या परोपकार के उद्देश्य से कुछ व्यक्तियों का समूह साझेदारी नही माना जात सकता । लाभ का बँटवारा पूँजी के अनुपात मे अथवा साझेदारी संलेख के आधार पर किया जा सकता है ।

5. कारोबार का संचालन

साझेदारी का संचालन एवं प्रबन्ध समस्त साझेदारों द्वारा अथवा उनकी सहमति से किसी एक साझेदार द्वारा किया जा सकता है । अत: यह कहा जा सकता कि यदि कोई साझेदार कारोबार प्रबन्ध में प्रत्यक्ष यप से भाग न ले तो भी वह साझेदार माना जायेगा ।

6. प्रत्येक साझेदार फर्म का एजेन्ट व मालिक होता है

प्रत्येक साझेदार का दोहरा रूप होता है । वह फर्म का साझेदारों के साथ मालिक तथा कार्यो के लिए एजेन्ट भी होता है क्योंकि उसके द्वारा किये गये फर्म संबंधी कार्यो के लिए उत्तरदायी होता है ।

7. असीमित दायित्व

फर्म में प्रत्येक साझेदार का दायित्व असीमित होता है अर्थात् संस्था के ऋणों के भुगतान के लिए उसकी निजी सम्पत्ति भी काम में लायी जा सकती है । एक साझेदार का दायित्व वैयक्तिक एवं सामूहिक दोनो प्रकार का होता है । अर्थात वह अपने स्वयं के हिस्से का ऋण चुकाने के अतिरिक्त फर्म के समस्त ऋण की राशि का भुगतान करने के लिए भी बाध्य किया जा सकता है ।

8. पारस्परिक सद्-विश्वास

साझेदारी की सफलता साझेदारों की सद्भावना एवं सद्विश्वास पर ही निर्भर करती है । प्रत्येक साझेदार को ईमानदारी, निष्ठा और वफादारी से कार्य करना चाहिए । व्यक्तिगत स्वार्थ को महत्व नही देना चाहिए ।

9. हित-हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध

साझेदारी फर्म में कोई भी साझेदार अपने हित का हस्तान्तरण अन्य समस्त साझेदारों की सहमति के बिना नहीं कर सकता है ।

10. साझेदारी का अस्तित्व

साझेदारी का अस्तित्व साझेदारों पर निर्भर करता है । यदि सभी साझेदार पृथक हो जाते है अथवा कोई साझेदार अनुबन्ध करने के अयोग्य हो जाता है (पागल या दिवालीया हो जाने पर) तो साझेदारी का भी अन्त हो जाता है ।

2.3.2 साझेदारों के प्रकार (Kind of Partners)

साझेदारों के विभिन्न आधारों पर निम्न प्रमुख प्रकार है

(I) दायित्व के आधार पर

1. **साधारण साझेदार** (General Partner) : इस साझेदार का दायित्व असीमित होता है तथा फर्म के ऋणों को चुकाने के लिए इसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति को काम में लिया जा सकता है । यह फर्म के प्रबन्ध संचालन में सक्रिय भाग लेता है ।
2. **सीमित साझेदार** (Limited Partner) : इस साझेदार का दायित्व उसके द्वारा फर्म में लगायी गयी पूँजी तक ही सीमित होता है । वह फर्म की प्रबन्ध व्यवस्था में सक्रिय भाग नहीं ले सकता है, उसे फर्म का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार नहीं होता है तथा वह अन्य साझेदारों को अपने कार्य से बाध्य नही कर सकता है ।

(II) कार्य के आधार पर

1. **सक्रिय साझेदार** (Active or Working Partner) : ऐसे साझेदार जो फर्म के प्रबन्ध व संचालन में सक्रिय भाग लेते है, 'सक्रिय साझेदार' कहलाते है । इनके कार्यो से फर्म बाध्य होती है तथा ये फर्म के प्रति उत्तरदायी होते है ।
2. **निष्क्रिय अथवा सुषुप्त साझेदार** (Sleeping and Dormant Partner) : ऐसा व्यक्ति जो फर्म को पूँजी देता है और लाभ-हानि में हिस्सा बँटाता है, लेकिन फर्म के संचालन में भाग नही लेता वह निष्किय साझेदार कहलाता है । वह अन्य साझेदारों की भाँति ही फर्म के कार्य के लिए उत्तरदायी होता है । इसके द्वारा निवृत होने की सूचना देना आवश्यक नहीं है ।

(III)सम्बंध अथवा स्थिति आधार पर

1. **नाम मात्र का साझेदार** (Nominal Partner) : यह साझेदार फर्म में न तो पूँजी लगाता है और न ही फर्म की प्रबन्ध व्यवस्था में भाग लेता है किन्तु यह फर्म को अपने नाम का उपयोग करने की अनुमति देता है ताकि फर्म उसकी ख्याति का लाभ उठा सकें। इस प्रकार के साझेदार को फर्म के लाभों में भाग नही मिलता । परन्तु यह फर्म के कार्यो के लिए अन्य पक्षों के प्रति पूर्ण जिम्मेदार होता है ।

2. **केवल लाभ में साझेदार** (Partner in profit only) : यह वह साझेदार है जो केवल फर्म के लाभो में हिस्सा प्राप्त करने का अधिकारी होता है लेकिन फर्म की हानि में भाग नही लेता । ऐसे साझेदार को प्रबन्ध एवं संचालन में भाग लेनें का अधिकार नहीं होता । यह साझेदार अन्य साझेदारों की भाँति अन्य पक्षों के प्रति पूर्ण उत्तरदायी होता है ।
3. **उप साझेदार** (Sub- Partner) जब कोई साझेदार फर्म से प्राप्त अपने हिस्से के लाभ को किसी अन्य व्यक्ति के साथ विभाजित करने का अनुबन्ध करता है, तो वह उप साझेदार कहलायेगा । ऐसा उप साझेदार फर्म या अन्य पक्षों से कोई संबंध नही रखता है ।
4. **गत्यावरोध अथवा प्रदर्शन द्वारा साझेदार** (Partner by Estoppel or Holding Out) : यद्यपि साझेदारी की उत्पत्ति का आधार साझेदारी ठहराव होता है, किन्तु कभी कभी पक्षकारों के आचरण के द्वारा भी साझेदारी का निर्माण हो जाता है ।

भारतीय साझेदारी अधिनियम, 1932 की धारा 28 के अनुसार, "यदि कोई व्यक्ति मौखिक अथवा लिखित शब्दो द्वारा अथवा अपने आचरण से ऐसा कोई प्रदर्शन अथवा कार्य करता है जिससे दूसरे व्यक्तियों को यह विश्वास हो जाता है कि वह अमुक फर्म मे साझेदार है जबकि वास्तव मे साझेदार नहीं होता है, और इस विश्वास पर ऐसा अन्य व्यक्ति अथवा तीसरा पक्षकार फर्म से कोई ऋण दे देते है तो ऐसा प्रदर्शन करने वाला व्यक्ति इन ऋणदाताओं द्वारा फर्म को दिये गये ऋणों के भुगतान के प्रति उत्तरदायी होता है । ऐसे प्रदर्शन करने वाले व्यक्ति को 'गत्यावरोध' अथवा 'प्रदर्शन' द्वारा साझेदार कहा जाता है ।"

साझेदारी की कसौटी या साझेदारी की विद्यमानता का निर्णय (Test of Partnership)

प्राय: यह निश्चित करना कठिन होता है कि दो या दो से अधिक व्यक्तियों का समूह साझेदारी है या नही ? यह ज्ञात करने के लिए जो मापदण्ड अथवा रीति अपनाई जाती है, वह साझेदारी की कसौटी कहलाती है । बहुत सी परिस्थितियाँ ऐसी होती है कि कुछ व्यक्तियों को साझेदार मान लिया जाता है लेकिन वास्तव में वे साझेदार नहीं होते ।

वास्तव में साझेदारी का निर्णय पक्षकारों के लिखित एवं मौखिक , अनुबन्ध की परिस्थितियों, पक्षकारों के सम्पति पर नियंत्रण अधिकार लेखा व्यवस्था, लाभ हानि के विभाजन के अधिकार आदि बातों पर विचार करके ही किया जा सकता है । साझेदारी अधिनियम की धारा 4, 5 और 6 इस संबंध में महत्वपूर्ण है जिसके आधार पर साझेदारी की विद्यमानता का फैसला किया जा सकता है ।

धारा 4 के अनुसार. साझेदारी उन व्यक्तियों का पारस्परिक संबंध है जो किसी ऐसे कारोबार के लाभो को बाँटने के लिए सहमत हुए है जिनका संचालन सभी या सभी की ओर से किसी एक साझेदार द्वारा किया जाता है ।" इस धारा के अनुसार साझेदारी की कसौटी के निम्नलिखित आधार है

(i) पारस्परिक ठहराव का होना ।

(ii) कारोबार का होना ।

(iii) लाभ कमाने का उद्देश्य ।

(iv) लाभ का आपस में बाँटना ।

(v) कारोबार का उन सब के द्वारा या उनकी तरफ से किसी एक से अधिक के द्वारा चलाया जाना अर्थात पारस्परिक एजेन्सी का संबंध होना

धारा 5 के अनुसार. साझेदारी का संबंध अनुबन्ध से उत्पन्न होता है न कि किसी स्थिति से । " इसके अनुसार साझेदारों के मध्य ठहराव का होना आवश्यक है । धारा 5 में यह स्पष्ट किया गया है कि निम्नलिखित व्यक्तियों को साझेदार नहीं माना जाता -

(i) संयुक्त हिन्दू परिवार के सदस्य जो पारिवारिक व्यापार चलाते है ।

(ii) बर्मा के बौद्ध पति-पत्नि द्वारा किया जाने कल व्यापार ।

धारा 6 के अनुसार, "यह निश्चित करने में कि कई व्यक्तियों का समूह फर्म है या नहीं अथवा कई व्यक्ति फर्म मे साझेदार है या नही, पक्षकारों के बीच वास्तविक संबंध (Real Relation) को देखना होगा, जो समस्त संबंधित तथ्यों (Facts) पर एक साथ विचार करने पर प्रकट हो सकता है ।"

किसी सम्पति में संयुक्त या सामान्य हित रखने वाले लोगो के द्वारा इस सम्पति के लाभ या समस्त आमदनी में हिस्सा बंटाना स्वत: ऐसे लोगो को साझेदार नही बना देता । **साझेदारी के लाभों में हिस्सा करना ही साझेदारी का निश्चयात्मक प्रमाण नही है-** यह तथ्य सही है कि साझेदार द्वारा लाभ में से हिस्सा बँटाना साझेदारी का महत्वपूर्ण साक्ष्य है किन्तु 1860 मे **कॉक्स बनाम हिकमैन** के मामले में यह निर्णय दिया गया कि लाभों में हिस्सा प्राप्त करना ही साझेदारी होने का प्रमाण नही है **। इंगलैण्ड के हाउस ऑफ लार्डस** ने लिखा है कि "**प्रत्येक व्यक्ति जो फर्म के लाभों में हिस्सा प्राप्त करता है निश्चित रूप से फर्म का साझेदार नही कहा जा सकता है ।"**

भारतीय साझेदारी अधिनियम की धारा 6(2) के स्पष्टीकरण से जिनमें लाभों में हिस्सा प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को भी साझेदारी फर्म का साझेदार नही माना गया । वे दशाएँ निम्नलिखित है

(i) फर्म के ऋणदाता, जिन्होनें फर्म को पूँजी उधार देते समय लाभ में से हिस्सा प्राप्त करना स्वीकार किया है ।

(ii) किसी सेवक या एजेन्ट के द्वारा मेहनताने के रूप में लाभ में हिस्सा प्राप्त करना ।

(iii) किसी मृत साझेदार की विधवा पत्नी या सन्तान जिन्हे वार्षिकी के रूप में फर्म के लाभ मे हिस्सा मिलता है।

(iv) व्यापार के पूर्ण स्वामी के द्वारा अपने हिस्से या ख्याति के विक्रय के प्रतिफल के रूप में लाभ में से हिस्सा प्राप्त करना।

(v) जब किसी सम्पति के सह-स्वामी सम्पति से प्राप्त होने वाली आय का पारस्परिक बँटवारा करते है तो वे भी साझेदार नहीं माने जा सकते है ।

उदाहरण : दो व्यक्ति किसी मकान के सह-स्वामी है, 8000 रूपये वार्षिक किराये पर चलाते है और आय को आपस में बराबर बराबर बाँट लेते है । वे साझेदार नहीं माने जा सकते क्योंकि वे व्यापार नहीं चलाते है ।

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि केवल साझेदारी के लाभों में हिस्सा पाना मात्र ही साझेदारी होने की पहचान नहीं है । यह सत्य है कि फर्म के लाभों में हिस्सा बँटाये बिना साझेदारी हो ही नही सकती, परन्तु लाभ में हिस्सा प्राप्त करने मात्र से ही साझेदारी नहीं बन सकती । **साझेदारी की सही कसौटी साझेदारों के मध्य एजेन्सी संबंधों का विद्यमान होना है ।** साझेदारी फर्म में प्रत्येक का दोहरा रूप होता है अर्थात स्वामी और एजेन्ट के रूप में । एक साझेदार द्वारा फर्म के लाभ से किये गये कार्यो के लिए अन्य साझेदारों को बाध्य करना तथा अन्य साझेदारों के कार्य से स्वयं आवद्ध होना । यदि एक साझेदार द्वारा किये गये कार्यों से दूसरे साझेदार बाध्य नही होते है तो उसे साझेदारी नहीं माना जा सकता है ।

2.3.3 साझेदारी एवं एकाकी व्यापार में अन्तर

(Difference between Partnership and Sole Trade)

साझेदारी और एकाकी व्यापार में निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर अन्तर स्पष्ट कर सकते है

1. **वैधानिक नियमन :** साझेदारी का नियमन भारतीय साझेदारी अधिनियम, 1932 के अन्तर्गत होता है । एकाकी व्यापार हेतु कोई विशिष्ट अधिनियम नही है ।
2. **सदस्यता :** साझेदारी में सदस्यो की कम से कम संख्या 2 होती है तथा अधिकतम संख्या बैंकिग व्यवसाय में 10 तथा सामान्य व्यवसाय में 20 होती है ।
3. **अनुबन्ध :** साझेदारी की स्थापना साझेदारों के मध्य अनुबन्ध द्वारा होती है, अत: लिखित या मौखिक अनुबन्ध आवश्यक है । एकाकी व्यापार में एक व्यक्ति होने के कारण अनुबन्ध का प्रश्न ही नही उठता है ।
4. **प्रबन्ध में हिस्सा लेना :** फर्म के प्रबन्ध एव संचालन में सभी साझेदारों द्वारा भाग लेना उनकी इच्छा पर निर्भर करता है जो आपस में समझौते द्वारा तय कर लिया जाता है । एकाकी व्यापार में व्यवसाय का प्रबन्ध एवं संचालन स्वयं को ही करना पडता है ।
5. **कार्य क्षेत्र :** साझेदारी में सदस्यों की संख्या अधिक होने तथा वित्तीय साधन अधिक होने के कारण व्यवसाय का अधिक विस्तृत क्षेत्र होता है । एकाकी व्यवसाय का सीमित अथवा छोटा क्षेत्र होता है ।
6. **हित हस्तान्तरण :** साझेदारी में अन्य सभी साझेदारों की पूर्व अनुमति के बिना कोई भी साझेदार अपने हित का हस्तान्तरण नहीं कर सकता है । एकाकी व्यापारी अपने हित का हस्तान्तरण करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है ।
7. **अनुपस्थिति में हानि :** साझेदारी में किसी साझेदार की अनुपस्थिति में अन्य दूसरा साझेदार व्यवसाय को संभाल लेता है अत: हानि नहीं हो पाती है । एकाकी व्यापार में अकेला व्यक्ति होने के कारण व्यवसाय बन्द हो जाता है और नुकसान होता है।

8. **गोपनीयता :** साझेदारी में अधिक सदस्य होने के कारण व्यावसायिक रहस्य अधिक गोपनीय नही रह पाते है । एकाकी व्यापार में पूर्ण गोपनीयता बनी रहती हैं ।
9. **लचीलापन :** साझेदारी संलेख में सभी साझेदारों की सहमति ' से परिवर्तन करके व्यवसाय के आकार प्रकार में बदलाव लाया जा सकता है । एकाकी व्यापार अधिक लचीला संगठन है, इसमें व्यवसाय परिर्वतन करने के किसी प्रकार की औपचारिकता की आवश्यकता नही होती है ।

2.3.4 लाभ एवं दोष

आपने साझेदारी के लक्षणों स बारे में अध्ययन किया हैं। इस अध्ययन से आपको साझेदारी का लाभ एवं दोषों को जानने में सहायता मिलेगी।

लाभ या गुण

1. **स्थापना में सुगमता :** साझेदारी की स्थापना के लिए कोई विशेष औपचारिकताएँ पूरी नही करनी पडती है । समझौते या अनुबन्ध का निर्माण करके दो या दो से अधिक व्यक्ति व्यवसाय को प्रारम्भ कर सकते है ।
2. **अधिक वित्तीय साधन :** एकाकी व्यापारी की तुलना में साझेदारी में पूँजी प्राप्ति के साधन बढ़ जाते है । साझेदारों की संख्या अधिक होने के कारण वे अपनी हिस्सा राशि साथ में लाते है तथा ऋण लेने की क्षमता में भी वृद्धि हो जाती है।
3. **सन्तुलित निर्णय :** फर्म मे सभी साझेदार प्रमुख समस्याओं पर आपस में विचार विमर्श करने के पश्चात निर्णय लेते है । प्रत्येक साझेदार अलग अलग योग्यता और अनुभव रखने वाले व्यक्ति होते है । अत: इनके द्वारा सर्वसम्मति से लिए गये निर्णय अधिक ठोस और सन्तुलित होते है ।
4. **प्रबन्धकीय कौशल में वृद्धि :** फर्म के प्रबन्ध एवं संचालन में सभी साझेदार हिस्सा ले सकते है, अत: उनमे योग्यता और अनुभव के आधार पर कार्य का बँटवारा किया जा सकता है, जिससे प्रबन्धकीय कौशल मे वृद्धि होती है ।
5. **गोपनीयता :** साझेदारी फर्म में निर्णय लेन और उनकी क्रियान्विति साझेदारों द्वारा स्वयं की जाती है, अत: व्यावसायिक रहस्य साझेदारों तक ही सीमित रहते है । इसके अतिरिक्त फर्म के खातो को भी प्रकाशित करना अनिवार्य नहीं है ।
6. **लोचशीलता साझेदारी :** व्यवसाय के आकार में कमी या वृद्धि. करने पर किसी प्रकार की वैधानिक औपचारिकताएँ पूरी नही करनी पडती है । साझेदार सर्वसम्मति से फर्म के उद्देश्य, क्षेत्र, पूँजी तथा साझेदारों की संख्या मे कमी या वृद्धि कर सकते है ।
7. **लोकतन्त्रीय संगठन :** साझेदारी संगठन के समान साझेदारों को अपना मत व्यक्त करने की पूरी आजादी होती है । सभी साझेदारों की सर्वसम्मति से ही व्यवसाय से संबंधित निर्णय लिये जाते है।
8. **अधिक कार्य करने लिए प्रेरणा :** फर्म मे होने वाले लाभ हानि का साझेदारों के हितों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है । अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए सभी साझेदार लगन एवं परिश्रम

से कार्य करते है । इसके विपरीत वे अपने कार्यो में पूर्ण सतर्कता बरतते है ताकि नुकसान न हो सकें ।

9. **अनुपस्थिति में व्यवसाय का संचालन :** किसी साझेदार के बार चले जाने एवं अस्वस्थ हो जाने के कारण एकाकी व्यापार के समान व्यवसाय का कार्य रूकता नहीं है । किसी साझेदार की अनुप स्थिति में अन्य साझेदार कारोबार को संभाल लेते है, अत: किसी प्रकार का नुकसान नहीं होता है ।
10. **समापन में सरलता :** साझेदारी का समापन या विघटन भी उतनी सरलता से किया जा सकता है, जितनी सरलता से इसकी स्थापना की जा सकती है । सभी साझेदार आपसी सहमति से साझेदारी को समाप्त करने का निर्णय ले सकते है । इसके समापन के समय कोई भी वैधानिक औपचारिकताएँ पूरी नही करनी पडती है ।

दोष या सीमाएँ

1. **सीमित वित्तीय साधन :** साझेदारी में सदस्यों की अधिकतम संख्या पर पाबन्दी लगी हुई होती है । बैंकिग व्यवसाय में 10 तथा सामान्य व्यवसाय में 20 तक ही साझेदार होते है । अत: कम्पनी की तुलना में साझेदारी में पूँजी प्राप्त करने की क्षमता कम होती है।
2. **असीमित उत्तरदायित्व:** साझेदारी फर्म में साझेदारो का दायित्व असीमित होता है । इससे साझेदारों को हमेशा भय बना रहता है कि फर्म के व्यवसाय में हानि होने पर उसकी निजी सम्पतियों का प्रयोग भी ऋणों का भुगतान करने के लिए किया जा सकता है । इस प्रकार साझेदारी में पूँजी लगाते हुए व्यवसायी हिचकिचाते है ।
3. **हित हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध:** कोई भी साझेदार अन्य साझेदारों की अनुमति के बिना अपना हित या हिस्से को अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित नहीं कर सकता है । किसी आकस्मिक संकट के समय या व्यावसायिक रूझान में परिर्वतन के कारण अपना हित हस्तान्तरण करने के लिए स्वतंत्र नही होता है । इसी कारण से लोग साझेदारी की बजाय कम्पनी में अपनी पूँजी विनियोजित करते हैं।
4. **स्थायी अस्तित्व न होना:** किसी साझेदार की आकस्मिक मृत्यु होने, दिवालिया होने तथा पागल होने पर साझेदारी का अनिवार्य रूप से समापन हो जाता है । इसके अतिरिक्त साझेदारों के मध्य मतभेद अधिक बढ जाने पर भी साझेदारी को समाप्त करने का निर्णय लेना पडता है । इस प्रकार की अनिश्चितता के फलस्वरूप व्यावसायिक विकास पर प्रतिकूल असर पडता है ।
5. **शीघ्र निर्णय का अभाव:** साझेदारी में महत्वपूर्ण निर्णय सर्वसम्मति से लिये जाते है । साझेदारों के मध्य किसी न किसी बात को लेकर मतभेद उभरते रहते है । इसी कारण साझेदारों में एकमत होने मे कठिनाई आती है और निर्णय लेने मे देरी हो जाती है, जिससे व्यावसायिक अवसर हाथ से निकल जाते है ।
6. **संदेह को जन्म :** साझेदारी फर्म को लेखे एवं वार्षिक रिपोर्ट कम्पनी संगठन की तरह प्रकाशित नहीं करवानी पडती है । इससे फर्म के बारे में बाहरी पक्षों को पूर्ण जानकारी नही मिल पाती है और वे कभी कभी फर्म को सन्देह की दृष्टि से देखने लगते हैं ।

7. **साझेदारों में अपेक्षित योग्यताओं का अभाव:** साझेदारी व्यवसाय की सफलता हेतु आवश्यक है कि साझेदारों में व्यावसायिक योग्यता, ईमानदारी, आपसी सदविश्वास एवं सहयोग की भावना आदि गुणों का पाया जाना जरूरी है । सभी साझेदारों में इन सभी गुणों का पाया जाना सम्भव नही होता है । इससे साझेदारी व्यवसाय अधिक सफलता से संचालित नहीं हो पाता है ।
8. **गोपनीयता भंग होने का भय :** सभी साझेदारों के सामने निर्णय लेने से कोई भी साझेदार व्यवसायिक रहस्यों की जानकारी बाहरी लोगों को दे सकता है । इस वजह से गोपनीयता बनाये रखना मुश्किल होती है ।

2.5 सहकारी संगठन (Coperative Organisation)

सहकारी संगठनों का प्रादुर्भाव पूँजीवाद के दोषों से मुक्ति प्राप्त करने एवं आर्थिक रूप से कमजोर वर्गो के हितो की सुरक्षा के लिए हुआ । सहकारिता 'एक सबके लिए तथा सब एक के लिए' के सिद्धान्त पर आधारित है जिसमें सामूहिक हितों को महत्व दिया जाता हैं तथा व्यक्तिगत लाभ की भावना गौण होती है । सहकारी संगठन की कुछेक प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार है -

एच. कलवर्ट के अनुसार, "सहकारिता एक ऐसा संगठन है जिसमें व्यक्ति मनुष्य की तरह स्वेच्छापूर्वक समानता के आधार पर स्वयं के आर्थिक हितो में वृद्धि के उद्देश्य से संगठित होते है ।"

प्रो. पॉल लेम्बर्ट के शब्दों में, "एक सहकारी संस्था एक ऐसी संस्था है जो उपभोक्ताओं के संघ द्वारा संगठित एवं निर्देशित की जाती है । इसके अन्तर्गत लोकतन्त्र के नियम लागू होते है और इसका उद्देश्य अपने सदस्यों तथा सम्पूर्ण समाज की सेवा करना होता है । "

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार, "सहकारी संगठन उन व्यक्तियों का एक ऐसा संगठन है जिनके साधन प्राय: सीमित होते है और जो प्रजातान्त्रिक ढंग से नियंत्रित व्यावसायिक संगठन की स्थापना करके समान आर्थिक लक्ष्य की उपलब्धि के लिए स्वेच्छा से एकत्रित होते है, उसके लिए अपेक्षित पूँजी परस्पर उचित अनुपात में एकत्रित करते है तथा व्यवसाय में निहित जोखिम व उससे प्राप्त लाभ को परस्पर उचित अनुपात मे बाँटने के लिए सहमत होते है । "

उक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि सहकारी संगठन स्वैच्छिक संगठन है जिसमें लोग अपने समान हितों के संवर्द्धन के लिए अपनी इच्छा से एक साथ मिलते है ।

2.5.1 प्रमुख विशेषताएँ

सहकारी संगठन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है :-

1. **स्वैच्छिक संगठन:** सहकारी संगठन में एक सामान्य उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए समान रूचि और आवश्यकता वाले लोग अपना संघ बना लेते है जिसको वे स्वच्छापूर्वक कभी भी छोड़ सकते हैं ।

2. **प्रजातान्त्रिक प्रबन्ध :** इस क्षेत्र के- संगठनों का प्रबन्ध प्रजातन्त्र के नियमों के आधार पर किया जाता है । एक व्यक्ति एक मत (One Man One Vote) के सिद्धान्त इसमें लागू होता है, चाहे उनके पास कितने ही शेयर क्यों न हो । सहकारी संगठन के सभी सदस्य मिलकर एक साधारण सभा बनाते है । साधारण सभा को महत्वपूर्ण निर्णय लेने आदि और नीतियाँ बनाने का अधिकार होता है । साधारण सभा ही प्रबन्ध कार्यकारणी का चुनाव करती है ।
3. **स्थायित्वता तथा सवायत्ता :** सहकारी संगठन का अस्तित्व कम्पनी संगठन की तरह अपने सदस्यों से पृथक और स्वतन्त्र होता है । सदस्यों के आने और जाने का सहकारी संगठन के अस्तित्व पर कोई फर्क नही पड़ता । सहकारी समिति अधिनियम, 1912 या राज्य सहकारी अधिनियम के अन्तर्गत स्वत: प्रबन्ध करने वाला यह संगठन होता है । अपने क्षेत्राधिकार के अन्दर यह आत्मनिर्भर होता है ।
4. **वित्त व्यवस्था :** सहकारी क्षेत्रों के उपक्रमों की वित्त व्यवस्था सदस्यों के योगदान, केन्द्र सरकार और राज्य सरकार द्वारा दिया गया अनुदान एवं सरकारी ऋणों की सहायता से की जाती है ।
5. **सरकार द्वारा नियमन एवं नियंत्रण :** इस क्षेत्र के अन्तर्गत कार्य करने वाले संगठनों को सहकारी समिति अधिनियम, 1912 या राज्य सहकारी अधिनियमों के अन्तर्गत पंजीकरण कराना होता है । सहकारी समितियों को इन अधिनियमों में वर्णित प्रावधानों के अन्तर्गत कार्य करना होता हैं ।
6. **लाभ उद्देश्य नही :** सहकारी क्षेत्र के उपक्रमों का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना न होकर सेवा करना होता है । पारस्परिक सहयोग एवं नैतिकता को पर्याप्त महत्व दिया जाता हैं । "प्रत्येक सबके लिए तथा सब प्रत्येक के लिए" का सिद्धान्त सहकारी क्षेत्र की क्रियाओं का सर्वोपरि मार्गदर्शक सिद्धान्त होता है ।
7. **विभिन्न स्वरूप :** सहकारी संगठन उनके सदस्यों के प्रकृति तथा हितों के अनुसार ही भिन्न भिन्न प्रकार के हो सकते है । इसमे उपभोक्ता सहकारी संगठन, उत्पादक सहकारी संगठन, विपणन सहकारी संगठन, सेवा सहकारी समितियाँ, गृह निर्माण सहकारी समितियाँ आदि प्रमुख है ।
8. **लाभ का विभाजन :** सहकारी संगठन में लाभ का बँटवारा सदस्यों के बीच किया जाता है । सहकारी समिति अधिनियम द्वारा निर्धारित की गई 9 प्रतिशत लाभांश की दर ही अंशधारियों को प्रदान की जाती है ।
9. **अन्य विशेषताएँ**
   (i) इन संगठनों में प्राय: नगद लेनदेन होता है ।
   (ii) इसमें सदस्यों का दायित्व प्राय: सीमित होता है ।
   (iii) सहकारिता में अंशो का हस्तान्तरण प्रतिबन्धित रूप में होता है ।
   (iv) ये संगठन अपने भो का वितरण सदस्यों द्वारा संगठन के माध्यम से किये गये क्रय या विक्रय के आधार पर करते है।

(v) संहकारिता एक विश्वव्यापी आन्दोलन है ।

2.5.2 सहकारी समितियों का वर्गीकरण

भारत में व्यावसायिक तथा औद्योगिक क्षेत्र में पाई जाने वाली सहकारी समितियों के मुख्य प्रकार निम्नलिखित है -

1. **उपभोक्ता सहकारी समितियाँ** (Consomers Co- operative Societies) : एक समान आवश्यकताओं वाले उपभोक्ता संगठित होकर अपने हस्से की थोडी- थोडी पूँजी लगाकर सहकारी उपभोक्ता भण्डार की स्थापना करते हैं यह भण्डार सीधे उत्पादकों से माल खरीद कर सही कीमत पर सदस्य उपभोक्ताओं को उपलब्ध कराता है उपभोक्ता सहकारी समिति का उद्देश्य उपभोक्ताओं को मध्यस्थों के शोषण से बचाना तथा उत्तम किस्म की वस्तु, उचित मूल्य पर प्रदान कराना होता है ।
2. **उत्पादन सहकारी समितियाँ** (Producor's Co- operatives) : इनकी स्थापना छोटे उत्पादको, दस्तकारों तथा कारीगरों द्वारा की जाती है । इन सहकारी समितियों का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों को कच्चा माल उपलब्ध कराना, आवश्यक उपकरण या मशीनरी प्रदान कराना, तकनीकी सलाह तथा इनके द्वारा उत्पादित माल हेतु इन्हे बाजार उपलब्ध कराना होता है । लघु उत्पादकों का शोषण इन समितियों के द्वारा रोका जा सकता है।
3. **सहकारी साख समितियाँ** (Credit Societies) : इस सहकारी समिति की स्थापना ऐसे लोगो द्वारा की जाती है जिनके पास पूँजी सीमित मात्रा में होती है तथा अपना व्यवसाय चलाने के लिए पूँजी की आवश्यकता निरन्तर बनी रहती है । सहकारी साख समितियाँ अपने सदस्यों को उचित एवं सस्ती ब्याज दर पर ऋण उपलब्ध करवाती है । यह ऋण अल्पकालीन, मध्यकालीन और दीर्घकालीन समायावधि हेतु दिया जाता है ।
   सहकारी साख समितियाँ भी दो प्रकार की होती है
   (i) **ग्रामीण सहकारी साख समिति,** जो ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करने वाले किसानों, छोटे दुकानदारों एवं श्रमिकों को ऋण देती है ।
   (ii) **शहरी सहकारी साख समिति,** जो शहरी क्षेत्र में रहने वाले मजदूरों, पान वाले तथा खोमचे वाले आदि छोटे उद्यमियो को ऋण देती है ।
4. **विपणन सहकारी समितियाँ** (Co- operative Marketing Societies) : इन समितियो की स्थापना लघु एव कुटीर उद्योग चलाने वाले व्यक्तियों तथा छोटे कृषकों आदि के द्वारा की जाती है । विपणन सहकारी समितियों के अन्तर्गत सदस्यों द्वारा उत्पादित माल को बिचौलियों के शोषण से मुक्ति दिलाने हेतु सामूहिक रूप से बेचने का काम किया जाता है ।
5. **सहकारी गृह-निर्माण समितियाँ** (Co- operative Societies) : शहरी क्षेत्रों के व्यक्तियों द्वारा इसका गठन किया जाता है जो अकेले अपने वित्तीय साधनों रो आवास की समस्या का समाधान नही कर सकते है । ये समितियाँ अपने सदस्यों के लिए सस्ती दर पर जमीन खरीदती है, उनका विकास करती है और कम लागत पर मकान बनवाकर प्रदान करती है । समिति आपने सदस्यों को आवासीय ऋण भी उपलब्ध कराती है ।

6. **सहकारी कृषि समितियाँ** (Co-operatove Farmaing Societies) : छोटे एवं गरीब किसानों को लाभ पहुँचाने के लिए इस प्रकार की समितियों का निर्माण किया जाता है । इसके अन्तर्गत सामूहिक रूप से मिलकर किसान खेती करते है और समस्याओं का मिलकर समाधान करते है । यह समस्याएँ सिंचाई, अच्छा बीज, खाद, आधुनिक औजार एवं कीटनाशक दवाईयाँ आदि से संबंधित होती है । इस समिति का उद्देश्य कम साधनों से अधिक से अधिक कृषि उत्पादन करना है।

उपयुक्त प्रमुख सहकारी समिमियों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार की सहकारी समितियाँ भी होती है जो सदस्यों की आवश्यकताओं के आधार पर स्थापित की जाती है - सहकारी दुग्ध एवं डेयरी समितियाँ, श्रम समितियाँ, मत्स्य समितियाँ, परिवहन समितियाँ, सेवा समितियाँ आदि ।

2.5.3 सहकारी संगठन के लाभ व दोष लाभ

लाभ :

सहकारी संगठन के प्रमुख लाभ निम्नलिखित है -

1. **सेवा भावना को प्रोत्साहन :** सहकारी संगठन सेवा भावना से प्रेरित होकर कार्य करते हैं । इन संगठनों का उद्देश्य लाभ कमान नहीं होता है । सहकारिता सदस्यों के मध्य भाई चारे और सहयोग की भावना को जागत करती है ।
2. **न्यूनतम लागत पर अच्छी वस्तुओं की उपलब्धि :** सहकारी समितियाँ मध्यस्थों को वितरण श्रृंखला से हटा देते है और सीधे उत्पादकों से माल खरीद कर उन्हे कम कीमत पर अपने सदस्यों को उपलब्ध कराते है । इसके अतिरिक्त संचालन में मितव्ययता और सेवा उद्देश्य के कारण भी वस्तुएँ सस्ती प्राप्त होती है ।
3. **मितव्ययता :** सहकारी संगठनों के कारण व्यवसाय में मितव्ययता लायी जा सकती है । इनमें अनावश्यक विज्ञापन, सजावट, कमीशन आदि का स्थान नही होता है । फलत: इनसे मितव्ययता प्राप्त की जा सकती है ।
4. **सुगम स्थापना :** सहकारी संगठनों की स्थापना करने के लिए कम्पनी संगठन की तुलना मे अधिक वैधानिक औपचारिकताओं का पालन नही करना पडता है सहकारी संगठन स्वैच्छिक रूप से लोगो द्वारा बनाया संघ है जिसका सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार के कार्यालय में पंजीयन कराया जा सकता है ।
5. **व्यावसायिक बुराईयों की समाप्ति :** सहकारी क्षेत्र के कारण व्यावसायिक क्षेत्र में उत्पन्न अनेक बुराइयाँ जैसे मिलावट, जमाखोरी, कालाबाजारी एवं भ्रष्टाचार आदि में कमी लाई जा सकती हैं ।
6. **सरकारी सहायता :** सहकारी क्षेत्र को सरकार ने अपनी आर्थिक नीति का एक अंग माना है । अत: इन समितियों को केन्द्र सरकार और राज्य सरकार द्वारा वित्तीय सहायता, अनुदान और सस्ते ब्याज दर पर ऋण उपलब्ध कराया जाता है । सहायता के कारण सहकारी समितयों की वित्तीय स्थिति सुदृढ़ बनी रहती है ।

7. **स्वावलम्बन :** सहकारिता के प्रादुर्भाव का यह भी लाभ हुआ हैं कि दलित एवं कमजोर वर्ग के लोग मिलकर इसके माध्यम से अपनी आजीविका का साधन स्वयं प्राप्त कर सकने में समर्थ हुए हैं । इस प्रकार सहकारी संगठन व्यक्तियों के द्वारा मिलजुल कर और परस्पर सहयोग के आधार पर चलाये जाते है ।
8. **वर्ग संघर्ष की समाप्ति :** सहकारी समिति का सदस्य जाति, धर्म और आर्थिक स्थिति के आधार पर नहीं बनाये जाते बल्कि कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से सदस्य बन सकता है । सहकारी क्षेत्र वर्ग संघर्ष को समाप्त करता है क्योंकि आर्थिक क्रियाओं के स्वामित्व एवं प्रबन्ध में अलगाव नही होता है ।
9. **लघु उद्योगो एवं कारीगरों की सुरक्षा :** सहकारी संगठन लघु उद्योगो तथा कारीगरों को विशेष सुरक्षा प्रदान करते है । ये उद्योग या कारीगर अपने लिए आवश्यक सामग्री उचित मूल्य पर प्राप्त कर सकते है । इसी प्रकार अपनी विपणन समितियों के माध्यक से उचित मूल्य भी प्राप्त कर सकते है ।

दोष : सहकारी क्षेत्र के प्रमुख दोष और सीमाएँ निम्नलिखित है -

1. **अकुशल प्रबन्ध :** सहकारी क्षेत्र के उपक्रमों का प्रबन्ध सामान्यतया उन सदस्य व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जिनमें व्यावसायिक ज्ञान तथा प्रकन्धकीय योग्यता का प्राय: अभाव ही पाया जाता है । वे अनावश्यक हस्तक्षेप करते है और अपने स्वार्थो की सिद्धि के लिए अकार्यकुशल कार्यकारणी का चयन कर लेते है जिससे सहकारी संगठन को हानियाँ उठानी पडती है ।
2. **कुछ ही व्यक्तियों का प्रभुत्व :** सहकारी संगठनों की असफलता का एक बडा कारण यह रहा है कि इन पर कुछ ही प्रभावशाली तत्वों का प्रभुत्व रहा है । सहकारी क्षेत्र की संस्थाओं का नेतृत्व प्राय: हारे हुए या असन्तुष्ट राजनीतिज्ञों के हाथों में होता है जो अपने स्वार्थ के लिए इनके कार्य करते है । फलत: सामान्य व्यक्ति के हितो की अवहेलना होने लगी और ये संगठन असफल होने लगे ।
3. **सहकारिक भावना का अभाव :** सहकारिक भावना जो कि इस क्षेत्र की आत्मा है उसके अभाव का दोष भी इनमें पाया जाता है । सहकारी क्षेत्र की अधिकांश संस्थाओं के सदस्यों मे आपसी कलह या विवाद की विद्यमानता के कारण सामान्य हित में कार्य नही हो पाता है ।
4. **प्रत्यक्ष प्रेरणा का अभाव :** सदस्यों को विनियोजित पूँजी पर प्रतिफल या लाभ की मात्रा बहुत कम प्राप्त होती है अत: सहकारी संगठन के सदस्य पूर्ण निष्ठा एवं लगन रो कार्य में रूचि नही लेते है ।
5. **समन्वय का अभाव :** सहकारी संगठन के सदस्यों के मध्य एवं विभिन्न सहकारी समितियों के मध्य समन्वय और सामंजस्य का अभाव पाया जाता है । इसके अतिरिक्त सहकारी क्षेत्र के कार्यक्रमो का बिखराव बहुत अधिक है फलस्वरूप इनका समुचित लाभ नही मिल पाता है ।

6. **सरकारी हस्तक्षेप :** हिसाब किताब एवं लेखा परीक्षण मे सरकारी नियमों के पालन करने एवं पंजीयन के आदेशों की पालना करना आवश्यक होने के कारण सरकारी पदाधिकारियों के अनावश्यक हस्तक्षेप का नुकसान इस क्षेत्र को उठाना पडता है ।
7. **पक्षपात एवं भ्रष्टाचार :** सहकारी संगठन भ्रष्टाचार और पक्षपात के केन्द्र बिन्दु बन गये है । इनके प्रबन्धकगण प्राय: अपने हित के पक्षपात करते है । इतना ही नही, इन रिश्वतखोरी, अपव्यय नियमों की अवहेलना आदि के आरोप भी अनेक बार लगाये जाते है ।
8. **गोपनीयता का अभाव :** सभी सदस्यों को इसके कार्यो की विस्तृत जानकारी रहती है तथा इनकी आवश्यक दस्तावेजों एवं खातों तक पहुँच होने के कारण व्यावसायिक रहस्यों को गुप्त नही रखा जा सकता है ।

2.6 सारांश

स्वामित्व और प्रबन्ध के आधार पर व्यावसायिक संगठन को हम प्रमुख रूप से चार प्रारूप में विभक्त कर सकते है - (i) एकल स्वामित्व संगठन, (ii) साझेदारी संगठन, (iii) कम्पनी संगठन, तथा (iv) सहकारी संगठन ।

एकाकी व्यापार व्यवसायिक संगठन का वह प्रारूप है जिसमें व्यावसायिक उपक्रम का प्रबन्ध एवं संचालन एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाता है, वही व्यक्ति उसमें पूँजी लगाता है और समस्त व्यावसायिक जोखिमों को वहन करता है । छोटे व्यवसायों का संचालन आज भी बहुतायत रूप से इसी स्वरूप में हो रहा है । इस प्रारूप के प्रमुख लाभ है - स्थापना और समापन मे सरलता, नियन्त्रण और गोपनीयता बनाये रखने में कठिनाई नही, कम लागत, व्यवसाय के चुनाव एवं परिवर्तन मे स्वतन्त्रता आदि । एकाकी व्यापार के महत्वपूर्ण दोष है - असीमित दायित्व, सीमित मात्रा में पूँजी एवं प्रबन्धकीय कौशल, अस्थायी अस्तित्व, उतावले निर्णय एवं बड़े पैमाने के व्यवसाय के लिए अनुपयुक्त आदि ।

साझेदारी व्यवसाय के अन्तर्गत दो या दो से अधिक व्यक्ति स्वेच्छा रो आपस में मिलकर किसी व्यवसाय मे पूँजी लगाते है । वे सब या उन सब की ओर से कुछ व्यक्ति उस व्यवसाय को संचालित करते है । उस व्यवसाय से प्राप्त लात व हानि को साझेदार आपस में बाँटते है । साझेदारी के लाभ है - अधिक वित्तीय साधन, सन्तुलित एवं ठोस निर्णय, अनुपस्थिति में कारोबार का संचालन, प्रबन्ध में कुशलता एवं अधिक स्थायित्व आदि । साझेदारी के दोष है- असीमित दायित्व, हित हस्तान्तरण में कठिनाई, अस्थायी अस्तित्व, साझेदारों में मदभेद की सम्भावना एवं शीध्र निर्णय का अभाव आदि ।

एकाकी व्यापार और साझेदारी के दोषो के कारण कम्पनी जैसे संगठन को जना दिया है । कम्पनी विधान द्वारा निर्मित एक सामामेलित संस्था है जिसका अपना पृथक एवं वैधानिक अस्तित्व होता है, सामान्यत: जिसका दायित्व सीमित एवं उसकी एक सार्वमुद्रा भी होती है।

कम्पनी की प्रमुख विशेषताएँ है (i) ऐच्छिक एव समामेलित संघ, (ii) विधान द्वारा निर्मित कृत्रिम व्यक्ति, (iii) पृथक वैधानिक अस्तित्व, (iv) सीमित दायित्व, (v) सार्वमुद्रा

(iv) स्थायी अस्तित्व, (vii) स्वामित्व एवं प्रबन्ध में पृथकता, (viii) अंशो की हस्तान्तरणीयता आदि ।

कम्पनी के विभिन्न प्रकारों को निगमन के आधार पर, दायित्व के आधार पर, संगठन के आधार पर एवं नियंत्रण के आधार पर वर्गीकृत कर सकते है । कम्पनी के लाभ एवं गुण प्रमुख रूप से इस प्रकार है - (i) स्थायी अस्तित्व, (ii) सीमित दायित्व, (iii) अधिक वित्तीय साधन, (iv) शेयरों के हस्तान्तरण की सुविधा, (v) बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ, (vi) पेशेवर प्रबन्धकों की सेवाओं का लाभ, (vii) विकास एवं विस्तार की सम्भावनाएँ, (viii) जोखिम का विभाजन आदि ।

कम्पनी संगठन के दोष या सीमाएँ जो इस प्रकार है- (i) स्थापना में कठिनाई, (ii) आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण, (iii) गोपनीयता का अभाव, (iv) प्रेरणा का अभाव, (v) लघु एवं कुटीर उद्योगों पर बुरा प्रभाव, (vi) अधिक सरकारी हस्तक्षेप, (vii) प्रवर्तकों द्वारा कपट आदि ।

2.7 शब्दावली

असीमित दायित्व	संस्था की देनदारियों या हानि के लिए निजी अथवा व्यक्तिगत सम्पति का प्रयोग किया जा सकता है । इसे ही असीमित दायित्व माना जाता हैं ।
साझेदार	फर्मसाझेदारी संस्था में जो व्यक्ति सदस्य होते है, व्यक्तिगत रूप से 'साझेदार' कहलाते है ।
फर्म	साझेदारों के सामूहिक रूप को 'फर्म' कहा जाता है ।
नाममात्र का साझेदार	एक ऐसा साझेदार जो न तो फर्म में पूँजी लगाता है और न ही उसके प्रबन्ध एवं संचालन में भाग लेता है, किन्तु अपने नाम व ख्याति का प्रयोग करने देता है ।
साझेदारी समझौता	साझेदारों के मध्य मौखिक अथवा लिखित ठहराव या समझौता जिसमें साझेदारी का निर्माण, नियम अथवा शर्तो का उल्लेख होता है ।
प्रदर्शन द्वारा साझेदार	जब एक व्यक्ति अपने आप को फर्म के साझेदार के रूप में प्रदर्शित करता है और फर्म उसके प्रदर्शन का विरोध नही करती है तो वह 'प्रदर्शन द्वारा साझेदार' कहा जाता है ।
निष्क्रिय या सुप्त साझेदार	ऐसे साझेदार जो फर्म के कार्य संचालन में हिस्सा नही लेते है, लेकिन तीसरे पक्षकारों और अन्य साझेदारों के प्रति उत्तरदायी होते है ।
लाभार्थ साझेदार	ऐसा साझेदार जो फर्म के लाभ में हिस्सा प्राप्त करने का ठहराव करता है परन्तु हानि में नही ।
उप साझेदार	फर्म के किसी साझेदार ने जिस व्यक्ति को फर्म में अपने लाभ का हिस्सा देने का समझौता किया हो उसे 'उप-साझेदार' कहते

है ।

सरकारी कम्पनी	एक ऐसी कम्पनी जिसकी प्रदत्त अंश पूँजी का 51 प्रतिशत भाग सरकार के पास हो ।
सार्वमुद्रा	कम्पनी से संबंधित कागजो पर कम्पनी वास्तविक आदमी के हस्ताक्षर नही कर सकती हैं । इसलिए कम्पनी के नाम की एक सार्वमुद्रा (Common Seal) का प्रयोग इस हेतु किया जाता है ।
हित-हस्तान्तरण	कोई भी व्यक्ति जब संस्था में अपने अधिकार एवं हिस्से को किसी अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित करना चाहता हो ।
शेयर अथवा अंश	कम्पनी की पूँजी शेयरों में बटी होती है और प्रत्येक शेयर का एक निश्चित मूल्य होता है । जैसे 10 रू. या 100 रू. ।
शेयरों द्वारा सीमित कम्पनी	ऐसी कम्पनी जिसमें शेयरधारियों का दायित्व उनके द्वारा लिए गए शेयरों के अंकित मूल्य तक ही सीमित हो ।
चार्टर्ड कम्पनी	ये वे कम्पनियाँ होती है जिनका निर्माण राजाज्ञा या शाही आज्ञा द्वारा हुआ हो ।
गारण्टी द्वारा सीमित कम्पनी	यह वह कम्पनी है जिसमें प्रत्येक शेयरधारी कम्पनी के समापन पर एक निश्चित रकम तक का भुगतान देने की गारण्टी देता है ।
प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी	ऐसी कम्पनी जो अपने द्वारा (क) अपने शेयरों के हस्तान्तरण पर रोक लगाती है, (ख) सदस्यों की संख्या 50 तक सीमित करती है तथा (ग) अपने शेयरों तथा ऋणपत्रों के विक्रय हेतु जनता को आमंत्रित नही करती है ।
पब्लिक लिमिटेड कम्पनी ऐसी	कम्पनी जो प्राइवेट लिमिटेड नही है ।
सहकारी संगठन	जब समान हित वाले व्यक्ति किसी आर्थिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वेच्छा से आपस मे संगठित होते हैं तो उसे सहकारी संगठन कहते है ।

2.8 प्रमुख उपयोगी पुस्तकें

1. डॉ आर.के. बजाज, डी.आर.सैनी एवं वी.एल. गुप्ता व्यावसायिक संगठन (जयपुर : कैलाश बुक डिपो 1984)
2. आर.सी. अग्रवाल : व्यावसायिक संगठन (जयपुर : कॉलेज बुक डिपो 1987-88)
3. यदुकुल् भूषण एवं ओ.पी.अग्रवाल. व्यावसायिक संगठन के सिद्धान्त (नई दिल्ली : सुल्तान चन्द एण्ड संस 1988)
4. रामनारायण गोयल : आधुनिक व्यवसाय - संगठन एवं प्रबन्ध (इलाहाबाद : किताब महल)
5. राठौड, लढ्ढा, जोशी, शर्मा : व्यावसायिक संगठन (शिवम् बुक हाउस प्रा.लि., जयपुर)

2.9 स्वपरख प्रश्न

1. एकाकी व्यापार से आप क्या समझते है? इसके लाभ एव दोषों का विवेचन कीजिए ।
2. व्यवसाय के बढ़ने पर एकाकी व्यापारी को किन सीमाओं का सामना करना पडेगा ? साझेदारी संस्था का निर्माण करके इन सीमाओं को कैसे हल किया जा सकता है?
3. संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी से क्या आशय है? इसकी प्रमुख विशेषताओ का वर्णन कीजिए।
4. साझेदारी से क्या आशय है? साझेदारी और संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी में अन्तर को स्पष्ट कीजिए ।
5. साझेदारी को परिभाषित कीजिए । इसके लाभ-दोषों का वर्णन कीजिए ।
6. साझेदारी की परिभाषा दीजिए । आप किस प्रकार निश्चित करेंगे कि व्यक्तियों का एक समूह साझेदारी है या नहीं ।
7. सहकारी संगठन से आप क्या समझते हैं? इसके गुण और दोषों का उल्लेख कीजिए ।
8. सहकारी संगठन क्या है? यह संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी से किस प्रकार भिन्न है?

इकाई 3 संयुक्त स्कन्ध कम्पनी

इकाई की रूपरेखा :-

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 प्रमुख विशेषताएँ
3.3 कम्पनियों के प्रकार
3.4 कम्पनी और साझेदारी में अन्तर
3.5 लाभ- हानि

3.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप -

- कम्पनी संगठन का आशय समझ सकेंगे ।
- कम्पनी संगठन की प्रमुख विशेषताओं को जान सकेंगे ।
- कम्पनियों के विभिन्न प्रकारों को जान सकेंगें ।
- कम्पनी संगठन और साझेदारी संगठन के भेद को समझ सकेंगे ।
- कम्पनी संगठन के लाभ और हानि को देख सकेंगे ।

3.1 कम्पनी संगठन (Company Organistion)

औद्योगिक क्रांति तथा बड़े पैमाने पर उत्पादन प्रणाली के प्रादुर्भाव से आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन हुए है । बढ़ती हुई आवश्यकताओं, नयी-नयी वस्तुओं के अविष्कारों एवं बाजारों के विश्वव्यापी विस्तार के कारण व्यवसाय के क्षेत्र में भारी निवेश एवं विशिष्ट प्रबन्धकीय योग्यता की आवश्यकता महसूस की जाने लगी । एकाकी व्यापार एवं साझेदारी दोनो ही व्यवस्थाएँ बढ़ी हुई वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने तथा बड़े व्यवसाय के प्रबन्ध एवं संचालन करने में अनुपयुक्त सिद्ध हुई है । एकाकी व्यापार एवं साझेदारी में असीमित उत्तरदायित्व व सीमित पूँजी जैसी कमियों को पूरा करने के उद्देश्य से कम्पनी संगठन का प्रादुर्भाव हुआ ।

परिभाषाएँ

कम्पनी अधिनियम, 1958 की धारा 2(10) के अनुसार, "कम्पनी का आशय एक ऐसी कम्पनी से है जो धारा 3 में परिभाषित की गई है ।

धारा 3(1)(i) में कम्पनी की परिभाषा इस प्रकार दी गई है । "कम्पनी से आशय ऐसी कम्पनी से है जो भारतीय कम्पनी अधिनियम, 1956 के अधीन निर्मित एव रजिस्टर्ड हो अथवा एक ऐसी विद्यमान कम्पनी से है जिसका निर्माण तथा पंजीयन इसके पूर्व के किसी कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत हुआ हो ।"

न्यायमूर्ति मार्शल के अनुसार, "संयुक्त पूँजी कम्पनी एक कृत्रिम, अदृश्य तथा अमूर्त संस्था है, जिसका अस्तित्व वैधानिक होता है और जो विधान द्वारा निर्मित होती है ।

प्रोफेसर हैने के अनुसार, "कम्पनी विधान द्वारा निर्मित एक कृत्रिम व्यक्ति है, जिसका उसके सदस्यों से पृथक एवं स्थायी अस्तित्व होता है और जिसके पास सार्वमुद्रा (Commaon Seal) होती है ।"

2.4.1 प्रमुख विशेषताएँ

1. **ऐच्छिक एवं समामेलित संघ :** कम्पनी व्यक्तियों का एक ऐच्छिक संघ है जिसका निर्माण सदस्यों की स्वेच्छा से होता है, कोई अनिवार्यता नहीं है । कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत रजिस्टर्ड होने के पश्चात ही इसका जन्म होता है ।
2. **विधान द्वारा निर्मित कृत्रिम व्यक्ति :** कम्पनी कृत्रिम, अमूर्त, अदृश्य एवं काल्पनिक व्यक्ति होती है क्योंकि इसका निर्माण कानून द्वारा होता है और कानून ही इसे समाप्त कर सकता है । अन्य व्यक्तियों की तरह यह किसी सम्पत्ति का क्रय-विक्रय, अनुबन्ध, वाद प्रस्तुत करने, प्रपत्रों पर हस्ताक्षर करने एवं ऐजेन्टों एव कर्मचारियों को नियुक्ति प्रदान कर सकता है । यह समस्त कार्य अपने नाम में तथा अपनी सार्वमुद्रा लगा कर सकता है ।
3. **पृथक् वैधानिक अस्तित्व :** कम्पनी का अस्तित्व उसके सदस्यों (जैसे प्रवर्तक, संचालक एवं अंशधारी आदि) के अस्तित्व से भिन्न होता है । कम्पनी का अंशधारी कम्पनी से अनुबन्ध कर सकता है, कम्पनी पर मुदमा चला सकता है तथा कम्पनी उस पर मुकदमा कर सकती है । साझेदारी में साझेदारी फर्म एवं साझेदारों का अस्तित्व एक ही माना जा सकता है उसी प्रकार कम्पनी का अस्तित्व उसके. सदस्यों के समान नही माना जाता है बल्कि पृथक अस्तित्व होता है ।
4. **सीमित दायित्व :** कम्पनी में प्रत्येक सदस्य या अंशधारी का दायित्व सामान्यत: उसके द्वारा खरीदे गये अंशो के अंकित मूल्य (Face Value) तक ही सीमित होता है । सदस्य को व्यक्तिगत रूप से कम्पनी की देनदारियों के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता।
5. **सार्वमुद्रा** (Commaon Seal) : कम्पनी कृत्रिम, अप्राकृतिक, अदृश्य एवं अमूर्त व्यक्ति होने के कारण वह स्वयं हस्ताक्षर नही कर सकती है । कम्पनी का समामेलन होने पर प्रत्येक कम्पनी की एक सार्वमुद्रा होती है । यह कम्पनी के हस्ताक्षर का कार्य करती है । सार्वमुद्रा पर कम्पनी का नाम स्पष्ट शब्दों में खुदा होना चाहिए । कम्पनी को बाध्य करने के लिए प्रत्येक प्रलेख पर सार्वमुद्रा लगना आवश्यक है ।
6. **स्थायी अथवा शाश्वत अस्तिव** (Perpetual Succession) : कम्पनी का अस्तित्व स्थायी होता है । अत: किसी सदस्य अथवा निदेशक के मर जाने, दिवालिया होने, पागल होने, अवकाश ग्रहण करने अथवा पृथक होने पर कम्पनी के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । एक के बाद दूसरा अंशधारी आता एचं जाता रहता है, किन्तु कम्पनी का अस्तित्व ज्यों का त्यों स्थिर रहता है जब तक यह विधिवत रूप से समाप्त नही हो जाती।
7. **स्वामित्व एवं प्रबन्ध में पृथकता :** एकाकी व्यापार एवं साझेदारी में जो व्यक्ति पूँजी लगाता है, वही स्थायी होता है तथा प्रबन्ध एवं संचालन उनके द्वारा ही क्रिया जाता है । कम्पनी

संगठन में स्वामित्व एवं प्रबन्ध अलग-अलग होता है । कम्पनी का स्वामित्व अंशधारियों के हाथों में होता है जबकि प्रबन्ध अंशधारियों के हाथों में न होकर उनके द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों (निदेशकों) के हाथ में होना है ।

8. **सदस्यों की संख्या एक सार्वजनिक कम्पनी** (Public Limited Company) में सदस्यों की न्यूनतम संख्या 7 तथा अधिकतम संख्या पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है । निजी कम्पनी (Private Company) की स्थिति में सदस्यों की न्यूनतम संख्या 2 और अधिकतम संख्या 50 होती है ।
9. **अंशों की हस्तान्तरणीयता :** सार्वजनिक कम्पनी के प्रत्येक सदस्य को यह अधिकार होता है कि वह अपने शेयरों का हस्तान्तरण जब चाहे तक किसी भी व्यक्ति को स्वतंत्रतापूर्वक कर सकता है । यह व्यवस्था विनियोक्ता को तरलता (Liquidity) तथा कम्पनी को स्थायित्व प्रदान करती है । यह एक ऐसा विशेषाधिकार हे जो कम्पनी तथा अन्य प्रकार के व्यावसायिक संगठनों में अन्तर करता है । निजी कम्पनी के अंशों के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध लगा रहता है ।
10. **कार्य क्षेत्र की सीमाएँ :** कम्पनी के प्रमुख उद्देश्य तो पार्षद सीमा नियम म उल्लेखित होते है, किन्तु उन उद्देश्यों को प्राप्त तथा कार्य संचालन सम्बन्धी नियम कम्पनी के पार्षद अन्तर्नियमों में दिए हुए होते है । इन अन्तर्नियमों की सीमा के भीतर निदेशक मंडल कार्य संचालन करते है । साधारणत: कोई भी कम्पनी अपने पार्षद सीमा नियम; पार्षद अन्तर्नियम एवं कम्पनी अधिनियम के बाहर कार्य नहीं कर सकती ।
11. **वैधानिक दायित्व :** कम्पनी एक कृत्रिम व्यक्ति है, फिर भी उसके उतने ही विस्तृत वैधानिक दायित्व होते है जितने कि एक व्यक्ति के । कम्पनी को कम्पनी अधिनियम के विभिन्न प्रावधानों का पालन करना होता है । कम्पनी को भी समय पर आयकर, बिक्री कर जमा करवाना पड़ता है । इसे भी सभी आवश्यक लेखे या वित्तीय खाते तैयार करने पड़ते है तथा अंकेक्षण करवाकर अन्तिम खाते बनाने पड़ते है ।
12. **अस्तित्व की समाप्ति :** कम्पनी का निर्माण कानून द्वारा होता है । वह जीवन भर कानून के अनुसार कार्य करती है, तथा उसका अन्त भी कानून द्वारा होता है । अत: यह कहा जा सकता है कि कम्पनी के जन्म से लेकर उसके अन्त तक सभी कार्य कानून द्वारा होते है ।

2.4.2 कम्पनियों के प्रकार

हम कम्पनियों का वर्गीकरण अध्ययन की सुविधा के लिए निम्नलिखित शीर्षकों में कर सकते है

I. निगमन (Incorporation) के आधार पर

II. दायित्व (Liability) के आधार पर

III. संगठन (Organisation) के आधार पर

IV. नियंत्रण (Control) के आधार पर

I. निगमन (Incorporation) के आधार पर

निगमन विधि के आधार पर कम्पनियाँ तीन प्रकार की हो सकती है :

1. **चार्टर्ड कम्पनी** (Chartered Company) : यह कम्पनी का प्राचीनात्मक प्रकार है । इस कम्पनी की स्थापना विशेष राजाज्ञा (Royal Charter) द्वारा की जाती है । यह आज्ञा शाही फरमान अथवा बादशाह अथवा राजा के द्वारा दी जाती है । इस प्रकार की कम्पनियों के कुछ उदाहरण इस प्रकार है- ईस्ट इण्डिया कम्पनी, बैक ऑफ इंगलैण्ड, बैंक ऑफ जापान आदि । भारत में इस समय इस प्रकार की कोई भी कम्पनी नही है ।
2. **सांविधिक कम्पनी** (Statutory Company) : इस प्रकार की कम्पनी का निर्माण किसी भी देश की संसद अथवा विधान सभा द्वारा विशेष अधिनियम पारित करके किया जाता है । इस प्रकार की कम्पनी की स्थापना राष्ट्रीय दृष्टि से विशेष महत्व एवं सार्वजनिक हित का कोई कार्य आदि के लिए की जाती है । भारत में इन्हें निगम (Corporation) भी कहा जाता है । इस प्रकार की कम्पनियों एवं निगमों के उदाहरण सुविदित है जैसे -रिज़र्वबैक ऑफ इण्डिया, भारतीय जीवन बीमा निगम, यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया, भारतीय खाद्य निगम आदि ।
3. **पंजिकृत या निगमित कम्पनी** (Registered or Incorporated Company) : प्रत्येक देश मे कम्पनियों का निगमन या समामेंलन वहॉ के कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत होता है । ऐसी कम्पनियों को पंजीकृत अथवा निगमित कम्पनी कहते है । भारत में अधिकांश कम्पनियाँ ऐसी ही है अर्थात् उनका पंजीयन भारतीय कम्पनी अधिनियम, 1956 अथवा इसके पूर्व के किसी कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत हुआ है । एक पंजीकृत कम्पनी अस्तित्व में तभी आती है जब इसे निगमन का प्रमाण पत्र प्राप्त हो जाता है ।

II. दायित्व (Liability) के आधार पर

भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत दायित्व के आधार पर कम्पनियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है:

1. **अंशो द्वारा सीमित कम्पनी** (Company Limited by Shares) : साधारणत: अंशों द्वारा समिति कम्पनी से आशय ऐसी कम्पनी से है जिनके अंशधारियों का दायित्व उनके द्वारा क्रय किये गये अंशों के अंकित मूल्य तक सीमित होता है । भारत में इस प्रकार की कम्पनियाँ सबसे अधिक प्रचलित है ।
2. **गारण्टी द्वारा सीमित कम्पनी** (Company Limited by Gurarantee) : इस प्रकार की कम्पनी में प्रत्येक सदस्य इस बात का दायित्व अपने ऊपर लेता है कि कम्पनी के समापन के समय ऋणों व समापन व्ययों के भुगतान के लिए, यदि कम्पनी की सम्पत्तियाँ कम पड़ती है, तो वे एक निश्चित राशि या गारण्टी राशि तक सहायता प्रदान करेंगे । ऐसी कम्पनियों के पार्षद सीमा नियम में प्रत्येक सदस्य द्वारा गारण्टी की गई गारण्टी का उल्लेख करना आवश्यक है । ऐसी कम्पनियों की स्थापना लाभ कमाने के लिए नहीं की जाती । उनकी स्थापना सामान्यतया, संस्कृति, धर्म, विज्ञान तथा खेलकूद के क्लब आदि के लिए की जाती है ।
3. **असीमित दायित्व वाली कम्पनीयाँ** (Unilimited) : असीमित दायित्व वाली कम्पनियों से आशय ऐसी कम्पनियों से है जिनके सदस्यों का दायित्व उनके अंशदान तक सीमित नहीं होता है बल्कि उनकी निजी सम्पत्ति का प्रयोग कम्पनी की हानि की दशा में या ऋणों के भुगतान

हेतु किया जा सकता है । भारत में इस प्रकार की कम्पनियाँ बहुत ही कम देखने को मिलती है ।

III. संगठन (Organisation) के आधार पर

संगठन के आधार पर कम्पनियों को प्रमुख रूप से दो भागों में बॉटा जा सकता है-

1. **सार्वजनिक कम्पनी** (Public Company) : सार्वजनिक कम्पनी का आशय, एक ऐसी कम्पनी से है जो निजी कम्पनी नहीं है अर्थात् (i) अंशों के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध नही हों, (ii) अंशधारियों की न्यूनतम संख्या 7 तथा (iii) अंशो या ऋण-पत्रों के क्रय के लिए जनता को आमन्त्रित करने पर प्रतिबन्ध नही हो । कम्पनी अधिनियम, 2000 में किये गये संशोधन के अनुसार सार्वजनिक कम्पनी से आशय ऐसी कम्पनी से है जो निजी कम्पनी नहीं है तथा जिसकी प्रदत्त अंश पूँजी 5 लाख रूपये या इससे अधिक है ।
2. **निजी कम्पनी** (Private Company) : कम्पनी अधिनियम, 2000 में किये गये संशोधन के अनुसार नि कम्पनी से निजी आशय ऐसी कम्पनी से है जिसकी न्यूनतम प्रदत्त पूँजी एक लाख रूपये या अधिक है तथा जो अपने अन्तर्नियमो द्वारा -
   (i) अपने अंशो के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध लगाती है ।
   (ii) अपने सदस्यों की संख्या 50 तक सीमित रखती है ।
   (iii) अपने अंशो तथा ऋण-पत्रों को खरीदने के लिए जनता को निमन्त्रण देने का प्रतिबन्ध लगाती है ।

IV. नियंत्रण (Control) के आधार पर

नियन्त्रण के आधार पर कम्पनियों का वर्गीकरण इस प्रकार है -

1. **सरकारी कम्पनी** (Goverment Company) : सरकारी कम्पनी से आशय एक ऐसी कम्पनी से है जिसकी प्रदत्त पूँजी (Paid Up Share Capital) का कम से कम 51 प्रतिशत भाग केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार या केन्द्रीय एवं राज्य सरकार या किसी अन्य सरकार के पास हों ।इन कम्पनियों में उनको भी सम्मिलित किया जाता है जो सरकारी कम्पनी की सहायक (Subsidiary) होती है ।
2. **विदेशी कम्पनी** (Foreign Company) : विदेशी कम्पनी से आशय एक ऐसी कम्पनी से है जिसका पंजीयन या समामेलन विदेश में उस देश के अधिनियम के अन्तर्गत हुआ है लेकिन वह अपना व्यापार भारत में करती हो ।
3. **नियंत्रक और नियंत्रित कम्पनी** (Holding and Subsidiary Company) : साधारणत: जब एक कम्पनी का किसी दूसरी कम्पनी के प्रबन्ध में नियंत्रण होता है तो नियंत्रण करने वाली कम्पनी को नियंत्रित कम्पनी(Holding Company) और जिस कम्पनी पर नियंत्रण किया जाता है उसे नियंत्रित या सहायक कम्पनी (Susbidiary) कहते है ।

2.4.3 कम्पनी और साझेदारी में अन्तर

कम्पनी और साझेदारी में प्रमुख अन्तर के आधार निम्नलिखित है -

1. **गठन :** कम्पनी की स्थापना कम्पनी रजिस्ट्रार द्वारा निगमन या समामेलन का प्रमाण पत्र देने पर होती है । साझेदारी का गठन साझेदारों में किये गये अनुबन्ध या करार द्वारा होता है क्योंकि साझेदारी का पंजीयन कराना अनिवार्य नही है ।
2. **पृथक् अस्तित्व :** कम्पनी का अपने सदस्यों से पृथक् वैधानिक अस्तित्व होता है । सदस्यों की मृत्यु दिवाला या छोड़ जाने पर भी कम्पनी के अस्तित्व पर कोई प्रभावन नहीं होता है । साझेदारी का अपने साझेदारों से अलग अस्तित्व नहीं होता है ।
3. **सदस्यों की संख्या :** सार्वजनिक और निजी कम्पनी में सदस्यों की संख्या 7 और 2 होनी आवश्यक है । निजी कम्पनी में सदस्यों की अधिकतम संख्या 50 और सार्वजनिक कम्पनी में अधिकतम संख्या पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है । लेकिन साझेदारी में न्यूनतम संख्या 2 हैं । यदि साझेदारी बैंकिग व्यवसाय में है तो अधिकतम 10 तथा अन्य व्यवसाय में अधिकतम 20 सदस्य हो सकते हे ।
4. **दायित्व :** सामान्यतया कम्पनी के अंशधारियों का दायित्व सीमित होता है अर्थात् उनके पास शेयरों के मूल्य तक या दी गयी गारण्टी की राशि तक ही सीमित होता है । लेकिन साझेदारी की स्थिति में प्रत्येक साझेदार का दायित्व असीमित होता है अर्थात् साझेदारों की निजी सम्पति का उपयोग फर्म की देनदारियाँ चुकाने में किया जा सकता है ।
5. **प्रबन्ध एवं संचालन :** कम्पनी का प्रबन्ध सदस्यों द्वारा न होकर अंशधारियों द्वारा चुने हुए संचालकों के द्वारा होता है । साझेदारी में फर्म के प्रबन्ध में प्रत्येक साझेदार को भाग लेने का अधिकार होता हैं ।
6. **एजेन्सी सम्बन्ध :** एक अंशधारी अपनी कम्पनी या कम्पनी के दूसरे अंशधारी का एजेन्ट नहीं होता हैं । जबकि प्रत्येक साझेदार फर्म का या दूसरे साझेदारों का एजेन्ट होता है । एक साझेदार अपने कार्यो के लिए दूसरे साझेदारों को बाध्य कर सकता है ।
7. **हित का हस्तान्तरण :** एक सार्वजनिक कम्पनी के अंशधारी अपने अंशों का हस्तान्तरण बिना रोक-टोक के कर सकते है । लेकिन साझेदारी में एक साझेदार अपने हित का हस्तान्तरण सब साझेदारों की सहमति के बिना नही कर सकता ।
8. **सम्पति :** कम्पनी की दशा में कम्पनी की सम्पत्ति कम्पनी के नाम होती है और वही इसकी स्वामी होती हैं अंशधारियों का कम्पनी की सम्पति में कोई अधिकार नहीं होता है । साझेदारी की स्थिति में साझेदार फर्म की सम्पति में संयुक्त स्वामी होते है ।
9. **अंकेक्षण एवं लेखे :** एक कम्पनी को कम्पनी अधिनियम के निर्देशानुसार खाता रखना तथा उनका अंकेक्षण करवाना अनिवार्य है जबकि साझेदारी फर्म के लिए यह अनिवार्य नहीं है ।
10. **समापन :** कम्पनी का समापन कम्पनी अधिनियम, 1956 के प्रावधानों के अनुसार किया जा सकता है । साझेदारी की समाप्ति साझेदारी अनुबन्ध के आधार पर की जा सकती है क्योंकि साझेदारी का गठन इस अनुबन्ध के आधार पर होता है ।
11. **अधिनियम :** कम्पनी पर भारतीय कम्पनी अधिनियम, 1956 लाग होता है जबकि साझेदारी भारतीय साझेदारी अधिनियम, 1932 द्वारा संचालित होती है ।

2.4.4 लाभ- हानि

संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी विश्व के सभी देशों मे लोकप्रिय व्यावहारिक संगठन बन चुका है तथा बड़े-बड़े व्यवसाय कम्पनी के रूप में ही संचालित किये जाते है । हम यहॉ कम्पनी संगठन के लाभ व दोषों का विवेचन करेंगे ।

लाभ अथवा गुण

1. **स्थायी अस्तित्व :** कम्पनी का अस्तित्व अपने सदस्यों से पृथक होता है । अंशधारियों के पागल होने, मृत्यु होने, दिवालिया होने तथा संस्था छोडने का कम्पनी के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पडता है । स्थायी अस्तित्व से व्यवसाय के विकास की दीर्घकालीन योजनाएँ लाग की जा सकती है तथा ख्याति बढ़ती है ।
2. **सीमित दायित्व :** अंशधारियों का दायित्व उनके द्वारा क्रय किये गये शेयरों के अंकित मूल्य अथवा प्रदान की गयी गारण्टी की रकम तक ही सीमित होता है । कम्पनी की देनदारियों की वसूली अंशधारियों की निजी सम्पति से प्राप्त नही कर सकते । सीमित दायित्व के कारण अधिकाधिक लोग कम्पनी संगठन में अपने धन का विनियोजन हेतु प्रोत्साहित होते है ।
3. **अधिक वित्तीय साधन :** कम्पनी संगठन में सदस्यों की अधिकतम संख्या पर पाबन्दी नहीं होती । जब भी व्यवसाय हेतु अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है तो अतिरिक्त शेयरों या ऋणपत्रों का निर्गमन किया जा सकता है । स्थायी अस्तित्व एवं व्यावसायिक ख्याति के कारण भी बाजार अथवा बैंकिग संस्थाओं से आसानी से ऋण प्राप्त हो जाता है ।
4. **शेयरों के हस्तान्तरण की सुविधा :** निजी कम्पनी को छोड़कर कम्पनी प्रारूप में यह सुविधा है कि अंशधारी अपने शेयरों का बेचान जब चाहे तब कर सकते है । इस प्रकार अंशधारी अपने शेयर नगदी में बदल सकते है । शेयर हस्तान्तरण की सुविधा से लोग कम्पनियों में अपना धन विनियोजित करने के लिए प्रेरित होते है ।
5. **बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभ :** पर्याप्त वित्त व्यवस्था के कारण बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव होता है । बडी मात्रा में कच्चा माल, मशीनें एवं अन्य सामग्री सस्ती दर पर क्रय की जाती है । बडे पैमाने पर उत्पादन होने से उत्पादन लागत कम आती है, विशिष्टीकरण सम्भव होता है और ग्राहकों को सस्ता माल मिल जाता है ।
6. **पेशेवर प्रबन्धकों की सेवाओं का लाभ :** एकाकी व्यापार और साझेदारी की तुलना में कम्पनी संगठन में विशेषज्ञों एवं अनुभवी प्रबन्धकों की सेवाओं का लाभ प्राप्त किया जा सकता है । पूँजी की पर्याप्तता और लाभ की मात्रा अधिक होने के कारण कम्पनी संगठन में सुयोग्य पेशेवर प्रबन्धकों की नियुक्ति अत्यन्त सुविधाजनक हो जाती है ।
7. **विकास एवं विस्तार की सम्भावनाएँ :** कम्पनी के वित्तीय साधन सुदृढ़ होने से उत्पादन के लिए आधुनिकतम एवं भारी मशीनों का प्रयोग सम्भव हो जाता है जिनसे उनके व्यवसाय का विस्तार होता है । इसी प्रकार कम्पनी अपने लाभ का कुछ भाग संचित कोष में रखती है जिसे व्यवसाय के विकास में विनियोजित कर सकती है ।

8. **जन-विश्वास :** कम्पनी का नियमन एवं नियन्त्रण सरकार द्वारा पारित कम्पनी अधिनियम के तहत किया जाता है तथा दूसरा स्थायी अस्तित्व होता है । कम्पनी के अंकेक्षित लेखे एवं वार्षिक रिपोर्ट का प्रकाशन भी होता रहता है, अत: जनता में इसकी कार्यप्रणाली पर संदेह उत्पन्न नहीं होता है ।
9. **जोखिम का विभाजन :** कम्पनी संगठन में सदस्यों की संख्या अधिक पायी जाती है अत: व्यावसायिक जोखिम अथवा हानि सभी सदस्यों में विभक्त हो जाती है । छोटे विनियोक्ताओं के लिए यह हितकर होता है ।
10. **अनुसंधान को प्रोत्साहन :** कम्पनियों का दीर्घस्तरीय आकार तथा वित्त की पर्याप्त व्यवस्था के कारण, संस्था में अलग से अनुसंधान केन्द्र की स्थापना सम्भव हो जाती है । ये अनुसंधान केन्द्र उत्पाद, ग्राहक एवं बाजार अनुसंधान के माध्यम से ग्राहकों को उनकी रूची की बढ़िया किस्म की वस्तुएँ उत्पादित करके उपलब्ध करावाते है ।
11. **कर सम्बन्धी रियायतें :** सरकार पिछडे एवं अन्य विशेष क्षेत्रों में कम्पनियों की स्थापना करने पर करों मे कई प्रकार की छूट देती है ।

दोष या सीमाएँ

1. **स्थापना में कठिनाई :** कम्पनी की स्थापना में अनेक वैधानिक औपचारिकताएँ पूरी करनी पडती है जिसमें समय एवं धन बहुत खर्च हो जाता है । एकाकी व्यापार और साझेदारी की तुलना में इसकी स्थापना सरल कार्य नहीं है ।
2. **आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण :** कम्पनी संगठन में कुछ ही लोग कम्पनियों के अधिकांश शेयरों के स्वामी होते है । कुछ व्यक्ति बहुत सी कम्पनियों एवं सहायक कम्पनियों के निदेशक बन जाते है तथा निजी लाभों के लिए इनका गलत इस्तेमाल करते है । आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण के परिणामस्वरूप श्रमिकों और उपभोक्ताओं का शोषण होता चला जाता है ।
3. **गोपनीयता का अभाव :** कम्पनी की वार्षिक रिपोर्ट एवं लेखे प्रकाशित करवाने पड़ते है । इसके अतिरिक्त इसका प्रबन्ध अधिक व्यक्तियों के हाथों में होने से अर्द्धवार्षिक एव वार्षिक सभाओं में महत्वपूर्ण निर्णय हेतु विचार विमर्श होता है । अत: एकाकी व्यापारी एवं साझेदारी की तुलना में गोपनीयता बनाये रखना कठिन कार्य है ।
4. **प्रेरणा का अभाव :** कम्पनी संगठन में व्यवसाय का संचालन वेतनभोगी प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों द्वारा किया जाता है । उनका व्यवसाय मे प्रत्यक्ष हित नही होने के कारण वे विशेष रूचि एवं लगन से कार्य नहीं करते है । इस प्रकार शेयरधारियों को अपनी पूँजी पर उचित प्रतिफल नहीं मिल पाता ।
5. **हित संघर्ष का भय :** कम्पनी के स्वामी अर्थात् शेयरधारियों का वर्ग, प्रबन्धक वर्ग एव कर्मचारी वर्ग बन जाते है । इस सभी के हित एक दूसरे से टकराते है । सभी वर्ग एक दूसरे को दोषारोपित करते रहते है । उदाहरणार्थ, संचालक एवं प्रबन्धक अपना अच्छा वेतन लेते है और अंशधारियों को लाभांश देने की खास चिन्ता नहीं करते है । कर्मचारी वर्ग अधिक वेतन भत्ते की माँग करते रहते है ।

6. **लघु एवं कुटीर उद्योगों पर बुरा प्रभाव :** लघु एंव कुटीर उद्योग बड़ी बड़ी कम्पनियों की प्रतिस्पर्धा में टिक नहीं पाती है क्योकि कम्पनियों द्वारा उत्पादित माल की उत्तम किराया और लागत कम होती है । अत: अधिक रोजगार प्रदान करने वाले लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास पर बुरा असर पडता है ।
7. **अधिक सरकारी हस्तक्षेप :** समस्त कम्पनियों का नियमन एव नियंत्रण कम्पनी अधिनियम के तहत होता है इसके अतिरिक्त सरकार तरह तरह के अध्यादेश जारी करती रहती है । कम्पनियों को अपना व्यवसाय इन बदले नियमों के अनुसार चलाने में बहुत व्यावहारिक कठिनाईयाँ आती है ।
8. **गैर जिम्मेदाराना प्रबन्ध व्यवस्था :** कम्पनी के प्रबन्धकों एव निदेशकों का एक निश्चित वेतन एवं सुविधाएँ कम्पनी से प्राप्त होती रहती है । कम्पनी के लाभ एव हानि का इनके ऊपर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पडता है । अत: वे शीघ्र निर्णय एवं तत्परता से कार्य करने में कोई विशेष रूचि नहीं लेते है ।
9. **प्रवर्तकों द्वारा कपट :** कम्पनी के प्रवर्तक कई बार धोखा धड़ी भी करते है । अपने खास व्यक्तियों को संचालकों में नियुक्त करा लेते है और स्वयं भी प्रबन्ध मे हस्तक्षेप करने लगते है । स्वयं की कम मूल्य की सम्पत्तियाँ अधिक मूल्य की दिखाकर कम्पनी के लाभ हस्तान्तरित कर लेते है तथा उच्च पारिश्रमिक के रूप में बड़ी रकम वसूल करते है ।

इकाई-4- बहु राष्ट्रीय निगम (Multinational Corporation (MNC's)

उद्देश्य

इस ईकाई का उद्देश्य विद्यार्थियों को बहु राष्ट्रीय निगमों की अवधारणा उनके विकास के कारणों, इनके क्रिया कलापों तथा इनका भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले सुप्रभावों तथा कुप्रभावों से अवगत करवाना है ।

प्रस्तावना

बहु राष्ट्रीय निगमों का अर्थ एवं परिभाषाएँ,
बहु राष्ट्रीय निगमों के विकास के कारण,
बहु राष्ट्रीय निगमों का भारतीय अर्थव्यवस्था में योगदान,
बहु राष्ट्रीय निगमों का भारतीय अर्थव्यवस्था पर कुप्रभाव,
बहु राष्ट्रीय निगमों के गुण एवं दोष
बहु राष्ट्रीय निगमों का नियमन,
स्वःमुल्यांकन अभ्यास ।

प्रस्तावना

वर्तमान युग उदारीकरण, निजीकरण तथा वैश्वीकरण का युग है । इस युग में व्यावसायिक सस्थाओं का स्वरूप किसी देश विशेष की सीमा में सीमित न रह कर अर्न्तराष्ट्रीय हो गया है । वर्तमान में अनेक बड़ी-बड़ी कम्पनियों तथा निगमों की स्थापना हुई है जो अन्तराष्ट्रीय स्तर पर कार्य कर रही है । यह कम्पनियॉ / निगम जिस देश में कार्यरत होते है उस देश की अर्थव्यवस्था को गहन रूप से प्रभावित करते है । भारत की आर्थिक विकास में भी निजी क्षेत्र की विदेशी पूंजी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । निजी क्षेत्र की विदेशी पूंजी का मुख्य उद्देश्य लाभ अर्जित करना होता है, अतः यह पूंजी ऋण एवं अनुदान के रूप में प्राप्त न होकर बहु राष्ट्रीय निगमों एवं कम्पनियो के माध्यम ये अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में अंश पूंजी में विदेशी भागीदारी, विदेशी सहयोग तथा पोर्टफोलियो विनियोग के रूप में प्राप्त होती है । यह निजी पूंजी इन बहु राष्ट्रीय निगमों के माध्यम से सरकारी तथा गैस्सरकारी दोनों क्षेत्रों में विनियोजित है ।

बहु राष्ट्रीय निगम इस प्रकार की विशाल अल्पाधिकारी कम्पनियाँ है जिनकी उत्पादन एवं विक्रय व्यवस्था का तंत्र संसार के कई सारे देशों में फैला हुआ है । ये निगम अपनी किसी एक या दो ईकाईयों के लाभों को अधिकतम करने में विश्वास रखने के स्थान पर विश्वभर में फैले अपने क्रियाकलापों से अधिकतम लाभ अर्जित करने का प्रयास करते है । इस हेतु वे व्यापक व्यावसायिक व्यूहरचना (Strategy) का निमार्ण करते है । आज विश्व मे 40,000 से भी अधिक बहु राष्ट्रीय निगम कार्यरत है तथा ये विश्व के अनेक देशों में फैली अपनी लगभग 2,50,000 समुद्रपारिक सम्बद्ध(Overseas affiliates) कम्पनियों के माध्यम से कार्य करते है । सर्वाधिक संख्या (लगभग 7000) में बहु राष्ट्रीय निगम जर्मनी में, लगभग 3700 स्वीडन में, 3650 से अधिक जापान में, लगभग 3000 स्विट्जरलैण्ड

में तथा 3000से अधिक अमेरिका में है । इन बहुराष्ट्रीय निगमों के पास प्रचुर मात्रा में साधन है । इनकी विशालता तथा साधन सम्पन्नता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि 1982 में विश्व के सबसे बड़े 200 बहुराष्ट्रीय निगमों का विश्व के सकल घरेलू उत्पाद(Gross Domestic Product) में 24.2 प्रतिशत हिस्सा था जो 1998 में बढकर 28.3 प्रतिशत हो गया । 1998 में इन 200 बहुराष्ट्रीय निगमों की कुल बिक्री से आय 7.1 मिलियन डालर थी जो विश्व की नौ बड़ी अर्थ व्यवस्थाओं यथा अमेरिका, जापान, जर्मनी फ्रान्स,इटली इंगलैण्ड, कनाडा, ब्राजील तथा चीन को छोडकर शेष 182 देशों की सकल घरेलू उत्पाद (GDP) 6.9 मिलियन डालर से भी अधिक थी । विश्व की 100 बडी अर्थव्यवस्थाओं में 51 बहुराष्ट्रीय निगम सम्मलित है तथा केवल मात्र 49 राष्ट्र है ।

बहुराष्ट्रीय निगमों का अर्थ परिभाषा एवं विशेषताएँ

साधारण बोलचाल की शब्दावली में बहुराष्ट्रीय निगम का आशय एक ऐसे निगम, कम्पनी अथवा व्यावसायिक संस्था से लिया जाता है जिसका व्यवसाय अथवा उत्पादन एवं वितरण गतिविधियाँ किसी एक देश विशेष तक सीमित न होकर एक से अधिक देशों में फैले हुए है । बहुराष्ट्रीय निगम की परिभाषा ऐसी कम्पनी के रूप में की जाती है (अ) जिसका अनेक देशों में प्रत्यक्ष निवेश आधर हो (ब) जिसका 20 से 50 प्रतिशत या उससे भी अधिक निवल लाभ विदेशों में चल रहे उसके कार्यो से हो तथा (स) जिसके प्रबन्धकों द्वारा लिए गए निर्णयों का आधार विश्व के किन्हीं भी अन्य स्थानों पर उपलब्ध विकल्प हो ।

आई.बी.एम. वर्ड ट्रेड कारपोरेशन के अध्यक्ष के अनुसार बहुराष्ट्रीय निगम वह है जो (i) अनेक देशों में कार्य करता है, (ii) उन देशों में विकास, निर्माण एवं अनुसंधान का कार्य करता है (iii) जिसका बहुराष्ट्रीय प्रबन्ध होता है तथा (iv)जिसका स्वामित्व बहुराष्ट्रीय होता है ।

अत: स्पष्ट है कि बहुराष्ट्रीय निगम एक संस्था होती है जिसकी स्थापना तो एक देश मे होती हैं किन्तु जिसके क्रिया कलाप कई देशों में फैले होते है, जिनका अनेक देशो में प्रत्यक्ष निवेश आधार होता है जो उन देशों के विकास, निमार्ण एवं अनुसधान में योगदान देता है तथा जिसका स्वामित्व एवं प्रबन्ध बहुराष्ट्रीय होता है ।

अनेक देशों में क्रियाकलाप विस्तृत होने के कारण ही इनको अनेक अन्य नामों यथा पारदेशीय निगम (Transnational Corporation) अन्तर्राष्ट्रीय निगम (International) वैश्विक निगम (Golobal Corporation) आदि के नाम से जाना जाता है ।

बहुराष्ट्रीय निगमों की विशेषताएं (Characterisitics of Multinational Corporation)

(1) विशाल आकार (Giant Size)

बहुराष्ट्रीय निगमों का आकार अत्यन्त विशाल होता है । इनकी पूँजी, बिक्री, लाभ, उत्पादन मात्रा प्रशासन एवं प्रबन्ध काफी बडा होता है । उदाहरणार्थ विश्व की सबसे बड़े बहुराष्ट्रीय निगम रायल डच शेल की परिसम्पतियाँ लगभग 69 बिलियन डालर की है जो पाकिस्तान के घरेलू उत्पाद (GDP) 40 बिलियन डालर, नाइजिरिया के सकल घरेलु उत्पाद (34 बिलियन डालर) तथा फिलिपिन्स के सकल घरेलू उत्पाद (45 बिलियन डालर) से अधिक है । सबसे बड़े 200 बहुराष्ट्रीय निगमों की कुल बिक्री 7.1 मिलियन डालर है, अमेरिका जो विश्व की बडी अर्थ व्यवस्था है से लगभग 500 बिलियन डालर अधिक है ।

(2) अन्तराष्ट्रीय क्रिया कलाप (International Operations)

बहु राष्ट्रीय निगमों के क्रिया कलाप किसी देश विशेष में सीमित न रहकर अनेक देशों में विस्तृत होते है । ऐसे निगमों का मुख्य निगम (Parent corporation) प्राय: उसी देश में कार्य करता है जिसमें उसकी स्थापना होती है तथा अन्य देशों में उसकी शाखाएँ एवं सहायक कम्पनियाँ कार्य करती है जिन पर मुख्य निगम का स्वामित्व एवं नियंत्रण होता है । वस्तुत: बहु राष्ट्रीय निगम वैश्विक कारखाने बन गये है जो विश्व के किसी भी देश में अवसर की खोज में रहते है । उदाहरणार्थ शैल 50 देशों में खनिज तेल का खनन करती है 34 देशों में उसे शोधित (Refined) करती है तथा लगभग 100 देशों में उसका विपणन करती है । अमेरिका की सबसे बड़ी अनाज कम्पनी कारगिल (Cargill) के क्रिया कलाप 54 देशों में फैले हुए है । ब्रिटेन की प्रसिद्ध रसायन कम्पनी आई.सी.आई. (ICI) के निर्माणी क्रियाकलाप 40 देशों में तथा विक्रय क्रियाकलाप 150 देशों में फैले हुए है ।

(3) बहु राष्ट्रीय स्कन्ध स्वामित्व (Multinational Stock Ownership)

बहु राष्ट्रीय निगम अपनी पूंजी में भागीदारी उन देशों के नागरिकों को देते है जिन देशों में इनके क्रियाकलाप फैले होते है । किन्तु स्वामित्व में बहु मत बहु राष्ट्रीय निगम के निर्माताओं के पास ही सुरक्षित रखा जाता है।

(4) बहु राष्ट्रीय प्रबन्ध (Muldttinational Management)

बहु राष्ट्रीय निगम का प्रबन्ध भी बहु राष्ट्रीय होता है । ये निगम अपनी शाखा या सहायक कम्पनी का प्रबन्ध उस देश के नागरिकों के हाथों में सौंपता है जहाँ वह कार्यरत है किन्तु अन्तिम नियन्त्रण बहु राष्ट्रीय निगम के संस्थापकों के पास ही रखा जाता है ।

(5) अल्पाधिकारी ढाँचा (Oligopolistic Structure)

संवलिन (Merger) अधिग्रहण (Take over) आदि क्रियाओं के माध्यम से ये बहु राष्ट्रीय निगम अल्पाधिकारी स्वरूप ग्रहण कर लेते है ।

(6) स्व: प्रवर्तित विकास

सामान्यतया बहु राष्ट्रीय निगम अनायास एवं अचेतन रूप से विकसित होते है । कई संस्थायें आकस्मिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय बन जाती है । कई बार संस्थायें दूसरे देशों में प्रचलित कम मजदूरी तथा बेहतर अवसरों के कारण अपनी शाखाएँ एव सहायक कम्पनियाँ वहां स्थापित कर लेती है ।

(7) संसाधनों का सामूहिक हस्तान्तरण (Collective transfer of resources)

एक बहु राष्ट्रीय निगम संसाधनों का बहु पक्षीय हस्तान्तरण सुगम बनाता है । सामान्यतया ऐसा हस्तान्तरण एक पैकेज के रूप में होता है जिसमें तकनीकी ज्ञान, उपकरण तथा मशीनरी, कच्चा माल, निर्मित माल प्रबन्धकीय सेवायें, इत्यादि शामिल होती है ।

बहु राष्ट्रीय निगमों की कसौटियों (Tests of MNCs)

एक कम्पनी के रूप में बहु राष्ट्रीय निगम की निम्नलिखित पांच कसौटियाँ होती है-

1. इसका कार्य उन विभिन्न देशों में फैला होता है जो आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में होते हैं ।
2. इसकी स्थनरय शाखाओं एवं सहायक कम्पनियों का नियन्त्रण सम्बन्धित राष्ट्र के व्यक्तियों द्वारा होता हैं ।

3. इसका बहुराष्ट्रीय स्कन्ध स्वामित्व होता है ।
4. इसका बहुराष्ट्रीय केन्द्रीय प्रबन्ध होता है ।
5. विभिन्न देशों में इसके पूर्ण औद्योगिक संगठन होते है जिनके अन्तर्गत अनुसंधान, विकास तथा विनिर्माण की सुविधाए होती है ।

बहुराष्ट्रीय निगमों का प्रबन्ध मुख्यालय द्वारा उनके निर्माण वाले देश में होता है । जबकि इनके उद्यमों का कार्य अनेक मेजबान देशों (host countries) में होता है । बहुराष्ट्रीय निगम अनेक कारणों से अपना निवेश अन्तराष्ट्रीय स्तर पर करते है । उनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित है :-

1. तटकरो के प्रभावो को कम करना ।
2. उत्पादन लागत में कमी लाना । ऐसा सस्ता श्रम, सस्ती सामग्री एवं परिवहन लागतों का उपयोग द्वारा किया जाता है।
3. विदेशी बाजार का बड़ा हिस्सा हथियाना या प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करना ।
4. मेजमान देश के प्राकृतिक संसाधनो का उपयोग करना ।
5. अपने स्वयं के देश के व्यापार तथा उद्योग सम्बन्धी कठोर नियमों तथा विनियमों के प्रभाव से बचना, जैसे पर्यावरण प्रदूषण सम्बन्धी कानून ।
6. कर छूटों से लाभ उठाना ।

बहुराष्ट्रीय निगमों के विकास के कारण (Reasons Growth of MNCs)

बहुराष्ट्रीय निगम के विकास में योगदान देने वाले अनेक कारक रहे है । इनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं ।

1. बाजार सीमाओं का विस्तार (Expansion of Market Terriotories)

जैसे-जैसे एक संस्था को अपने स्वंय के देश में सफलता प्राप्त होती है । उसका आकार तथा क्रियाकलाप बढने लगते है तथा उसकी ख्याति देश-विदेश में फैलने लगती है । परिणामत: यह संस्था अपने देश की भौगोलिक सीमाओं से बाहर निकलकर विदेशों में अपनी गतिविधियों को फैलाने का प्रयास करने लगती है ।

2. विपणन क्षेत्र में श्रेष्ठता (Superiorities in the field of Marketing)

बहुराष्ट्रीय निगमों का आकार बहुत बड़ा होने तथा उनके पास विशाल वितीय संसाधन होने के कारण उन्हें राष्ट्रीय कम्पनियों की तुलना में विपणन क्षेत्र में श्रेष्ठता प्राप्त है । उदाहरण के लिए-

(i) बहुराष्ट्रीय निगम विपणन प्रबन्ध हेतु श्रेष्ठतम विपणन प्रबन्धकों की नियुक्ति का भार वहन करने में सक्षम है ।

(ii) ये निगम विपणन शोध पर अधिक व्यय करते है फलत: उन्हे बाजार परिस्थितियों के बारे में शीघ्र विश्वसनीय तथा अधिक सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है ।

(iii) बहुराष्ट्रीय निगमों को अपनी ख्याती का लाभ मिलता है तथा उन्हे उत्पादों के बेचने में तुलनात्मक रूप से कम कठिनाई आती है ।

(iv) अधिक संसाधन तथा लाभ होने के कारण वे उत्पादों के विक्रय हेतु श्रेष्ठ तथा अधिक विज्ञापन एवं प्रचार कर सकते है ।

(v) इनके पास भन्डारण की अच्छी सुविधायें उपलब्ध होती है ।

3. वित्तीय श्रेष्ठता (Financial Superiority)

वित्त व्यवसाय का जीवन रक्त होता है तथा कुशल वित्तीय नियोजन एवं प्रबन्ध व्यवसाय को सफलता दिलाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है । बहु राष्ट्रीय निगमों को राष्ट्रीय कम्पनियों की तुलना में वित्तीय क्षेत्र में श्रेष्ठता प्राप्त है जिसके प्रमुख कारण निम्नलिखित है :-

(i) बहु राष्ट्रीय निगम अपने विशाल संसाधनों के बल पर कुशल वित्तीय प्रबन्धकों एवं विशेषज्ञों की नियुक्ति करते है

(ii) अपने विशाल वित्तीय संसाधनों के बल पर वे समस्त वित्तीय परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने में सक्षम होते है ।

(iii) अपने कोषों का उपयोग वे अधिक कुशलता पूर्वक करते है तथा एक देश में जनित वित्तीय साधनों का वे आवश्यकता पड़ने पर दूसरे देशों में उपयोग कर सकते है ।

(iv) बहु राष्ट्रीय निगम विदेशी पूंजी बाजारों से अधिक सरलता के साथ वित्तीय साधन जुटा सकते है।

(v) अपनी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कारण ये अंधिक सरलता से अन्तराष्ट्रीय संसाधन एकत्रित कर सकते है यहां तक कि अन्य देश के निवेशक तथा बैंक इनमे निवेश करने को उत्सुक रहते हैं ।

4. प्रौद्योगिकी श्रेष्ठता (Technological Superioreties)

बहु राष्ट्रीय निगमों को विकासशील देश अपने यहां पर अपने औद्योगिक क्किास में सहायता देने के लिए इस लिए आमन्त्रित करते है क्यों कि स्वदेशी कम्पनियों की तुलना में इनके पास समुन्नत प्रोद्योगिक होती है । बहु राष्ट्रीय निगमों से प्रोद्योगिकी हस्तान्तरण विकासशील देश निम्न कारणों से उपयोगी मानते है :-

(i) अल्पविकास तथा पिछड़ेपन को दूर करने का सबसे सरल किन्तु महत्वपूर्ण उपाय तेजी से औद्योगिकीकरण है किन्तु इन देशों के पास इतने आर्थिक संसाधन नही होते है कि वे अपने बलबूते पर रचयं का औद्योगिक विकास कर सकें ।

(ii) औद्योगिक विकास हेतु उपलब्ध स्थानीय मानव शक्ति, पूँजी, उपकरणों तथा अन्य संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग आवश्यक है किन्तु अल्पविकसित एवं विकासशील देशों के पास इतनी क्षमता एवं सामर्थ्य नही होता कि अपने आप यह काम कर सकें।

(iii) औद्योगिक विकास का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व देश में स्थापित कम्पनियों पर डालने से कच्चा माल पूँजी, उपकरण, मशीनरी एवं तकनीकी -ज्ञान के भारी आयात की आवश्यकता उत्पन्न होती है किन्तु बहु राष्ट्रीय निगम स्वयं इनकी व्यवस्था कर लेते है ।

(iv) अल्पविकसित तथा विकासशील देशों को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अपने उत्पाद बेचने के लिए तीव्र प्रतिस्पर्धा का सामना करना पडता है । उनके यहाँ उत्पादित माल की घटिया किस्म, उच्च मूल्य तथा प्रतिकूल विक्रय शर्तो के कारण उनके उत्पाद अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतिस्पर्धा में नहीं टिक पाते है । बहु राष्ट्रीय निगम इन देशों के उत्पाद अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बेचने में सहायता करते है ।

5. नवीन उपादों का विकास (Development of New Products)

बहु राष्ट्रीय निगमों के पास अत्यधिक वित्तीय संसाधन तथा अधिक मात्रा में लाभ होने के कारण वे अपने यही आधुनिकतम सुविधाओं से युक्त अनुसंधान तथा विकास (Research and Development) विभाग की स्थापना करते है जहाँ सदैव नवीन उत्पादों के विकास तथा विद्यमान उत्पादों की किस्म तथा डिजायन में सुधार के प्रयत्न होते रहते है । परिणामस्वरूप देश में स्थापित कम्पनियों की तुलना में बहु राष्ट्रीय निगमों की उत्पादन सम्भावनाएं (Production Oportunities) कहीं ज्यादा होती है ।

भारत में बहु राष्ट्रीय निगम एवं कम्पनियाँ (Multinational Corporation / Companies in India)

भारत में बहु राष्ट्रीय निगमों एवं कम्पनियों का प्रादुर्भाव सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारत में प्रवेश के साथ प्रारम्भ हु आ जिसने भारत में प्रमुख बन्दरगाह तथा व्यापारिक शहरों में अपने व्यापारिक कार्यालय खोले । इसके पश्चात् तेल क्षेत्र में अमेरिका की कम्पनियों ने भारत में प्रवेश किया जिसमें से एस्सों (ESSO) तथा कालटेक्स (CALTEX) नामक कम्पनियों के नाम उल्लेखनीय है । 1978 में भारत में बहु राष्ट्रीय निगमों एवं कम्पनियों से सम्बद्ध 883 सहायक कम्पनियाँ (Subsidiary Companies) कार्यरत थी ।वर्तमान में भारत में बड़ी संख्या में बहु राष्ट्रीय निगम तथा कम्पनियाँ कार्यरत है जिनके क्रियाकलाप उनकी कई शाखाओं एवं सहायक कम्पनियों के माध्यम से भारत के साथ-साथ विश्व के अनेक देशों में फैले हु ए है । इनमें कोलगेट-पामोलिव हिस्दुस्तान लीवर लि. प्रोक्टर एवं गेम्बल, हिन्दुस्तान सीबा गायगी, पोन्डस इण्डिया लि. वारेन टी, फिलिप्स इन्डिया, कोका कोला, पेप्सी कोला, सेम संग इण्डिया लि. एल.जी. प्रोडक्टस लि. गुडलेस, नेरोलेक पेन्टस, आई सी आई, गलेक्सो इण्डिया लि. स्मिथ कलाइस बीचम,ल्यूपिन लेब, आई बी एम आदि प्रमुख है ।

भारत में 1973-74 में बहु राष्ट्रीय निगमों की 540, शाखाएं तथा 188 सहायक कम्पनियाँ थी जिनकी 3155 करोड रूपये के बराबर परिसम्पत्तियां थी । 1978-79 में बहु राष्ट्रीय निगमों की शाखाएं घटकर 385 तथा सहायक कम्पनियां घटकर 125 रह गई किन्तु फिर भी उनकी परिसम्पत्तियाँ बढ कर 4108 करोड रूपये हो गई । 1985 में बहु राष्ट्रीय निगमों की शाखाएं पुनः घटकर 224 तथा सहायक कम्पनियों की संख्या घटकर मात्र 75 ही रह गई किन्तु उसकी परिसम्पत्तियाँ फिर बढ़कर 6355 करोड़ रूपये तक पहुँच गई जो बहु राष्ट्रीय निगमों की भारतीय अर्थव्यवस्था पर मजबूत पकड़ को दर्शाते है । बहुराष्ट्रीय निगमों की भारत में स्थिति को निम्नलिखित तालिका में दिये गये तथ्यों से समझा जा सकता है :-

भारत मे बहु राष्ट्रीय निगमों की शाखाएं एवं परिसम्पत्तियां

वर्ष	शाखाओं कि संख्या	सहाक कम्पनियों की संख्या	कुल परिसम्पित्तियां करोड़ रुपयों में
1973-74	540	188	3155
1978-79	385	125	4108
1985	224	75	6355

उपर्युक्त तालिका में वर्णित तथ्यों से स्पष्ट है कि 1973-74 के पश्चात् से 1985 तक काल में भारत में बहु राष्ट्रीय निगमों की शाखाओं एवं सहायक कम्पनियों की संख्या में निरन्तर कमी आयी

है क्योंकि भारत सरकार की इस काल में नीति इन बहुराष्ट्रीय निगमों के भारतीकरण की रही थी, तथा इस अवधि में उन पर विदेशी पूँजी का अंश 40 प्रतिशत करने का दबाव डाला गया था । परिणामस्वरूप कोका कोला तथा आई बी एम जैसी कम्पनियों को भारत में अपना व्यापार बन्द करना पडा तथा कई कम्पनियों ने अपने कारोबार के विस्तार के कार्यक्रम को रोक दिया अथवा स्थगित कर दिया । किन्तु इस अवधि में भी बहुराष्ट्रीय निगमों की परिसम्पत्तियों में निरन्तर वृद्धि दर्ज की गई है ।

सन् 1984 में श्री राजीव गांधी के प्रधान मंत्री बनने के पश्चात उनके शासन काल में अपनायी गयी उदारवादी, प्रौद्योगिकी उन्नयन तथा विदेशी पूँजी को बढ़ावा देने वाली नीतियों के परिणामस्वरूप बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को बढ़ावा मिला तथा उन्में भारत में अपना कारोबार बढाने की प्रवृति को बढ़ावा मिला । सन् 1991 में श्री पी.वी.नरसिम्हा राव देश के प्रधान मंत्री बने । वर्तमान प्रधानमंत्री डा.मनमोहन सिंह ने तत्कालीन सरकार में वित मंत्री का पद भार ग्रहण किया । इस काल मे विश्व अर्थव्यवस्था में उदारीकरण, निजीकरण तथा वैश्वीकरण के युग का सूत्रपात हो चुका था तथा तत्कालीन सरकार में भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्व अर्थव्यवस्था को जोड़ने की प्रबल इच्छाशक्ति थी । परिणामत: 1991 में घोषित नई औद्योगिक नीति में विदेशी निजी निवेश को अनेक सुविधाएँ एवं प्रोत्साहन प्रदान किये गये । इससे 1991-1995 के पाँच वर्षो में कुल 60 हजार करोड़ के प्रत्यक्ष पूँजी निवेश प्रस्तावों को स्वीकृति प्रदान की गई । जिसमें से वास्तविक पूँजी प्रवाह (Capital फलो) लगभग 12150 करोड़ रूपये का हुआ । वर्तमान समय में खुली अर्थव्यवस्था एवं वैश्वीकरण के इस युग में भारत ने अपने द्वार बहुराष्ट्रीय निगमों के लिये पूर्ण रूप से खोल दिये है । अब हम देश के तेज आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिए अधिक से अधिक विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (Froeign Direct Investment)चाहते है जिसके परिणामस्वरूप कई बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भारत में प्रवेश कर चुकी है तथा निरन्तर कर रही है ।

भारत में बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका अथवा प्रभाव (Roel or Impact of Multinational Corporation in India)

वर्तमान परिवेश में किसी भी अल्पविकसित एवं विकासशील अर्थव्यवस्था के तेज गति से आर्थिक विकास के लिए विदेशी पूँजी निवेश तथा अपरिहार्य है । विकासशील देशों के पास प्रचुर मात्रा में प्राकृतिक तथा मानवीय संसाधन उपलब्ध होते है किन्तु उनके पास पूँजी, उपकरण, मशीनरी तथा प्रौद्योगिकी का अभाव होता है जिसके कारण वे अपने उपलब्ध मानवीय तथा प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग देश के विकास में समुचित तरीके से नही कर पाते है । फलत: आर्थिक विकास की दौड में पिछड़ जाते है । भारत भी एक विकासशील राष्ट्र है । जिसके पास प्रचुर मात्रा में मानवीय तथा प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध है । बहुराष्ट्रीय निगमों ने भारत को पूँजी, उपकरण, मशीनरी व तकनीकी ज्ञान उपलब्ध करवाकर इसके आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है । जहाँ पर एक ओर बहुराष्ट्रीय निगमों के क्रियाकलापों के कारण प्राकृतिक संसाधनों का सदुपयोग सम्भव हुआ है वहीं दूसरी ओर देश के औद्योगिकीकरण तथा अनुसन्धान कार्यो को भी बढ़ावा मिला है, विदेशी पूँजी निवेशों में वृद्धि हुई है तथा रोजगार को बढ़ावा मिला है । प्रबन्धकीय क्षमताओं में भी वृद्धि हुई है । सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अब बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रति दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आ रहा है । 1970 के दशक में बहुराष्ट्रीय निगमों को आलोचकों द्वारा उस दुष्ट दैत्य की तरह बताया जाता था जो उस मगर की भांति है जो अन्धेरी रात में निर्दोष मुसाफिरों को झपटने तथा अपना शिकार बनाने की ताक में बैठा हुआ

है । बहु राष्ट्रीय निगमों को रक्षक के स्थान पर भक्षक के रूप में देखा जाता था । किन्तु पिछले कुछ वर्षा में इस दृष्टिकोण में आमूलचल परिवर्तन आया है । अब बहु राष्ट्रीय निगमों को सकारात्मक अर्थ में लिया जाता है । उन्हे विकास के कारक के रूप में देखा जाता है । आज वह विश्व अर्थव्यवस्था की एक महत्वपूर्ण शक्ति है । एक अनुमान के अनुसार सबसे बडे 500 बहु राष्ट्रीय निगम विश्व व्यापार के लगभग 10 प्रतिशत विदेशी विनियोग के लगभग 80 प्रतिशत तथा विश्व के लगभग 30 प्रतिशत सकल घरेलू उत्पाद पर अपना नियन्त्रण रखते है ।

भारत में बहु राष्ट्रीय निगमों की भूमिका अथवा प्रभावों को निम्नलिखित बिन्दुओं की सहायता से समझा जा सकता है:-

1. विदेशी पूँजी निवेश में वृद्धि (Increase in Foreign Capital Investments)

बहु राष्ट्रीय निगमों तथा निजी क्षेत्र के कारण भारत में विदेशी पूँजी निवेश में लगातार वृद्धि की प्रवृति दृष्टिगोचर हुई है । जहॉ 1973 -74 में बहु राष्ट्रीय निगमों की परिसम्पत्तियाँ 3155 करोड रू0 के तुल्य थी जो बढ़कर 1985 में 6355 करोड रू0 के तुल्य पहुँच गई । अनिवासी भारतीयों का निवेश भी जो 1980 में लगभग 100 करोड़ रूपये था बढ़कर 1986-87 में 500 करोड़ रूपये तक पहुँच गया । 1991 में भारत सरकार द्वारा आर्थिक उदारीकरण की नीति अपनाये जाने के परिणास्वरूप विदेशी पूँजी निवेशों में अप्रत्याशित वृद्धि दर्ज की गई तथा 1991 से 2002 तक बारह वर्षो मे ही लगभग 2,84,812 करोड़ रूपये के विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (FDI) को स्वीकृति प्रदान की गई । इस अवधि में भारत मे वास्तविक विदेशी प्रत्यक्ष निवेश का प्रवाह लगभग 1,29,838 करोड रूपये का रहा जिसमें से अकेले वर्ष 2002 के दौरान ही लगभग 21286 करोड़ रूपये का विदेशी प्रत्यक्ष निवेश हुआ । वर्तमान में यह प्रवृति निर्बाध एव अधिक तेज गति से आगे बढ़ रही है । ज्ञातव्य है कि किसी भी देश के तीव्र गति से आर्थिक विकास में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की महत्वपूर्ण तथा निर्णायक भूमिका होती है ।

2. प्राकृतिक साधनों के विदोहन में योगदान (Contribution in Exploitation of Natural Resources)

विश्व के अल्पविकसित एवं विकासशील देशों के यहाँ प्राकृतिक संसाधनों को प्रचुर भण्डार है जिनका समुचित विदोहन करके वे अपने देश को विकास के पथ पर अग्रसर कर सकते है । किन्तु इन देशों के पास पूँजी, पूँजीगत सामानों, साहस, प्रौद्योगिकी, कुशल एवं प्रशिक्षित मानव शक्ति का अभाव होने के कारण वे अपने उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों का समुचित विदोहन नहीं कर पाते परिणामत: विकास की दौड़ में पीछे रह जाते है । बहु राष्ट्रीय निगम उक्त प्रौद्योगिकी, पूँजी एव पूँजीगत उपकरणों, साहस, प्रशिक्षित मानव शक्ति, कुशल प्रबन्ध से सम्पन्न होते है अत: इनकी आवश्यकता से प्राकृतिक संसाधनों का समुचित विदोहन सम्भव हो पाया है ।

3. अर्थव्यवस्था के आधारभूत क्षेत्रों के विकास में योगदान (Contribution in Development of Infrastructure Sector ऑफ Economy)

किसी भी देश का सर्वागींण विकास अर्थव्यवस्था के आधारभूत क्षेत्रों के विकास पर निर्भर करता है । बहु राष्ट्रीय निगमों ने अर्थ व्यवस्था के आधारभूत क्षेत्रों में उन्नत प्रौद्योगिकी का प्रयोग, पूँजी निवेश तथा पूँजी उपकरणों एवं साहस का प्रयोग करके इन क्षेत्रों के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है ।

4. शोध एवं विकास में भूमिका (Role in Reasearch and Development)

अल्पविकसित तथा विकासशील राष्ट्र तकनीकी दृष्टि से पिछड़े होते हैं । उनके पास अनुसंधान एवं विकास कार्यो का संचालन करने के लिए न तो आवश्यक पूँजी संसाधन होते है और न ही समुन्नत प्रयोगशालाएँ । इस दृष्टिकोण से बहुराष्ट्रीय निगम बहुत बड़ा वरदान साबित हुए है । इन्होने उन्नत तकनीकी ज्ञान, आधुनिकतम निर्माणी प्रक्रियायें एवं विकसित चातुर्य विकासशील देशों को उपलब्ध करवाया है । वे विकसित देशों से विकासशील एवं अल्पविकसित देशों में प्रोद्योगिकी हस्तानान्तरण का माध्यम साबित हुए है ।

5. रोजगार अवसर उपलब्ध करवाना (Making Available Employment Opportunities)

बहुराष्ट्रीय निगमों ने भारत जैसी विकासशील तथा विश्व के अनेक अल्पविकसित देशों में अपनी शाखाएं तथा सहायक कम्पनियाँ खोल कर बड़े पैमाने पर रोजगार के अवसर उपलब्ध करवाये है । बहुराष्ट्रीय निगमों का कार्यक्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत होने के कारण अनेकों व्यक्ति इन निगमो द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले उत्पादन, विवरण एवं संस्थापन में रोजगार प्राप्त करते है ।

6. साहस के विकास में भूमिका (Role in Development of Enterpreneurship)

भारतीय पूंजी शर्मीली है तथा भारतीयों में साहस की कमी होती है अत: वे जोखिम उठाने से डरते है । किन्तु जब बहुराष्ट्रीय निगमों ने भारत में सफलता प्राप्त की तथा अपने क्रियाकलापों से अत्यधिक लाभार्जन किया तो उन्हे देख कर भारतीय पूँजीपति तथा उद्योगपति भी साहस दिखाने एवं जोखिम उठाने के लिए तैयार हुए । परिणामस्वरूप भारतीयों ने अनेक बड़े बड़े उद्योग धन्धों की स्थापना की तथा भारत में साहस का विकास हुआ । अब तो स्वयं भारतीयों ने अनेक बहुराष्ट्रीय निगमों की स्थापना -करली है जिनमें रेनबेक्सी, विडियाकोन डाबर आदि नाम प्रमुख है ।

7. तकनीकी ज्ञान एवं प्रशिक्षण में भूमिका (Role in Technical Know-how and Training)

बहुराष्ट्रीय निगमों के कारण देश में उन्नत प्रौद्दीगिकी का हस्तान्तरण ही सम्भव नहीं हुआ है वरन् बहुराष्ट्रीय निगमों ने इस देश में अपनी उन्नत अनुसंधान एवं विकास संस्थायें तथा प्रशिक्षण केन्द्र भी स्थापित किये है । जिन से देश के नागरिकों को अनुसंधान एवं प्रशिक्षण की सुविधाएँ उपलब्ध करवायी जाती है । इस प्रकार बहुराष्ट्रीय निगमों ने भारत में तकनीकी ज्ञान के विकास तथा प्रशिक्षण व्यवस्था में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है ।

8. विपणन में योगदान (Contribution in Marketing)

आज के वैश्वीकरण के इस युग में प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र तथा गहनता में मूलभूत परिवर्तन हुए है । अब प्रतिस्पर्धा तीव्र से तीव्रतर होगई है तथा प्रतिस्पर्धा का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है । ऐसे वातावरण मे केवल वे ही संस्थायें अपना अस्तित्व बचाने में सफल हो सकती हैं जो विपणन की आधुनिकतम तकनीक अपनाते है । बहुराष्ट्रीय निगमों ने इस तथ्य को पहचाना एवं स्वीकार किया है । वे विपणन की अत्याधुनिक तकनीकों को अपनाते है जिससे भारतीय उत्पादों को विश्व बाजार मे अपना स्थान बनाने में मदद मिली है ।

9. जोखिम उठाने में भूमिका (Role in Rosk Bearing)

भारत जैसे विकासशील देशों में स्थानीय पूंजीपतियों एवं उद्योगपतियों में जोखिम उठाने का साहस बहुत कम होता है । ऐसी परिस्थिति में बहुराष्ट्रीय निगम अपने विशाल साधनों एवं लम्बे अनुभव से उद्योगों की स्थापना कर जोखिम उठाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है । भारत में ऊर्जा, दूरसंचार, सडक निर्माण, सौर ऊर्जा के विकास आदि के विकास में बहुराष्ट्रीय निगम आगे आ रहें है ।

10. प्रबन्ध कुशलता में वृद्धि (Increases Managerial Efficiency)

बहुराष्ट्रीय निगमों की उच्च प्रबन्ध कुशलता का लाभ भारतीय उद्योगों को मिला है तथा भारतीय प्रतिस्पर्धी कम्पनियों ने अपनी प्रबन्ध कुशलता एवं प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता को बढ़ाया है । बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा उनके सहयोग से संचालित अनेक प्रबन्ध संस्थानों में अनेकों भारतीयों ने प्रबन्ध की शिक्षा ग्रहण करके भारतीय प्रबन्ध कौशल में वृद्धि की है ।

11. विदेशी मुद्रा अर्जन (Foreign Exchange Earnings)

बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेशों तथा पोर्टफोलियो निवेशों से 1991 से 2002 के बीच लगभग 42754 मिलियन डालर का प्रवाह हुआ है । यही नहीं बहुराष्ट्रीय निगमों में नियोजित भारतीयों से भी विदेशी मुद्रा का अर्जन होता है । बहुराष्ट्रीय निगमों के उत्पादों के विक्रय से भी विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होती है । इस प्रकार बहुराष्ट्रीय निगमों के क्रिया कलापों से देश भारी में मात्रा में विदेशी मुद्रा का अर्जन हुआ है ।

12. 'ज्ञान आधार' के निर्माण में सहायता (Help Building up Knowledge Base)

बहुराष्ट्रीय निगमों ने देश में 'ज्ञान आधार' के निर्माण में महान योगदान दिया है जिससे देश में उपलब्ध मानव संसाधनो का विकास सम्भव हो पाया हैं । ये निगम ज्ञान एवं अनुभव के वाहक का कार्य करते है । इस प्रकार ये उत्पादकता बढाने में सहायता करते है । उदाहरणार्थ आज मारूति उद्योग लि.0 प्रति वर्ष प्रति कर्मचारी 55 कारों का उत्पादन करता है जबकि हिन्दुस्तान मोटर्स तथा प्रिमियर आटोमोबाइल्स की दशा मे यह आकड़ा 10 के नीचे है ।

13. भुगतान सन्तुलन में सुधार (Improvement in Balance of Payment)

बहुराष्ट्रीय निगमों के कार्यकलाप मेजबान देश के भुगतान सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव डालते है । बहुराष्ट्रीय निगमों के पास वैश्विक विपणन संगठन होते है जिसके परिणामस्वरूप वे विकासशील देशों के निर्यात में वृद्धि कर सकते है तथा उनके भुगतान सन्तुलन को अनुकूल बनाने में सहायता करते है ।

14. ऋण जाल से मुक्ति (Relivers from Debt-Trap)

अल्प विकसित तथा विकासशील देश पहले से ही भारी ऋण सेवा भार (Debt Servicing Burden) जाल में फसे हुए है । ऐसे में ये देश यदि अपनी अर्थव्यवस्था में सुधार तथा आर्थिक विकास के लिए और अधिक ऋण लेते है तो वे ऋण जाल में फस जायेगे । ऐसी स्थिति में बहुराष्ट्रीय निगमों तथा निजी क्षेत्र का निवेश इन देशों को ऋण जाल से मुक्ति प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है ।

15. जुड़ाव प्रभाव (Linkage effect)

अल्प विकसित देशों में पर्याप्त मात्रा में अन्य उद्योगों के साथ जुड़ाव नही होता । बहुराष्ट्रीय निगम मेजबान देश में, सामान्यतया जुड़ाव प्रभाव उत्पन्न करते है । वे जुड़ाव उद्योग की स्थापना में भी सहायता करते है । ऐसा जुड़ाव अग्रगामी अथवा प्रतिगामी हो सकता है ।

भारत में बहुराष्ट्रीय निगमों का दुष्प्रभाव(Illeffects of MNC's in India)

यद्यपि बहुराष्ट्रीय निगमोंसे भारतीय अर्थव्यवस्था अनेक प्रकार से लाभान्वित हुई है, प्राकृतिक संसाधनों का समुचित विदोहन सम्भव हो पाया है, उन्नत प्रौद्योगिकी एवं तकनीक का लाभ मिला

है, नये नये उद्योग धन्धो का विकास हुआ है, आय, उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि हुई है, साहस का विकास हुआ है। भुगतान सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव पडता है, व्यापा घाटे में कमी आयी है किन्तु इसका आशय यह कदापि नही हैं कि बहुराष्ट्रीय निगमों के क्रियाकलाप देश एवं इसकी अर्थव्यवस्था के लिए सर्वदा निरापद है । इन निगमों ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर अनेक गम्भीर कुप्रभाव डाले है । अत: आलोचक इसकी भारत में विद्यमानता की कटु आलोचना करते है । आलोचकों का मत है कि बहुराष्ट्रीय निगमों से देश की आर्थिक सम्प्रभुता विदेशो के पास गिरवी रह जायेगी । उनका मत है कि जब अकेली ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत पर 100 वर्ष से अधिक तक शासन किया था तो अनेक बहुराष्ट्रीय निगमों की भारत में विद्यमानता निश्चित तौर पर भारतीय अर्थव्यवस्था को विपरीत रूप से प्रभावित करेगी । बहुराष्ट्रीय निगमों के भारतीय अर्थव्यवस्था पर दुअभावों को निम्न बिन्दुओं की सहायता से समझा जा सकता है:-

1. बडी मात्रा में विदेशों से धन प्रेषण (Heavy Remittances Abroad)

बहुराष्ट्रीय निगम अपने द्वारा देश में विनियोजित पूंजी की तुलना में बहुत अधिक धन, रायल्टी भुगतान ब्याज, लाभांश अपने द्वारा प्रदत्त तकनीकी सेवाओं एवं सहायता के पारिश्रमिक आदि के रूप में अपने पैतृक देश में प्रेषित करते है जिससे देश की अर्थव्यवस्था पर भारी प्रतिकूल प्रभाव पडता है । उदाहरणार्थ अमेरिका की ऐस्सो (ESSO) तेल कम्पनी का भारत में कुल पूँजी निवेश 30 करोड़ रूपये था किन्तु इस कम्पनी ने 1968 से 1970 की अवधि के मध्य 83 करोड़ रूपये का लाभ भारत से अमेरिका भेजा इसी प्रकार कालटेक्स (CALTEX) ने भी इसी अवधि के दौरान 43 करोड़ रूपये अमेरिका भेजे।

2. भारी लाभार्जन तथा उपभोक्ताओं का शोषण (Heavy Profit Earnings and Exploitation of Consumers)

बहुराष्ट्रीय निगम विदेशी ब्रान्ड्स एवं ट्रेड मार्क्स के प्रयोग के कारण अपनी वस्तुओ को ऊँची कीमत पर बेच कर भारी मात्रा मे लाभ कमाते है तथा भारतीय उपभोक्ताओं का शोषण करते है । उनके द्वारा बेचे गये उत्पादों पर लाभ का मार्जिन अत्यधिक होता है जो निम्न तालिका से स्पष्ट है -

1977 में कुछ बहुराष्टीय निगमों की लाभार्जन दर (राशि करोड़ रू. में)

एम. एन.सी. का नाम	विशुद्ध पूंजी निवेश	कर / बाद लाभ	लाभ दर
1. कालगेट पामोलिव	2.75	2.44	89%
2. पोन्ड्स लि.	1.24	0.63	51%
3. वारेने टी	4.41	2.14	48%

3. भुगतान सन्तुलन पर विपरित प्रभाव (Adverse Impact on Balance of Payment)

भारत मे बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा भारी मात्रा में रायल्टी, लाभांश ब्याज तथा प्रदत्त सेवाओं के बदले में पारिश्रमिक के रूप में भारी मात्रा में विदेशी मुद्रा के रूप में धन अपने पैतृक देश भेजा जाता है । उनके द्वारा बड़ी मात्रा में आयात किये जाते है जबकि निर्यात कम किये जाते है जिसका भुगतान भारत के भुगतान सन्तुलन पर विपरित प्रभाव पडता है । पी.मोहन पिल्लई लिखते है कि 1970 से 1980 के मध्य के 10 वर्षो में विदेशी निजी कम्पनियों तथा बहुराष्ट्रीय निगमों ने 1089 करोड़ रूपये का शुद्ध विदेशी विनिमय भारत के बाहर भेजा जिसका भारत के भुगतान सन्तुलन पर विपरित प्रभाव पड़ा ।

4. अप्रचलित तकनीक की खपत (Dumping of Obsolite Technology)

ऐसा देखने में आया है कि बहुराष्ट्रीय निगम भारत से विदेशों में अप्रचलित हुई तकनीक की खपत करते है । कोई भी विकासशील देश बहुराष्ट्रीय निगमों को अपने यही यह सोच कर प्रवेश देता है कि अपने साथ नवीनतम, श्रेष्ठ एवं समुन्नत प्रौद्योगिकी लेकर आयेगे जिससे देश में आधुनिकतम प्रौद्योगिकी का विकास सम्भव हो सकेगा । किन्तु इसके विपरित बहुराष्ट्रीय निगमों ने विदेशो मे अप्रचलित हो चुकी प्रौद्योगिकी को भारत में खपाने का साधन बना लिया है । इसके अतिरिक्त बहुराष्ट्रीय निगम इस अप्रचलित प्रौद्योगिकी का हस्तान्तरण विकासशील देशों को अत्यधिक मूल्य पर करके उनका शोषण करते है ।

5. हस्तान्तरण मूल्य द्वारा मुनाफाखोरी(Profiteering by Transfer Pricing)

बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हस्तान्तरण मूल्य के माध्यम से भारी मुनाफा खोरी करती हैं । ये बहुराष्ट्रीय निगम ऊँची कीमतो पर अपनी विदेशो सहायक कम्पनियों से कच्चा माल खरीदती है तथा दूसरी विदेशी सहायक कम्पनियों को निर्मित माल बहुत कम कीमत पर बेच देती है जिससे बहुराष्ट्रीय निगम के स्वयं देश के लाभ घट जाता है किन्तु विदेशों में बढ़ जाता है । यह करों की चोरी को भी प्रोत्साहित करती है तथा देश को हानि भी उठानी भी पड़ती है ।

6. देश के हितो की उपेक्षा (Avoidance of National Interest)

अनेक बार ऐसा देखने में आया है कि बहुराष्ट्रीय निगम, जिनका एक मात्र उद्देश्य अपने लाभों को अधिकतम करना होता है, जिस देश में कार्यरत है उस देश के हितों की उपेक्षा करते है । यहीं कारण है कि 1977 से 1980 के काल में कोका कोला तथा आई बी एम जैसी अमेरिकन कम्पनियों को भारत में अपना व्यापार बन्द करना पड़ा ।

7. क्षेत्रीय असमानताओं को जन्म (Gives Rise to Regional Disparities)

बहुराष्ट्रीय निगम लाभार्जन की भावना से काम करते है अत वे देश के केवल उन्ही क्षेत्रों में उद्योग लगाते है जहाँ उनको अधिकाधिक लाभ प्राप्त हो तथा उन्हीं उद्योगों की स्थापना करते है जिनमें अधिक से अधिक प्राप्त होता है, इससे देश मे क्षेत्रीय असामानता को जन्म मिलता है तथा अर्थव्यवस्था का असन्तुलित विकास होता है ।

8. राजनैतिक भ्रष्टाचार एवं हस्तक्षेप को जन्म (Gives Rise to Political Corruption and Interference)

बहुराष्ट्रीय निगम अपने विशाल आर्थिक संसाधनों के बल पर अपने व्यावसायिक हितों के संरक्षण तथा वृद्धि के लिए राजनैतिक भ्रष्टाचार का सहारा लेने में भी तनिक भी नहीं हिचकते । संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपनी रिपोर्ट में बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा अपनई जाने वाली ऐसे कई भ्रष्ट व्यवहारों, जैसे अनुचित प्रतिस्पर्धा, प्रतिबन्धात्मक व्यापार, नीलामी घोटाले, मूल्य विभेद, मूल्य निर्धारण तथा बाजार विकृतियो के अन्य प्रारूपों का उल्लेख किया है । वे अपने संसाधनों के बल पर जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों को अपने पक्ष में करके राजनैतिक हस्तक्षेप को भी जन्म देते है ।

9. दीर्घ कालीन औद्योगिक विकास के हितो के विरूद्ध (Against Interests of Longterm Industrial Growth)

बहुराष्ट्रीय निगम अपने विशाल आर्थिक संसाधनों भारी मुनाफे तथा महंगे भ्रमात्मक विज्ञापन साधनों के माध्यम से देश में स्थापित उद्योगों के लिए तीव्र प्रतिस्पर्धा का वातावरण उत्पन्न करते

है । वे अपने उत्पादों को नुकसान उठाकर बेच कर तथा यही तक कि राशिपातन (Dumping) की नीति का अनुगगन करके अपने प्रति स्पर्धियों को प्रतिस्पर्धा से बाहर करने का भरसक प्रयास करते है, अथवा उन्हे अपने साथ विलयन एवं एकीकरण करने के लिए बाध्य कर देते है जिससे वे एकाधिकारी स्थिति में पहुंचकर अधिकाधिक मुनाफा कमा सके । इसके कारण देश के उद्योगपति देश में उद्योग लगाने से हिचकचाने लगते है । ऐसी स्थिति में देश अपने औद्योगिक विकास के लिए बहुराष्ट्रीय निगमों पर आश्रित हो जाते है । ऐसी स्थिति का निर्माण देश के दीर्घकालीन औद्योगिक विकास के हितो के लिए शुभ संकेत नही माना जा सकता।

10. तीव्र प्रतिस्पर्धा एवं देश की विदेशों पर निर्भरता (Stiff Competition and Dependance on Foreign Nations)

बहुराष्ट्रीय निगम जहाँ एक ओर अपने विशाल पूंजी साधनों एवं उत्पादन की उच्च तकनीक वाली पद्धतियों से अपनी लागतो को कम करने गे सफल हो जाते है वहीं दूसरी ओर देश के लघु तथा मंझोले आकार के उद्योगों से प्रतिस्पर्धा करके उनका अस्तित्व ही खतरे में डाल देते है । अपने विशाल संसाधनों, विदेशी ब्रान्डस् एवं ट्रेड मार्क के प्रयोग तथा भ्रमात्मक विज्ञापनों द्वारा वे देश के बाजारों में अपना पूर्ण प्रभुत्व जमाने मे सफल हो जाते है । इससे शनै-शनैं देश में स्थापित लघु एवं कुटीर तथा मझौले आकार के उद्योगों का पतन होने लगता है तथा अन्ततः देश अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बहुराष्ट्रीय निगमों पर आश्रित हो जाता है जो देश की आत्म निर्भरता तथा सुरक्षा दोनों ही दृष्टियों से नुकसानदेह है ।

11. अनुसंधान एवं विकास कार्यो की अनदेखी (Negligence Research and Development)

अपने विशाल संसाधनों के बल पर बहुराष्ट्रीय निगम देश के अनुसंधान एवं विकास कार्यो के संवर्द्धन के पर्याप्त प्रयास करने की स्थिति में है । किन्तु राष्ट्रीय निगमों के इस सम्बन्ध में किये गये प्रयास बहुत ही कम रहे है । वे अपने पैतृक देश की तुलना में इस देश में अनुसंधान एवं विकास कार्यो पर नाम-मात्र का धन खर्च करते है ।

12. रोजगार तथा गरीबी की समस्या के हल में योगदान नहीं (No Contribution to Resolution of Problems of Unemployment and Poverty)

बहुराष्ट्रीय निगम आधुनिकतम तकनीक के साथ कार्य करते है । वे जिन क्षेत्रों में अपना निवेश करते है उन क्षेत्रों में अपेक्षाकृत बहुत कम मात्रा में रोजगार के अवसर उत्पन्न होते है । इस प्रकार बहुराष्ट्रीय निगमों की इस देश की दो सबसे महत्वपूर्ण समस्याओं बेरोजगारी एवं निर्धनता के समाधान में कोई विशेष योगदान नही रहा है ।

13. अनावश्यक तथा अनुत्पादक वस्तुओं का उत्पादन (Production of Non-Essential and Non-Productive Goods)

बहुराष्ट्रीय निर्गम 'गैर जरूरी तथा अनुत्पादक वस्तुओं जैसे कोका कोला, पेप्सी कोला, टोमाटो चिप्स बर्जरस, डिजायनर जीन्स, सनग्लास आदि का उत्पादन करते है । इस प्रकार वह कोई अर्थपूर्ण एवं उद्देश्यपूर्ण निवेश नही करते । इससे अर्थव्यवस्था का कोई महत्वपूर्ण भला होने वाला नहीं है ।

14. श्रम का पोषण (Exploitation of Labour)

जिस प्रकार बीते जमाने के बागान मालिकों तथा उद्योगपतियों ने अफ्रिका के समुद्रीतटों तथा डिकन्स जोला तथा होगार्थ की यूरोपीय बस्तियों को सस्ते श्रम के लिए उपयोग किया, आज के बहुराष्ट्रीय

निगम विकासशील तथा अल्पविकसित देशों में अपना उद्योग वहाँ उपलख सस्ते श्रम का उपयोग करने के लिए लगाते है । इस प्रकार वे अपने देश तथा विदेशों में प्रचलित मजदूरी दरों के अन्तर को बनाये रखना चाहते है । वे स्थानीय चातुर्य, योग्यता तथा प्रबन्धकीय कौशल का विकास करने में भी असफल रहे है ।

बहुराष्ट्रीय निगमों के गुण (Merits of MNC's)

अपने अनेक दोषों एवं कमियों के बावजूद भी अल्पविकसित एवं विकासशील देशों के लिए बहुराष्ट्रीय निगम निम्नलिखित रूप में लाभप्रद है :-

(1) ये अल्पविकसित देशों को प्रौद्योगिकी तथा प्रबन्ध सम्बन्धी जानकारी प्रदान करते है ।

(2) बहुराष्ट्रीय निगम विकसित देशों से पूँजी जुटा कर निवेश स्तर में वृद्धि करते है तथा मेजमान देश में अपनी शाखाएँ एवं सहायक कम्पनियाँ खोल कर आय तथा रोजगार के स्तर को बढ़ाने में सहायक होते है ।

(3) बहुराष्ट्रीय निगम एकाधिकार की समाप्ति में सहायक होते है ।

(4) अल्पविकसित देशों में स्थापित अन्य उद्योगों में ये कडी का कार्य करते है ।

(5) बहुराष्ट्रीय निगम प्रबन्ध प्रौद्योगिकी की व्यवस्था करते है इस प्रकार-ज्ञान के भण्डार का निर्माण करते है ।

(6) बहुराष्ट्रीय निगम अल्पविकसित तथा विकासशील देशों में शोध एवं विकास (R&D) के कार्य को बढावा देते है।

(7) बहुराष्ट्रीय निगम अपने मेजमान देश के निर्यातों को बढ़ाकर तथा आयातों में कमी लाकर भुगतान सन्तुलन में अनुकूलता उत्पन्न करने में मदद करते है । ये विश्व व्यापी सूक्ष्मदर्शी (Global Scanner) होते है ।

बहुराष्ट्रीय निगमों के दोष (Demerits of MNC's)

बहुराष्ट्रीय निगमों के क्रिया कलापों को विकासशील तथा अल्पविकसित देशों में कटु आलोचना होती है ।ये आलोचनाएँ इनके निम्नलिखित दोषों के कारण होते है:-

1. ये मेहमान देश में अति अल्परोजगार के अवसर उत्पन्न करते हैं तथा वही फैली विशाल बेरोजगारी की समस्या के समाधान हेतु कोई विशेष योगदान नहीं देते ।
2. अल्पविकसित तथा विकासशील देशों में बहुराष्ट्रीय निगम इस प्रकार की प्रौद्योगिकी लाते है जिन्हे इन देशों द्वारा आसानी से नही अपनाया जा सकता । इस प्रकार ये देश स्थायी रूप से बहुराष्ट्रीय निगमों पर निर्भर हो जाते हैं ।
3. अल्पविकसित तथा विकासशील देशो में बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा अनुसंधान एवं विकास खर्च राशि नाममात्र की होती है । ये निगम प्रौद्योगिकी का हस्तान्तरण अत्यधिक मूल्य पर करते हैं ।
4. बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा मेजमान देश में विनियोजित पूँजी तथा प्रदत्त सेवाओं के बदले किये जाने वाले लाभांश, ब्याज, रायल्टी, पारिश्रमिक आदि का भुगतान दुर्लभ विदेशी मुद्रा से किया जाता है । इससे मेजमान देश से बहुमूल्य विदेशी विनिमय का बाह्य प्रवाह (out flow) होता है । इसके कारण कई बार उन्हे अपनी मुद्रा का अवमूल्यन के लिए विवश होना पडता है ।

5. बहु राष्ट्रीय निगम अपने विशाल संसाधानों एवं आकार के कारण एकाधिकारी स्थिति ग्रहण कर लेते है ।
6. बहु राष्ट्रीय निगम गैर जरूरी, अनुत्पादक तथा दिखावे वाली उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन में संलग्न हो जाते है जिससे सामाजिक कल्याण में कमी होती है तथा उपभोक्ताओं के हित विपरित रूप से प्रभावित होते हैं ।
7. बहु राष्ट्रीय निगम अवांछित क्रियाओं तथा अनुचित एवं प्रतिबन्धित व्यापार व्यवहार में संलग्न हो जाते हैं ।

बहु राष्ट्रीय निगमों का नियमन (Regulation of Multinational Corporations)

इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हु ए कि बहु राष्ट्रीय निगमों के सामर्थ्य एवं क्षमता को देश के विकास के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है अधिकाशं अल्पविकसित तथा विकासशील देशों ने उनको त्यागने के स्थान पर उनकी गतिविधियों को नियन्त्रित करना अधिक उपयुक्त समझा है । इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उपाय काम में लेकर उनकी गतिविधियों का नियमन एवं नियन्त्रण किया जा सकता है :-

1. राष्ट्रीकरण का भय नियमन का एक महत्वपूर्ण शस्त्र है । यद्यपि राष्ट्रीकरण जैसे उपाय का प्रयोग केवल असामान्य स्थिति (Extreme Case) में ही करना चाहिए, किन्तु केवल मात्र यह तथ्य कि राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है बहु राष्ट्रीय निगमों को अनुशासित रूप में कार्य करने हेतु प्रेरित करता है ।
2. सरकार केवल उन क्षेत्रों में जहाँ बहु राष्ट्रीय निगमों के क्रिया कलापों को अत्यधिक उपयुक्त समझा जाता है, बहु राष्ट्रीय निगमों को प्रवेश की अनुमति देकर उनका नियमन कर सकती है ।
3. बहु राष्ट्रीय निगमों को एक निश्चित समय के लिए निवेश करने की अनुमति दी जा सकती है । इस प्रकार उस निश्चित समय के व्यतीत हो जाने के पश्चात् विदेशी पूँजी पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है अथवा क्रमिक विनिवेश का प्रावधान किया जा सकता है ।
4. सरकार के द्वारा बहु-कर प्रणाली को अपनाया जा सकता है जिसके अन्तर्गत बहु राष्ट्रीय निगमों पर अधिक दर से कर लगाया जा सकता है । इस प्रकार इनका नियमन किया जा सकता है।
5. मेजमान देश निर्यात के कुछ मापदण्ड तय कर उनके क्रियाकलापों को नियमित किया जा सकता है ।
6. बहु राष्ट्रीय निगमों को अपने कुल अनुसंधान एवं विकास क्रियाओं का एक निश्चित न्यूनतम हिस्सा मेजमान देश में संचालित करने का निर्देश देकर उनकी गति विधियों का नियमन किया जा सकता है ।
7. बहु राष्ट्रीय निगमों से कृषि जैव प्रौद्योगिकी संरचनात्मक तथा निर्यातोमुखी उद्योगों में नयी एवं उन्नत प्रौद्योगिकी, जो मेजमान देश के लिए साबुन डिटरजेन्टस तथा फाइड चिकन की तुलना अधिक समय तक लाभ प्रदाता होगी, को प्राप्त करने के लिए देश के विशाल घरेलू बाजार को यदि प्रलोभन के रूप मे नही तो, चासनी के रूप में तो अवश्य ही प्रयोग किया जा सकता है ।

स्व: मूल्यांकन अभ्यास

1. बहु राष्ट्रीय निगमों से आप क्या समझते हैं? बहु राष्ट्रीय निगमों की विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।
2. बहु राष्ट्रीय निगमों के लिए विकास के उत्तरदायी कारणों पर प्रकाश डालिए ।
3. बहु राष्ट्रीय निगमों का भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में योगदान का उल्लेख कीजिए
4. बहु राष्ट्रीय निगमों का भारतीय अर्थव्यवस्था पर कुप्रभावों का विवेचन कीजिए ।
5. बहु राष्ट्रीय निगमों के गुणो, दोषों का मुल्यांकन कीजिए ।
6. बहु राष्ट्रीय निगमों के क्रियाकलापों के नियमन के उपाय सुझाइये ।

इकाई-5 व्यावसायिक कार्यालय संगठन

इकाई की रूपरेखा :-

5.0 उद्देश्य
5.1 परिचय: व्यावसायिक कार्यालय संगठन से आशय
5.2 कार्यालय संगठन के सिद्धान्त
5.3 कार्यालय संगठन का महत्व
5.4 कार्यालय संगठन के स्वरूप
5.4.1 लाईन अथवा रेखा संगठन
5.4.2 रेखा एवं कर्मचारी संगठन
5.4.3 क्रियात्मक संगठन
5.4.4 समिति संगठन
5.5 कार्यालय संगठन - स्वरूप का चुनाव
5.6 सारांश
5.7 स्व-परख प्रश्न
5.8 संदर्भ पुस्तकें

5.0 उद्देश्य

कार्यालय एक संस्था का स्नायु-केन्द्र माना जाने लगा है । वर्तमान परिस्थितियों में कार्यालय के बढ़ते महत्व को ध्यान में रखते हुए कार्यालय संगठन के संबंध में विशेष जानकारी हासिल करना आवश्यक हो गया है । प्रस्तुत अध्ययन सामग्री में व्यावसायिक कार्यालय संगठन के परिचय के साथ-साथ किस तरह से इसे अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है तथा इसका क्या महत्व है की जानकारी देना है, साथ ही कार्यालय संगठन के विभिन्न प्रारूपों की तुलनात्मक विस्तृत जानकारी के साथ-साथ किस संस्था के लिए कैसा संगठन प्रारूप अपनाना उपयुक्त रहेगा का अध्ययन भी इस पाठ्य सामग्री से करवाना है ताकि संस्था के उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग किया जा सके एवं कार्यालय क्रियाऐं सतत् चलती रहे ।

5.1 परिचय

व्यावसायिक क्रियाओं में विविधता, अनेकता व जटिलताऐं बढती जा रही है । प्रतिस्पर्द्धा अपनी चरम सीमा में है । ऐसी अवस्था में व्यावसायिक कार्यकलापों को अनेक व्यक्ति मिलकर कार्यालय में संपादित करते है । इनकी इन विभिन्न क्रियाओं में सामंजस्य व समन्वय की आवश्यकता हैं । व्यक्तिगत प्रयासों का उपयोग संस्था के उद्देश्य प्राप्ति में संगठन के माध्यम से ही संभव हो सकता है । जब भी दो या दो से अधिक व्यक्तियों की सेवाऐं काम में ली जानी जरूरी हो जाती है तभी संगठन की आवश्यकता होने लगती है ।

व्यावसायिक कार्यालय संगठन में व्यक्तियों का एक समूह कार्य करता है । अत: उनकी क्रियाओं में सामंजस्य व समन्वय के माध्यम से अधिकतम कुशलता व न्यूनतम लागत पर क्रियाओं का संचालन एक उपयुक्त संगठन प्रणाली से ही संभव है । प्रश्न उठता है कि कार्यालय संगठन क्या है?

कार्यालय संगठन का अर्थ (Meaning of Office Organisation)

कार्यालय संगठन दो शब्दों कार्यालय + संगठन से मिलकर बना है । कार्यालय वह स्थान होता है जो लिपिकीय कार्य हेतु निश्चित किया गया है तथा संगठन का साधारण अर्थ मानवीय क्रियाओं और साधनों से सौद्देश्यपूर्ण संबंध स्थापित करने की विधि से होता है । संगठन का विस्तृत व स्पष्ट अर्थ जानने के लिए कुछ परिभाषाओं का अध्ययन आवश्यक है जो इस प्रकार है-

उर्विक के अनुसार, "किसी कार्य को पूरा करने के लिए कौन-कौन सी क्रियाऐं की जानी है, यह निश्चित करना तथा उन क्रियाओं को संगठन के बीच बांटने की व्यवस्था करना ही संगठन होता है ।"

मूने एवं रेले, "संगठन सामान्य हितों की पूर्ति के लिए बनाया गया व्यक्तियों का समुदाय है ।"

प्रो. हैने के अनुसार, "किसी सामान्य उद्देश्य एवं उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु विशिष्ट अंगों का मैत्रीपूर्ण संयोजन ही संगठन कहलाता है ।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि संगठन वह बल है जो पूर्व निश्चित कार्यो को पूरा करने के लिए मानवीय प्रयत्नों को समन्वित करता है, कौशल प्रदान करता है और पारस्परिक सहयोगपूर्ण संबंधों की स्थापना करता है ।

अत: कार्यालय संगठन कार्यालय संबंधी क्रियाओं को कुशलतापूर्वक निष्पादित करने हेतु उपलब्ध कर्मचारियों के समूह के मध्य क्रियाओं का बटवारा एवं संयोजन करने की क्रिया से है ।

5.2 कार्यालय संगठन के सिद्धान्त (Principles of Office Organisation)

आधुनिक व्यावसायिक गतिविधियाँ जटिल है जो संगठन के आंतरिक वह बाह्य घटको से प्रभावित होती है । संस्था की सफलता कुशल संगठन व्यवस्था पर निर्भर करती है । अत: संगठन का नियोजन करते समय निम्न सिद्धान्तों को ध्यान में रखना आवश्यक है ।

1. **उद्देश्य का सिद्धान्त:** कार्यालय संगठन का यह सिद्धान्त बताता है कि कार्यालय के उद्देश्य निश्चित व स्पष्ट होने चाहिए; साथ ही यह उद्देश्य संस्था के अन्य विभागों के उद्देश्यों के अनुरूप होने चाहिए।
2. **विशिष्टीकरण का सिद्धान्त:** इस सिद्धान्त के अनुसार कार्यालय कर्मचारियों की अधिकतम कार्यकुशलता प्राप्त करने के दृष्टिकोण से प्रत्येक कर्मचारी को वही कार्य सौंपना चाहिए जिसको करने में वह कुशल हो। कार्यालय प्रबंधक को चाहिए कि वह कर्मचारी को उसकी योग्यता के अनुरूप कार्य सौंपे तथा एक व्यक्ति को एक ही कार्य सौंपना चाहिए । इस सिद्धान्त की पालना से कम खर्च पर अधिकाधिक सफलता के साथ लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है ।
3. **सरलता का सिद्धान्त:** कार्यालय संगठन का प्रारूप सरल होना आवश्यक है, ताकि कार्य निष्पादन कम से कम खर्च व समय में संपन्न हो सके । संगठन की जटिलता संदेशो के आदान-प्रदान में भी कठिनाइयाँ पैदा करती है ।

4. **समन्वय का सिद्धान्त:** कार्यालय के प्रत्येक विभाग व कर्मचारियों की क्रियाओं में समन्वय होना चाहिये ताकि अनावश्यक क्रियाओं को रोका जा सकें । मूने तथा रेले के अनुसार, "सभी संगठनों का अंतिम उद्देश्य सरलता से प्रभावपूर्ण समन्वय स्थापित करना है ।"
5. **आदेश की एकता का सिद्धान्त :** कार्यालय के कुशल संचालन के लिए प्रत्येक कर्मचारी को एक हुई अधिकारी से आदेश व निर्देश प्राप्त होने चाहिए । प्रत्येक अधीनस्थ को यह जानकारी होनी चाहिए कि वह किस अधिकारी के प्रति उत्तरदायी है । एक से अधिक अधिकारियों के आदेश मिलने पर भ्रम व संदेह की स्थिति पैदा होती है फलस्वरूप उद्देश्य प्राप्ति में विलम्ब पैदा होता है । यह सत्य है कि "एक व्यक्ति एक ही समय में दो अधिकारियों की सेवा नहीं कर सकता है ।"
6. **अधिकार व उत्तरदायित्व का सिद्धान्त :** यह सिद्धान्त बताता है कि अधिकारों व उत्तरदायित्वों में समानता होनी चाहिए । कार्यालय कर्मचारियों को सौंपे गये उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए पर्याप्त अधिकारों का दिया जाना भी आवश्यक है अन्यथा कर्मचारी अपने दायित्वों की पूर्ति में असमर्थ पाता है ।
7. **नियंत्रण के विस्तार का सिद्धान्त :** प्रभावशाली नियंत्रण के लिए अधिकारी. के अधीन अधीनस्थों की संख्या सीमित होनी चाहिए । इस सिद्धान्त के प्रतिपादक ग्रेकुनाज (Gracunas) के अनुसार, "एक अधिकारी प्रत्यक्ष रूप से पाँच या छः अधीनस्थों से अधिक का निरीक्षण नही कर सकता ।" उर्विक के अनुसार, "उच्च पदाधिकारियो के लिए सहायक कर्मचारियों की आदर्श संख्या 4 है तथा संगठन के निम्न स्तर पर जहां, सौंपे हुए कार्यो का निष्पादन किया जाता है, न कि पर्यवेक्षण, यह संख्या 8 से 12 हो सकती है ।" संगठन की रचना करते समय इन बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है ।
8. **सोपानिकता का सिद्धान्त :** कार्यालय संगठन में यह स्पष्ट होना चाहिए कि विभिन्न स्तरों पर कार्य करने वाले अधिकारियों व अधीनस्थों के आपसी संबंध कैसे है । कौन व्यक्ति किसकी अधीनता में कार्य करेगा । संगठन में ऊपर से नीचे तक औपचारिक अधिकार रेखा स्पष्ट होनी चाहिए । अधिकारियों व कर्मचारियों के पदसोपान संगठन चार्ट द्वारा दिखाये जावें ।
9. **कार्यो की एकता का सिद्धान्त :** कार्यालय के अनेक विभागों की स्थापना अलग-अलग कार्यो का संपादन करने के लिए की जाती है । इन सभी विभागों की क्रियाओं में आपसी समन्वय आवश्यक है ताकि कार्यालय तय लक्ष्यों को आसानी से प्राप्त कर सकें ।
10. **अंतिम दायित्व का सिद्धान्त :** विशिष्टीकरण के सिद्धान्त का पालन करके कार्यो का विभाजन कर दिया जाता है तथा अधिकार व दायित्वों का भी निर्धारण कर दिया जाता है लेकिन अंतिम दायित्व उच्चधिकारियों का ही होना चाहिए । यह पूर्व निर्धारित होना चाहिए कि कार्य के प्रति अंतिम उत्तरदायित्व किस अधिकारी का होगा।
11. **अपवाद का सिद्धान्त :** इस सिद्धान्त के अनुसार दिन-प्रतिदिन के कार्यो के लिए अधीनस्थों को अधिकार दे दिये जाने चाहिए तथा केवल अपवादजनक परिस्थितियो में ही उच्चाधिकारियों को निर्णय लेने का अधिकार होना चाहिए । इस सिद्धान्त का प्रतिपादन वैज्ञानिक प्रबन्ध के जन्मदाता एफ.डब्ल्यू टेलर ने किया ।

12. **आवश्यक सुविधाओं का सिद्धान्त :** प्रभावशाली कार्यालय संगठन के सुचारू रूप से संचालन के लिए आधुनिक सुविधाऐं तथा उपकरण-यंत्रों का होना आवश्यक है ताकि समय व धन की बचत हो सके तथा कर्मचारी अपना कार्य कुशलतापूर्वक संपादन कर सकें ।
13. **सरलता का सिद्धान्त :** संगठन का प्रारूप सरल होना चाहिए ताकि कार्यालय कार्य निष्पादन कम से कम समय व खर्च में सम्पन्न हो सके । संगठन की जटिलता अनेक कठिनाईयाँ पैदा करती है ।
14. **लोचशीलता का सिद्धान्त :** इस सिद्धान्त के अनुसार आवश्यकतानुसार संगठन संरचना में परिवर्तन लाने की स्थिति को इंगित करता है ताकि कार्यालय कार्य-कुशलता में वृद्धि की जा सकती है ।
15. **निरंतरता का सिद्धान्त :** यह सिद्धान्त बतलाता है कि परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन की स्थिति में भी कार्यालय कार्य में किसी तरह की बाधा न हो तथा परिवर्तनों का समायोजन करते हुए भी कार्यालय कार्य में निरंतरता बनी रहे ।
16. **व्यवस्था का सिद्धान्त :** कार्यालय संगठन में समस्त कर्मचारियों व अधिकारियों के अधिकार व दायित्वों का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए ताकि सभी कर्मचारी अपनी सीमाओं में कार्य करने में सक्षम हों तथा कार्य का दोहराव भी न हो ।

5.3 कार्यालय संगठन का महत्व (Importance of Office Organisation)

कार्यालय की कुशलता ही एक संस्था की सफलता-असफलता का आधार है । अत: प्रत्येक संस्था का मुख्य प्रयास कार्यालय को अधिकतम कार्यक्षम बनाना होता है । उसके लिए कार्यालय में आधुनिकतम सुविधाओं से लैंस करने के साथ-साथ कर्मचारियों का योजनाबद्ध रूप से कार्य करना भी आवश्यक है । कुशल कार्यालय संगठन की सफलता से कर्मचारियों की कुशलता और निपूर्णता का अधिकतम उपयोग संस्था के हित में करने में सफलता प्राप्त की जा सकती है । एलन का कहना है कि "सुदृढ संगठन ही उपक्रम को सफलतापूर्वक चलाने में महान योगदान दे सकता है ।" कार्यालय संगठन का महत्व निम्नलिखित है -

1. **प्रबंधकीय क्षमता में वृद्धि:** कुशल संगठन से प्रबंधकीय कार्यक्षमता में वृद्धि की जा सकती है । इससे कार्यो के दोहराव को रोका जा सकता है, कार्य निष्पादन में मितव्ययिता लाई जा सकती है, आपसी समन्वय व सामजस्य स्थापित होता है । इस सबके परिणामस्वरूप प्रबंध कार्य सुचारू रूप से संपन्न कर क्षमता में वृद्धि होना स्वाभाविक है ।
2. **कर्मचारियों के मनोबल में वृद्धि:** अच्छे संगठन की सहायता से कर्मचारियों के मध्य स्पष्ट रूप से कार्यो का विभाजन उनकी रूचि व योग्यता के अनुसार कर उत्तरदायित्वों का निर्धारण कर दिया जाता है । साथ ही उन्हें आवश्यक अधिकार भी देता है । परिणामस्वरूप कर्मचारी को अपनी कार्यदशाओं से पूर्ण संतोष मिलता है तथा ज्यादा से ज्यादा कार्य करने को प्रेरित होता है । फलत: कर्मचारियों का मनोबल बढ़ जाता है ।
3. **कार्यक्षेत्र का स्पष्ट विभाजन:** संगठन संरचना के द्वारा प्रत्येक कर्मचारी एवं अधिकारी के मध्य कार्यक्षेत्र का स्पष्ट विभाजन कर दिया जाता है जिससे कार्यो का दोहराव तथा अधिकारों के टकराव

की स्थिति पैदा नही होती । कर्मचारियों में आपसी सहयोग की भावना पैदा होती है तथा संस्था के हित में कार्य करने को प्रेरित होते हैं।

4. **विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन:** लक्ष्य प्राप्त करने हेतु कार्य को विभिन्न क्रियाओं में विभक्त करने के बाद उपयुक्त कर्मचारियों में बाँट दी जाती है । इससे संस्था को विशिष्टीकरण के लाभ मिलने लग जाते हैं । कर्मचारियों की योग्यता का अधिकतम उपयोग करने में सफल हो पाते हैं ।
5. **अधिकार प्रत्यायोजन कार्य में सुविधा :** संगठन संरचना तैयार करते समय निर्धारित कर लिया जाता है कि किस व्यक्ति को कौन-कौन सा काम सौंपा जाये, वह किसके अधीन कार्य करेगा तथा उसके अधीन कौन और कितने व्यक्ति होंगे । संगठन चार्ट से यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है इससे अधिकारी संबंधित व्यक्ति को संबंधित कार्य एवं पर्याप्त अधिकार दे सकता है ।
6. **समन्वय में सुविधा :** कार्य विभक्तीकरण एवं विशिष्टीकरण के लाग करने से समन्वय की समस्या का जन्म होता है । विभिन्न कर्मचारी और विभाग मिलकर लक्ष्य प्राप्ति में संलग्न रहते हैं अत: इनकी क्रियाओं के दोहराव पर अंकुश रखना आवश्यक है । यह कार्य समन्वय द्वारा संभव है । समन्वय क्रिया में योजना अनुसार विभिन्न कर्मचारियों एवं अधिकारियों, विभागों एवं उपविभागों के मध्य आपसी सामंजस्य स्थापित कर दिया जाता है जिससे लक्ष्य प्राप्ति में सुविधा रहती है।
7. **नियंत्रण में सुविधा :** संगठन के माध्यम से प्रभावी नियंत्रण में सुविधा मिलती है । कर्मचारियों व अधिकारियों को प्रदत्त अधिकार व दायित्व के अनुरूप कार्य संपादित हो रहा है अन्यथा नही इसकी आसानी से जानकारी मिल जाती है । परिणामस्वरूप कार्य व्यवस्था निर्धारित स्वरूप में सम्पादित हो जाती है ।
8. **संस्था के विकास एवं उन्नति में सहायक :** सुदृढ़ कार्यालय संगठन संस्था के प्रति निष्ठा की भावना जागत करता है । संस्था में सौहार्दपूर्ण माहौल बनता है तथा आपसी समझ व अनुशासन की स्थिति पैदा होती है । परिणामस्वरूप संस्था के विकास में तीव्रता आती है । सुव्यवस्था के फलस्वरूप कर्मचारी व अधिकारीगण प्रसन्न रहते हैं । इसका लाभ भी संस्था के हित में होता है ।

5.4 कार्यालय संगठन के स्वरूप (Forms office Organisation)

कार्यालय कार्य को सम्पादित करने के लिए क्रियाओं के निर्धारण एवं संचालन की सुव्यवस्था स्थापित करने की आवश्यकता होती है जो सफलता का आधार होता है । संख्या के आकार बढने के साथ-साथ इसमें भी परिवर्तन की आवश्यकता होती है इसके माध्यम से कार्यरत व्यक्तियों की स्थिति एवं संबंधों का निर्माण किया जाता है । **बेच (Brech)** ने लिखा भी है संगठन संरचना प्रबन्ध की कार्यकुशलता का महत्वपूर्ण तत्व है, अत: इस पर बहुत ही सावधानी एवं बुद्धिमानी से विचार करने की आवश्यकता होती है ।

कार्यालय संगठन के विभिन्न स्वरूप निम्नलिखित है इसमें से किस स्वरूप को अपनाए यह कार्यालय की प्रकृति, आकार, क्षेत्र एवं कार्यप्रणाली पर निर्भर करता है ।

5.4.1 लाईन अथवा रेखा संगठन (Line Oranisation)

संगठन का यह स्वरूप सबसें प्राचीन एवं सरलतम है । इसे सैनिक संगठन या लम्बवत संगठन भी कहते है । इस संगठन में क्रियायें विभिन्न विभागों में विभक्त की जाती है । प्रत्येक विभाग के

विभागाध्यक्ष अपने विभाग के कार्य के लिए उत्तरदायी होते है । इसमें निर्देशन एवं आदेश रेखाबद्ध होते है तथा अधिकार एवं दायित्व रेखा सीधे क्रम से ऊपर से नीचे की ओर चलती है ।

मेकफारलैंड के अनुसार, "रेखा संगठन के प्रत्यक्ष शीर्ष सम्बन्ध होते है जो प्रत्येक स्तर की स्थाति और कार्यो को ऊपर और नीचे के स्तरों से जोड़ते हैं ।"

लुइस ए.एलन के शब्दो में, "रेखा आदेश की वह श्रृंखला है जो संचालक मण्डल के विभिन्न प्रत्यायोजनों एवं पुन: प्रत्यायोजनों द्वारा अधिकारों एवं दायित्वों को उस बिन्दु तक पहुँचाती है जहां पर कम्पनी की मुख्य क्रियाएं को पूरा किया जाता है ।"

संक्षेप में इस संगठन प्रारूप में एक व्यक्ति अपने ही स्तर के व्यक्तियों को न आदेश देता है औंर न उनसे आदेश प्राप्त ही करता है -

लक्षण - रेखा संगठन के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित है -

1. इस स्वरूप के आदेश रेखाबद्ध रूप से ऊपर से नीचे की ओर चलते हैं ।
2. सभी आदेश केवल एक ही अधिकारी द्वारा जारी किये जाते हैं ।
3. इसमें अधिकारियों एवं अधीनस्थों के बीच लम्बवत् संबंध होते हैं ।
4. प्रत्येक कर्मचारी या अधीनस्थ अपने निकटतम अधिकारी से आदेश प्राप्त करता है ।
5. सभी कार्यो का अन्तिम दायित्व सर्वोच्च अधिकारी का होता है ।
6. इस प्रकार के संगठन में विशिष्टीकरण सम्भव नहीं ।
7. इसमें समन्वय में सरलता रहती है ।
8. इसमें क्रियान्वयन आसानी से किया जा सकता है ।

रेखा संगठन दो प्रकार का हो सकता है -

1. शुद्ध रेखा संगठन
2. विभागीय रेखा संगठन

(1) शुद्ध रेखा संगठन (Pure Line Organisation)

रेखा संगठन के इस प्रारूप में एक ही स्तर पर कार्य करने वाले सभी कर्मचारियों की क्रियायें लगभग समान प्रकार की ही होती. है तथा इन क्रियाओं को नियंत्रण की सुविधा की दृष्टि से उन्हे वर्गीकृत किया जाता है । इस प्रकार का स्वरूप आजकल बहुत ही कम प्रयोग में आता है । चार्ट द्वारा इसे प्रदर्शित किया जा रहा है -

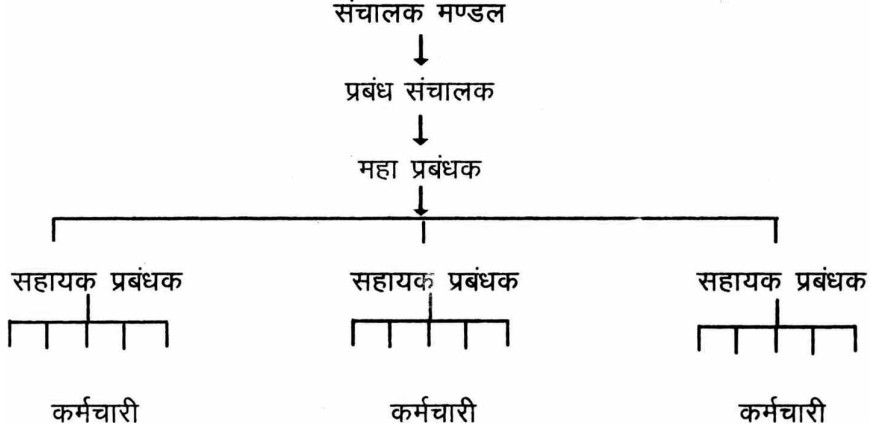

(2) विभागीय रेखा संगठन:

इस प्रारूप में कार्यालय संबंधी सभी क्रियायें विभिन्न विभागों में विभक्त कर दी जाती है और प्रत्येक ईकाई एक आत्मनिर्भर ईकाई के रूप में कार्य करती है । प्रत्येक विभाग एक अलग प्रकृति का कार्य करता है जिसके लिए आदेश एवं निर्देश सर्वोच्च अधिकारियों से प्राप्त होते है । प्रत्येक विभाग का एक मुखिया या अध्यक्ष होता है जो अपने विभाग के कार्यो के लिए उत्तरदायी होता है । चार्ट द्वारा इस स्वरूप को दर्शाया जा रहा है -

रेखा संगठन के गुण (Merits)

(1) यह संगठन का अत्यन्त सरल प्रारूप है ।

(2) इसमें अधिकारों का केन्द्रीकरण बना रहता है ।

(3) अधीनस्थ कर्मचारियों पर एक ही व्यक्ति का अधिकार रहने के कारण एकात्मक नियंत्रण बता रहता है ।

(4) निर्णय लेने का अधिकार एक ही व्यक्ति के हाथों में सुरक्षित रहने के कारण निर्णय जल्दी और आसानी से लिये जा सकते है तथा शीघ्र क्रियान्वयन किया जा सकता है ।

(5) बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन करना डस स्वरूप में सरल है । इसमें लचीलापन पाया जाता है।

(6) कर्मचारियों और अधिकारियों के अधिकार एवं नियंत्रण क्षेत्र निश्चित होने के कारण कर्मचारियों में पर्याप्त अनुशासन बना रहता है ।

(7) इस प्रारूप में शीघ्र व प्रभावी संदेशवाहन संभव है ।

(8) विभाग की क्रियाओं पर एक ही व्यक्ति का नियंत्रण होने के कारण विभिन्न क्रियाओं में समन्वय आसानी से स्थापित किया जा सकता है ।

(9) कर्मचारियों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते है ।

(10) लालफीताशाही नहीं पनप सकती है ।

दोष (Disadvantages)

यह प्रारूप दोषमुक्त नहीं है इसके अनेक दोष भी है, वे निम्नलिखित है -

(1) इस स्वरूप में एक ही अधिकारी को समरस कार्य करने होते है परिणामस्वरूप विशिष्टीकरण के लाभ उठाने से वंचित रह जाते है ।

(2) प्रबंध के समस्त कार्यो को सम्पादित करने के लिए सर्वगुण सम्पन्न व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है, जिनका मिलना कठिन है । विभाग व संगठन की सफलता या असफलता उसके अध्यक्ष की कुशलता पर निर्भर करती है ।

(3) इस संगठन प्रारूप में एकतंत्रीय पद्धति होने के कारण तानाशाही और लालफिताशाही जैसी बुराईयाँ व्याप्त है । अधीनस्थ व्यक्ति को आज्ञा पालन करनी होती है ।

(4) अधीनस्थों में प्रबंध की योग्यता का विकास नहीं हो पाता है तथा उनकी कार्य स्वतंत्रता भी समाप्त हो जाती है।

(5) निर्णयों में शीघ्रता कभी-कभी हानिप्रद सिद्ध होती है ।

(6) विभागाध्यक्ष की अनुपस्थिति, स्थानान्तरण तथा मृत्यु हो जाने पर संगठन व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है।

(7) वृहत आकार के कार्यालयों में जहां कार्य करने वाले कर्मचारियों की संख्या बहुत ज्यादा है । यह पद्धति अनुपयुक्त सिद्ध होती है ।

(8) इस प्रारूप व्यवस्था में विशेषज्ञों का स्थान नहीं होने का कारण उनके परामर्श का लाभ नहीं उठाया जा सकता है ।

(9) इस पद्धति में न तो अच्छे कर्मचारियों को प्रेरणा देने की पुरस्कार व्यवस्था होती है और न ही दोषी व्यक्तियों को दण्ड देने की व्यवस्था ।

(10) विभागाध्यक्ष पर कार्यभार और उत्तरदायित्व अत्यधिक रहता है ।

उपयुक्तता (Suitability)

उपर्युक्त विश्लेषण के बाद यह प्रारूप छोटे विभागों व संगठन के लिए उपयुक्त कहा जा सकता है । यह निम्न दशाओं में अपनाया जा सकता है -

(1) विभाग का आकार बहुत बड़ा न हो तथा काम करने वाले कर्मचारियों की संख्या सीमित हो ।

(2) जब कार्यक्षेत्र सीमित हो ।

(3) जहां विशिष्टीकरण की आवश्यकता न हो ।

(4) जहां कर्मचारी अनुशासित हो ।

5.4.2 रेखा तथा कर्मचारी संगठन (Line and Staff Organisation)

बढ़ती हुई जटिलताओं के परिणामस्वरूप रेखा संगठन अपर्याप्त सिद्ध हुआ और रेखा संगठन के दोषों को दूर करने के लिए रेखा एवं कर्मचारी संगठन का प्रादुर्भाव हुआ । इस प्रकार के प्रारूप में अधिकार सीधी रेखा या लम्बवत् रूप से ही चला है किन्तु प्रत्येक कार्य के लिए एक विशेषज्ञ नियुक्त किया जाता है जो अधिकारियों को उनके कार्यो में अपना विशिष्ट परामर्श देता है । किन्तु यहां पर यह कर देना भी आवश्यक होगा कि विशेषज्ञ के परामर्श को मानना या न मानना पूर्णत: अधिकारी की इच्छा पर निर्भर करता है अर्थात् अधिकारी विशेषज्ञ के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नही है।

लुइस ए.एलन के अनुसार, "लाईन का आशय उन पदों एवं तत्वों से होता है जो संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उत्तरदायी होते है । स्टाफ अथवा सहायक का आशय उन पदों एवं तत्वों से होता है जो लाईन अधिकारियों को अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए आवश्यक परामर्श और

सहायता देते है ।" इसी क्रम में मूने के अनुसार, "संगठन में कर्मचारी सेवा का आशय परामर्श से होता है जो अधिकार या निर्देशन से भिन्न होता है ।"

वर्तमान अवस्था में संगठन का यह प्रारूप विशेष महत्व रखता है । व्यावसायिक क्षेत्र में बढती जटिलता के परिणामस्वरूप विशेषज्ञों की आवश्यकता एवं महत्व अधिक होता जा रहा है । आज प्रबंधक को अधिक जागरूक, विवेकशील, चतुर व ज्ञानवान होने के साथ-साथ सर्वगुण सम्पन्न होना जरूरी है जो एक ही व्यक्ति में होना असंभव है । परिणामस्वरूप उसके सहयोग व परामर्श के लिए विशेषज्ञ की सहायता जरूरी है जो इस प्रारूप में सुलभ है जिसका लाभ संगठन को प्राप्त होता है । इस संगठन प्रारूप में विशेषज्ञों का प्रमुख कार्य अनुसंधान करना, तथ्यों का पता लगाना तथा अधिकारियों को सलाह देना होता है । विशेषज्ञ आदेश नहीं देते है, बल्कि सुझाव देते है, जिसको क्रियान्वित करना अथवा न करना रेखा अधिकारियों पर निर्भर करता है ।

विशेषताएँ -

इस प्रारूप की विशेषताऐं निम्न स्वरूप है :-

(1) कार्यो का विभाजन स्वतंत्र विभागों में किया जाता है ।

(2) इसमें भी सभी आदेश एवं निर्देश क्रमश: लम्बवत् रूप में चलते है ।

(3) इसमें अधिकारियों को विशेषज्ञों की सलाह उपलब्ध होती है जिससे निर्णय लेने में सुविधा रहती है ।

(4) अधिकारी विशेषज्ञों की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं होते है ।

(5) कार्य करना व सोचना दोनों कार्य अलग-अलग हो जाते है ।

(6) कार्य संपादन का अंतिम दायित्व रेखा अधिकारी पर होता है ।

लाभ (Advantages)

रेखा एवं कर्मचारी संगठन अपनाने के निम्न लाभ है :-

(1) विशेषज्ञों की सलाह का लाभ रेखा अधिकारियों को प्राप्त होने के कारण विशिष्टीकरण का लाभ संगठन को प्राप्त होता है ।

(2) विशेषज्ञों द्वारा केवल परामर्श ही नहीं बल्कि रेखा अधिकारियों के कार्य पर सतत् निगाह भी रखी जाती हैं । इससे कार्य सर्वोत्तम ढंग से होता है तथा निरंतर मूल्यांकन के गलत प्रयोग भी रोके जा सकते है ।

(3) विशेषज्ञों की सलाह के समावेश से निर्णय सही एवं शीघ्र लेने में सहायता मिलती है ।

(4) रेखा अधिकारियों के कार्य के बोझ को हल्का करता है ।

(5) लोचशीलता का गुण व्याप्त है । व्यवसाय के बढ़ने के साथ-साथ संगठन का आकार भी बढ़ाया जा सकता है।

(6) यह प्रारूप मितव्ययितापूर्ण है ।

(7) विशेषज्ञ निरंतर अनुसंधान कार्य में संलग्न रहते है जिसका लाभ भी इस संगठन को प्राप्त होता है ।

(8) इसमें प्रबंधकीय योग्यता का विकास होता है ।

दोष (Demerits)

उपरोक्त लाभों के बावजूद पर्याप्त सावधानी न रखे जाने पर इस व्यवस्था में कुछ दोष भी संभव है जो निम्न प्रकार से है :-

(1) इस प्रारूप में विशेषज्ञों को नियुक्त करने होते है । अत: उन्हें भारी वेतन, भत्ते व सुविधाएँ तथा उनके अनुसंधान कार्य पर भारी राशि खर्च करनी पड़ती है अत: यह खर्चीली प्रणाली है।

(2) छोटे आकार वाली संस्थाओं के लिए व्यावहारिक नहीं है ।

(3) विशेषज्ञों एवं रेखा अधिकारियों में मत भिन्नता तथा एक दूसरे का दृष्टिकोण ठीक से नहीं समझने के कारण संघर्ष की स्थिति बन जाती है जो हानिकारक है ।

(4) विशेषज्ञों द्वारा दिये परामर्श से हानि होने की अवस्था में उन्हें उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता है ।

(5) रेखा अधिकारियों द्वारा सामान्यत: विशेषज्ञों की उपेक्षा की जाती है तथा उनके परामर्श को तरजीह नहीं दी जाती जिससे विशेषज्ञों के स्वाभिमान का हनन होता है तथा. उनके ज्ञान का लाभ संस्था या संगठन को प्राप्त नहीं होता ।

(6) विशेषज्ञ अधिकारी केवल परामर्श देते है लेकिन उनको स्वीकार करने का अधिकार नहीं होने के कारण वे प्रभावहीन हो जाते है ।

(7) लाईन अधिकारियों की निर्भरता विशेषज्ञों पर होने के कारण आत्मनिर्भरता की अवस्था समाप्त हो जाती है तथा विवेकशीलता व निर्णय लेने में परेशानी का सामना करना होता है ।

(8) निर्णय में देरी होती है क्योंकि बात-बात पर निर्णय हेतु परामर्श की लम्बी प्रक्रिया से गुजरना होता है ।

(9) रेखा अधिकारियों व विशेषज्ञों में समन्वय करना कठिन कार्य हैं ।

(10) यह प्रारूप छोटे आकार वाली संस्था व बहुत बड़े आकार वाली संस्था के लिए उपयुक्त नहीं होता है । केवल मध्यम श्रेणी की संस्था हेतु ही उपयुक्त हैं ।

रेखा तथा स्टाफ संगठन प्रारूप का चित्र

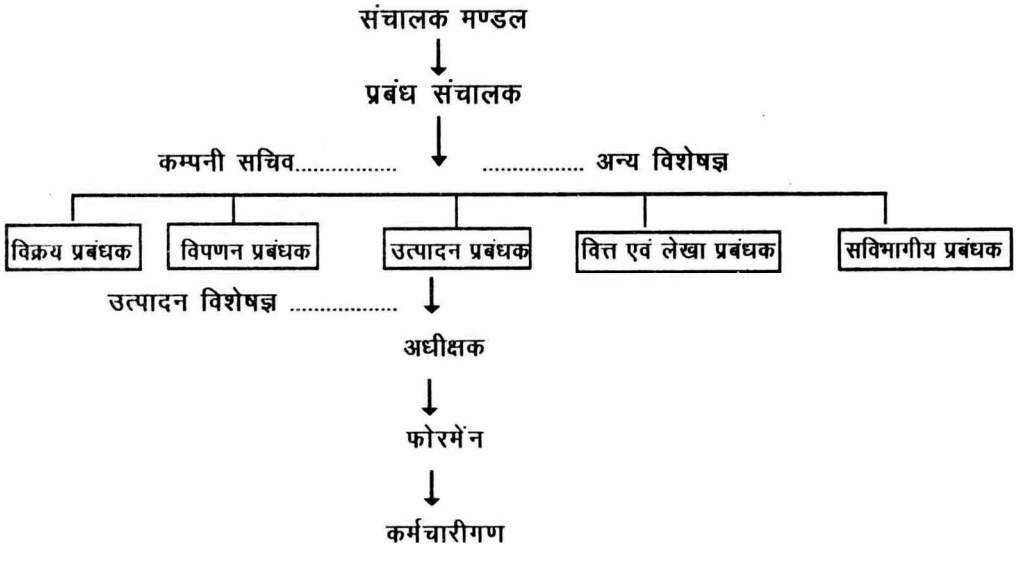

"रेखा तथा रेखा एवं स्टाफ" संगठन में अन्तर

अन्तर का आधार	रेखा संगठन	रेखा एवं स्टाफ संगठन
1. विशेषज्ञ	इस संगठन प्रारूप में रेखा अधिकारियों को परामर्श देने हेतु कोई विशेषज्ञ नहीं होता है ।	इस प्रारूप में रेखा अधिकारियों को परामर्श देने हेतु विशेषज्ञ उपलब्ध रहते है ।
2. दायित्व	इस प्रारूप में रेखा अधिकारियों का ही प्रमुख दायित्व होता है कि अपने अधिकारों का उपयोग कर संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त किया जावे ।	इस प्रारूप में स्टाफ विशेषज्ञ का दायित्व है कि वह रेखा अधिकारियों को परामर्श दे ताकि वे उस परामर्श के आधार प संस्था के उद्देश्य प्राप्त कर सके। ।
3. अनुशासन	इसमें आदेश व निर्देश की एकता बनी रहने के कारण में कड़ा अनुशासन बना रहता है ।	इसमें तुलनात्मक रूप अनुशासन शिथिलता आ जाती है । संस्था के उद्देश्य प्राप्त कर सकें ।
4. विवाद	इसमें केवल एक ही रेखा अधिकारी होने के कारण आपसी विवाद का प्रश्न ही नहीं उठता ।	इस प्रारूप में रेखा अधिकारी के साथ-साथ स्टाफ या विशेषज्ञ का अस्तिव भी होता है अत: इनमें विवाद की संभावना होती है ।
5. यश या अपयश	समस्त जिम्मेदारी के लिए एक ही अधिकारी होने के कारण समग्र यश या उपयश उसी को प्राप्त होता है ।	इसमें सफलता या असफलता की स्थिति में दोनो ही अधिकारी यश या अपयश पाते है । अपयश या असफलता का सेहरा एक दूसरे के सिरे पर बांधते रहते है

5.4.3 क्रियात्मक संगठन (Functional Organisation)

वैज्ञानिक प्रबंध के जन्मदाता एफ.डब्ल्यू टेलर इस संगठन प्रारूप के जनक माने जाते है । टेलर के अनुसार, "क्रियात्मक प्रबंध से आशय प्रबंध के इस प्रकार विभाजन से है जिसमें सहायक अधीक्षक से लेकर नीचे तक के व्यक्तियों को इतने कम कार्य दिये जायें जितने व आसानी से पूरे कर सकें । यदि संभव हो तो प्रबंध के प्रत्येक व्यक्ति को केवल एक ही महत्वपूर्ण कार्य दिया जाना चाहिए ।"

एल.के. जॉनसन (L.K.Johnson) के अनुसार, "क्रियात्मक संगठन वह संगठनात्मक व्यवस्था है जिसमें अधिकार की रेखाऐं कई क्रियात्मक विशेषज्ञों के मध्य से होती हुई प्रत्येक श्रमिक तक पहुंचती है, अधिकार का प्रत्येक स्तर योजना एवं अपने अधीनस्थों के सम्पूर्ण नहीं बल्कि कुछ कार्यो के लिए उत्तरदायी होता है ।"

इस प्रकार क्रियात्मक संगठन में प्रत्येक कार्य को छोटे-छोटे भागों में बाँट दिया जाता है । कार्य के प्रत्येक छोटे भाग के लिए एक विशेषज्ञ नियुक्त किया जाता है तथा वह विशेषज्ञ अपने संबंधित कार्य को करवाने के लिए आदेश व निर्देश दे सकता है और पूरा अधिकार रखता है । इसमें विशेषज्ञ केवल परामर्शदाता नहीं बल्कि उसे सहायक अधिकारी व कर्मचारियों को आदेश देने का अधिकार भी

मिल जाता है । इसमें अधीनस्थ कर्मचारी को विभिन्न विभागाध्यक्षों से आवश्यक निर्देश प्राप्त होते है तथा उनके प्रति उत्तरदायी भी होते है । फलस्वरूप संभव है कि कर्मचारियों को परस्पर विरोधी निर्देश दिये जायें और उनमें भ्रम उत्पन्न हो जाये । यह संगठन भी व्यावसायिक गृहों में कम देखने को मिलता है ।

लक्षण (Characteristics)

इस प्रारूप की प्रमुख विशेषताऐं निम्न है :-

(1) इस संगठन प्रारूप में प्रत्येक कार्य को कई भागों में बांटा जाता है ।

(2) प्रत्येक कार्य संबंधित विशेषज्ञ को सौंपा जाता है ।

(3) प्रत्येक विशेषज्ञ परामर्श के साथ-साथ आदेश एवं निर्देश देने का अधिकार रखते है ।

(4) विशेषज्ञ केवल अपने क्षेत्र में ही आदेश एवं निर्देश दे सकता है ।

(5) अधिकार रेखाऐं लम्बवत् चलती है ।

(6) प्रत्येक निर्णय लेने में विशेषज्ञों का परामर्श परमावश्यक होता है ।

लाभ (Merits)

(1) इस संगठन प्रारूप में विशेषज्ञों का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है ।

(2) प्रबंधक तकनीकी कार्यो के बोझ से मुक्त हो जाता है ।

(3) इससे श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण को बढ़ावा मिलता है । इस प्रणाली में एक व्यक्ति हर समय एक ही कार्य करता है जिससे उस कार्य में दक्षता और विशिष्टता प्राप्त कर लेता है ।

(4) इसमें कार्य विभाजन व्यक्ति की रूचि और योग्यता के अनुसार किया जाता है उसे अधिक से अधिक करने की प्रेरणा मिलती है ।

(5) विशेषज्ञों द्वारा श्रेष्ठ कार्य की तकनीक तथा निरंतर सुधार करने से कार्यकुशलता में वृद्धि होती है ।

(6) विशेषज्ञ निरंतर अनुसंधान कार्य में लगे रहते है जिसका लाभ संगठन को प्राप्त होता है ।

(7) इस प्रणाली में निर्णय शीघ्र और सरलता से लिये जा सकते है तथा उनका क्रियान्वयन भी जल्दी किया जा सकता है।

(8) इस प्रारूप में मितव्ययिता लाई जा सकती है ।

दोष (Demerits)

इस संगठन प्रारूप में आदेश की एकता (Unity of Command) की अवहेलना होती है । जिससे उत्तरदायित्व निर्धारण करना कठिन हो जाता है तथा कर्मचारियों में उत्तरदायित्व से बचने की भावना विकसित हो जाती है ।

कर्मचारी को अनेक विशेषज्ञ अधिकारियों से आदेश प्राप्त करने होते है । परिणामस्वरुप निष्पादन प्रक्रिया कठोर हो जाती है ।

इस प्रारूप में अधीनस्थों का कार्यभार बढ़ जाता है ।

कार्य के अत्यधिक विभाजन के कारण समन्वय की समस्या पैदा हो जाती हैं । साथ ही अधिकारियों का महत्व विशेषज्ञों की तुलना में कम होने के कारण यह समस्या ज्यादा जटिल हो जाती है ।

यह प्रणाली अत्यधिक खर्चीली व जटिल हैं, सामान्य संगठनों में इसे व्यवहार में लाना कठिन होता है ।

कर्मचारियों को अनेक विशेषज्ञों के आदेश मिलने के कारण कार्य में शिथिलता आ जाती है जिससे अनुशासन में कमी आती है ।

अनेक विशेषज्ञों द्वारा कार्य सम्पादित करने के कारण उनके मध्य संघर्ष अथवा प्रतिद्वन्हिता का जन्म होता है जिससे संगठन पर बुरा प्रभाव पड़ता है ।

यह प्रणाली छोटे संस्थाओं के लिए अनुपयुक्त है ।

प्रयुक्तता :-

इस प्रारूप की विशेषताऐं देखकर यह स्पष्ट है कि यह उन व्यावसायिक संस्थाओं के लिए उपयुक्त रहता जो भीमकाय उत्पादन एवं विक्रय कार्य करती है तथा जिस संस्था में पर्याप्त मात्रा में विशिष्टीकरण करना प्रद हो । ऐसी अवस्था में अधिकतर संगठनों में रेखा तथा कर्मचारी संगठन अपनाया जाने लगा है जिसमें इस रुप के लाभ के साथ-साथ मितव्ययिता एवं लोचशीलता का गुण भी पाया जाता है ।

चित्र द्वारा क्रियात्मक संगठन का प्रारूप

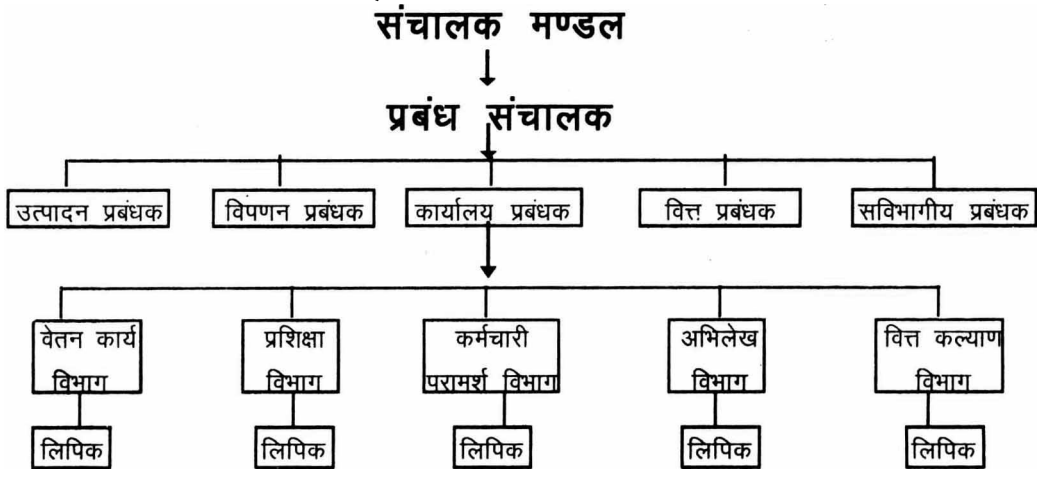

5.4.4 समिति संगठन (Committee Organisation)

वर्तमान में संगठन का एक अन्य स्वरूप 'समिति संगठन' प्रचलन में है । यद्यपि इसके बारे में कई आलोचनाऐं की जाती है और इसकी श्रेष्ठता पर भी संदेह व्यक्त किया जाता है फिर भी इसका प्रयोग अनेक बड़े व्यावसायिक संगठनों में किया जा रहा है । सामूहिक विचार-विमर्श और निर्णय इरा संगठन की प्रमुख विशेषताऐं है ।

उर्विक (Urvick) के शब्दों में, "समिति व्यक्तियों का समूह होती है जिन्हें इस शर्त पर कुछ कार्य सौंपे जाते है कि वे इन कार्यो को मिलकर तथा सामूहिक रूप में करेंगें ।"

टेरी (Terry) के अनुसार, "समिति चुने हुए या नियुक्त किये हुए व्यक्तियों की एक संस्था है जो उन मामलों पर विचार-विमर्श के लिए संगठित आधार पर मिलते है, जो उनके समक्ष लाये जाते है ।"

डब्ल्यू एच. न्यूमैन के अनुसार, "एक समिति व्यक्तियों का समूह होता है जो किसी प्रशासनिक कार्य को करने के लिए नियुक्त की जाती है ।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि समिति चुने हुए या नियुक्त किये हुए या नामांकित व्यक्तियों का एक समूह होता है जो इसे सौंपे गये मामलों पर विचार-विमर्श करती है और अपना प्रतिवेदन देती है। भारत में इस संगठन प्रारूप का उपयोग बडे व्यावसायिक गृहों में प्रयोग किया जाता है । समिति के सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे उन्हें सौंपी गई समस्याओं का गहन अध्ययन कर स्वतंत्र विचार प्रगट करेंगें ।

उद्देश्य : -

समिति संगठन की स्थापना प्राय: निम्न उद्देश्यों के लिए किया जाता है -

(1) समन्वय समिति संगठन का उद्देश्य संगठन के प्रत्येक स्तर पर विद्यमान विभिन्न भागों एव उनके कार्यो के मध्य समन्वय स्थापित करना होता है । विभिन्न विभागाध्यक्षों के मध्य परामर्श को आसान एवं निरंतर जारी रखने हेतु समितियों का निर्माण किया जाता है । यह समितियाँ न केवल विभिन्न विभागों की कठिनाईयों का ज्ञान रखकर निर्णय करती है वरन् इसे लाग करने में भी पूर्ण सहयोग देती है ।

(2) समिति सदस्यों के सामूहिक बुद्धि, चातुर्य और अनुभव का सम्मिलित लाभ उठाकर ठोस एवं तर्कपूर्ण तथा सही निर्णय लेने में सफलता प्राप्त करना है । **कूण्टज तथा ओ. डेनियल** (Koontz and O.Donnel) के शब्दों में "व्यक्तियों का एक समूह एक अकेले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक व्यापक अनुभव, विविध राय, जटिल समस्या' का गहन परीक्षण तथा समस्या के किसी विशिष्ट पहलू पर अधिक व्यापक सामग्री उपलब्ध करा सकता है ।"

(3) समितियों की स्थापना से सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो जाता है । सत्ता सभी सदस्यों में विभाजित हो जाती है तथा कोई भी सदस्य सामूहिक हितों की उपेक्षा करने की स्थिति में नहीं होता है ।

(4) कभी-कभी जटिल परिस्थितियों में निर्णय को टालने के लिए भी समितियों का गठन कर दिया जाता है ।

(5) समितियों द्वारा लिये गये निर्णयों को सम्प्रेषित करना आसान होता है क्योंकि समिति सदस्य उसे सही रूप में समझ चुके होते है ।

(6) समिति के सदस्यों की भागीदारी से निर्णय लिये जाते है परिणामस्वरूप उसे लागू करने के प्रयास भी भरसक होते है इसके लिए सभी सदस्य नैतिक रूप से सहयोग देने हेतु अभिप्रेरित होते है ।

(7) सहकारिता की भावना का विकास होता है तथा बहुमत के निर्णय को सभी स्वीकार करते है ।

(8) प्रशासन आलोचनाओं से बच जाता है तथा उसे केवल समितियों के निर्णयों को कार्यान्वित करने में ही ध्यान देना होता है ।

(9) व्यक्तिगत आलोचनाओं से मुक्ति मिल जाती है क्योंकि सामूहिक विचार-विमर्श होता है ।

(10) सदस्यों में निर्णय शक्ति व प्रबंधकीय योग्यता का विकास करना भी एक उद्देश्य होता है ।

समितियों के प्रकार (Type of Committees)

(1) कार्यकारी समिति - इस समिति को निश्चित प्रबंधकीय उत्तरदायित्व सौंपे जाते है तथा उसके निष्पादन के लिए आवश्यक सामान्य या विशेष अधिकार भी प्राप्त होते है । यह सामूहिक प्रबंध व्यवस्था को जन्म देती है, इसमें व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का अभाव पाया जाता है ।

(2) परामर्शदात्री समिति - विभिन्न समस्याओं एवं पहलुओं का अध्ययन कर प्रबंध को परामर्श देने के उद्देश्य से इस तरह की समितियों का निर्माण किया जाता है । परामर्श देने के पश्चात् इनका अस्तित्व खत्म हो जाता है । परामर्श स्वीकार करना अथवा न करना लाईन अधिकारियों पर निर्भर करता है । तथ्यों की खोज एवं विश्लेषण हेतु भी समितियों का निर्माण किया जाता है । इन समितियों के होने से कार्यकारी अधिकारी अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकता है ।

(3) संयुक्त समिति - विभिन्न समितियों व कार्यकारी प्रभागों के मध्य समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से इस तरह की समितियों का निर्माण किया जाता है । प्रबंधकीय कार्यो में तालमेल बनाये रखने का उद्देश्य होता है।

(4) विशेष उद्देश्य समिति - विशेष उद्देश्य के लिए अस्थायी रूप से गठित की गई समिति होती है । उद्देश्य पूरा होने के साथ ही इस समिति का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है । यह अपनी रिपोर्ट संबंधित अधिकारी को सुपुर्द करती है ।

(5) स्थायी समिति - स्थायी तौर पर गठित को जाने वाली समिति स्थायी समिति कहलाती है । इनको निश्चित उत्तरदायित्व सौंपे जाते है । नीति निर्धारण तथा नियोजन कार्य हेतु इन समितियों का गठन किया जाता है इसमें सदस्य बदलते रहते है लेकिन समिति अपने निश्चित उद्देश्य में कार्य करती रहती है ।

लाभ (Advantages of Committees)

सामान्यत: संस्था में समिति संगठन प्रारूप मे लाभ निम्न रूप में हो सकते है -

(1) एक की अपेक्षा दो के निर्णय सदैव ही अच्छे होते है जिसके परिणाम भी अच्छे ही होते है तथा यह निर्णय ठोस होते है ।

(2) समिति प्रबंध के निर्णय उतावले नहीं होते है तथा विवेक पर आधारित होने से दुष्परिणामों से संगठन सुरक्षित रहता है।

(3) संस्था के विभिन्न विभागों व क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने में सहयोग प्रदान करता है ।

(4) अधीनस्थों में प्रबंधकीय योग्यता व निर्णय क्षमता का विकास होता है ।

(5) सामूहिक विचार-विमर्श से नये-नये विचारों का सृजन होता है ।

(6) जटिल से जटिल समस्याओं का समाधान आसानी से संभव हो जाता है ।

(7) अधिकार व निर्णय कार्य विकेन्द्रित हो जाता है ।

(8) विशेषज्ञों के ज्ञान का लाभ संस्था को प्राप्त होता है ।

समिति के दोष (Disadvantages of Committee Organisation)

इस प्रारूप के दोष इस प्रकार है

(1) समिति संगठन में निर्णय लेने में अधिक समय लगता है, जिससे लाभप्रद अवसर हाथ से निकल जाते है ।

(2) समिति सदस्यों में एकमत का अभाव पाया जाता है जिससे विवाद बढ़ता है तथा मनमुटाव हो जाते है ।

(3) छोटे व मध्यम आकार की संस्थाऐं समिति संगठन की लागत सहन करने में असमर्थ रहती है अत: लागू करना संभव नहीं है ।

(4) लाईन अधिकारियों के प्रबंधकीय ज्ञान एवं निर्णय क्षमता में कमी आती है तथा उनकी कमजोरियों को छिपाने में सहयोग देता है ।

(5) व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के अभाव में संस्था को हानि का सामना करना पड़ता है ।

(6) समिति बैठकों में अत्यधिक समय देने के फलस्वरूप मुख्य कार्यकारी कार्य में रूकावट आ जाती है ।

(7) समिति का कार्य सामान्यत: कुछ व्यक्तियों की क्रियाशीलता पर निर्भर करता है अत: यह निर्णय सम्पूर्ण समिति का न होकर कुछ व्यक्तियों द्वारा थोपा गया अथवा लिया गया होता है ।

समितियों को प्रभावशाली बनाने के लिए आवश्यक तत्व -

वर्तमान युग में समितियों का महत्व व प्रयोग बढ़ता जा रहा है । इसकों अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये निम्न तत्वों की उपस्थिति आवश्यक है -

(1) स्पष्ट उद्देश्य : समिति के कुशलतापूर्वक संचालन के लिए आवश्यक है कि समिति स्थापना के उद्देश्य निश्चित व स्पष्ट होने चाहिए तथा उनके अधिकार क्षेत्र की स्पष्ट व्याख्या की जानी चाहिए । उन्हें किस संबंध में विचार करना है अथवा निर्णय लेना है, उनके अधिकार एवं दायित्व क्या है? साथ ही उनके विचारणीय समस्याओं के सम्बन्ध में आवश्यक तथ्य एवं वितरण पत्र उनको मिल जाने चाहिए ताकि उचित निर्णय ले सके । उन्हे कार्य करने की भी पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए।

(2) उचित आकार : समिति के आकार के संबंध में कोई निश्चित नियम बनाया जाना संभव नहीं है लेकिन इतना अवश्य है कि समिति में न तो बहुत अधिक सदस्य होने चाहिए क्योंकि ऐसी अवस्था में निर्णय लेना कठिन हो जाता है तथा प्रत्येक सदस्य को अपने विचार भी रखना मुश्किल हो जाता है तथा न ही बहुत कम संख्या में सदस्य होने चाहिए। ऐसी अवस्था में सभी वर्ग व विशेषता के व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता है । अत: पर्याप्त संख्या में सदस्य हों यह संख्या तीन से आठ तक हो सकती है ।

(3) योग्य सदस्य एवं सभी वर्गो का प्रतिनिधित्व : समिति सदस्यों का चुनाव बड़ी सावधानी से करना आवश्यक है । इसमें योग्य एवं समस्याओं से सम्बन्धित सभी वर्गो से व्यक्तियों का चुनाव किया जाना चाहिए । इनके द्वारा लिये गये निर्णय अधिक व्यवहारिक एवं प्रभावपूर्ण होते है ।

(4) अध्यक्ष की प्रभावशीलता : समिति की सफलता अध्यक्ष पर निर्भर करती है । अध्यक्ष योग्य प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला तथा विश्वासपात्र होना चाहिए । एक योग्य व कुशल नेतृत्व में प्रभावशाली विचार-विमर्श होता है तथा सदस्यों पर अच्छा नियंत्रण भी होता है । परिणामस्वरूप कम समय में श्रेष्ठ निर्णय के साथ-साथ आपसी मनमुटाव भी नहीं होता ।

(5) सभा का कुशल संचालन एवं उत्तम व्यवस्था : समिति की बैठक पूर्व निर्धारित एवं नियोजित होनी चाहिए । विचार-विमर्श के बिन्दु, उनके लिए आवश्यक सूचनाऐं एवं तथ्य पहले होने चाहिए ।सदस्य व्यर्थ के विवादों में न पड़े अन्यथा समय अधिक नष्ट होगा । बैठक का कुशल संचालन अध्यक्ष की नेतृत्व शक्ति एवं योग्यता पर भी निर्भर करता है ।

(6) उपयुक्त विषय : ऐसे विषय जिनमें सामूहिक विचार-विमर्श की आवश्यकता होती है उन कार्यो को सम्पादित करवाने हेतु समितियों का निर्माण किया जावे । अन्यथा व्यक्तिगत पहल वाले कार्यो को व्यक्ति द्वारा किया जाना उपयुक्त रहेगा।

(7) अनौपचारिक तरीके : यदि समिति की कार्यवाही अनौपचारिक रूप से की जाती है तो लालफिताशाही एवं नियमों की कठोरता से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है ।

(8) मूल्यांकन : समय-समय पर समिति के कार्यो का मूल्यांकन भी करते रहना आवश्यक है । यह भी निश्चित करते रहना चाहिए कि समिति की उपयोगिता है या नहीं ।

(9) अनुवर्तन : समिति के कार्यकलापों तथा उसके द्वारा लिये गये निर्णयों व नीतियों को लाग किया जा रहा है या नहीं, इस बात की जानकारी उच्च प्रबंधकों द्वारा निरंतर किया जाना चाहिए तथा प्रत्येक सदस्य को भी रिपोर्ट देकर क्रियाकलापों की जानकारी देते रहना जरूरी है ।

5.5 कार्यालय संगठन स्वरूप का चुनाव

कार्यालय संगठन के विभिन्न प्रारूपों के अध्ययन के पश्चात् यह निश्चित करना भी आवश्यक है कि किसी के लिए कौन-कौन सा प्रारूप उपयुक्त रहेगा । यह चुनाव कठिन कार्य है । इस हेतु निम्न बिन्दुओं पर देना चाहिए ।

(1) संस्था का आकार एवं प्राकृति : छोटे आकार की संस्था में प्रबंधकीय व कार्यकारी समस्याऐं सीमित व सरल प्रकृति की होती है ऐसे में रेखा संगठन उपयुक्त रह सकता है जबकि बडे आकार वाली संस्था में विभिन्न विभाग व विभिन्न क्रियाऐं होने के कारण जटिलताऐं पाई जाती है । इसके लिए रेखा एवं स्टाफ अथवा क्रियात्मक संगठन उपयुक्त रहेगा ।

(2) कार्य की निरंतरता : व्यावसायिक क्रियाओं की निरन्तरता एवं स्वरूप भी संगठन के प्रारूप निर्धारण का आधार होता है । कार्यालय क्रियाओं में निरंतरता एवं समानता बनी रहती है तो ऐसे में स्थायी स्वरूप की आवश्यकता है । इसके विपरीत जिन संगठनों में सामयिक उतार चढ़ाव कार्य में बना रहता है उसमें भिन्न स्वरूप अपनाया जावेगा ।

(3) कर्मचारी अनुपात एवं यंत्रीकरण की मात्रा : पर्यवेक्षण की मात्रा संस्था में कुशल व अकुशल कर्मचारियों की संख्या पर निर्भर करती है । इसी प्रकार यंत्रीकरण की मात्रा भी कार्यालय संगठन स्वरूप को प्रभावित करती है । संगठन का आकार इन्ही बातों से निर्धारित होता है ।

(4) कार्यालय विभागों की संख्या : व्यवसाय की प्रकृति के अनुरूप कार्यालय विभागों की संख्या निर्धारित होती है जहां विभागों की संख्या ज्यादा एवं जटिल होती है वहां रेखा एवं कर्मचारी संगठन अन्यथा क्रियात्मक संगठन उपयुक्त होता है जबकि जिन कार्यालयों में विभागों की संख्या कम होती है वहां विभागीयकरण सरल होने की दशा में रेखा संगठन उपयुक्त रहेगा।

(5) अनुशासन की आवश्यकता : जिन कार्यालयों में कर्मचारियों पर अधिक नियंत्रण एव अनुशासन की आवश्यकता होती है उनमें रेखा संगठन उपयुक्त रहता है । जबकि कर्मचारियों के अनुशासित रहने की दशा में रेखा एवं कर्मचारी या क्रियात्मक संगठन उपयुक्त रहेगा ।

(6) भौगोलिक स्थिति : संस्था व कार्यालय की भौगोलिक स्थिति स्वरूप भी संगठन प्रारूप चुनाव को प्रभावित करता है जिन संस्थाओं का सम्पूर्ण या अधिकतर कार्य केन्द्रीय अवस्था में एक ही स्थान पर सीमित क्षेत्र में है तो स्वरूप विस्तृत या जटिल होगा जबकि अलग-अलग क्षेत्रों में फैली हुई अवस्था में संगठन स्वरूप रेखा एवं कर्मचारी हो सकता है ।

(7) उपलब्ध स्थान : यदि कार्यालय को स्थान अधिक उपलब्ध है तो विकेन्द्रित प्रकृति वाले संगठन प्रारूप का चुनाव किया जा सकता है । सीमित स्थान की अवस्था में केन्द्रित प्रकृति का प्रारूप अपनाया जावेगा ।

सारांश

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि किसी भी संस्था की सफलता एवं लक्ष्य प्राप्ति का आधार कार्यालय संगठन होता है जिसमें मानवीय समूह द्वारा क्रियाओं में आपसी समन्वय के माध्यम से अधिक सार्थक बनाते हुए साधनों का अधिकतम उपयोग किया जाता है । संगठन को अधिक प्रभावी बनाने हेतु इसके वांछित सिद्धान्तों का प्रयोग करना उपयुक्त रहेगा । साथ ही कार्यालय संगठन के विभिन्न प्रारूपों में से श्रेष्ठ प्रारूप जो संस्था के आकार एवं प्रकृति पर निर्भर करता है का चुनाव किया जाना आवश्यक है तथा संगठन की सफलता हेतु अन्य आवश्यक बातों को भी समाहित करते हुए श्रेष्ठ संगठन की स्थापना ही मुख्य लक्ष्य होना चाहिए ।

5.6 स्व-परख प्रश्न (Self Assessment Question)

1. कार्यालय संगठन क्या है? संगठन के सिद्धान्तों को संक्षेप में बताइये ।
2. कार्यालय संगठन की परिभाषा दीजिए और इसके महत्व पर प्रकाश डालिए?
3. आधुनिक उपक्रमों के विभिन्न संगठन स्वरूपों के गुण-दोषों का वर्णन कीजिए?
4. क्रियात्मक संगठन से आप क्या समझते हैं? इसके प्रमुख गुण-दोषों का वर्णन कीजिए ?
5. 'रेखा संगठन' से आप क्या समझते हैं? इसकी विशेषताऐ गुण एवं दोषों का वर्णन कीजिए?
6. रेखा एवं स्टॉफ संगठन क्या है? क्या आप महसूस करते है कि यह प्रारूप शुद्ध रेखा संगठन पर सुधार है? इसके गुण एव दोषों को बताइये?
7. समिति का उपयोग कब किया जाना चाहिए? कार्यालय में समिति उपयोग के क्या लाभ एवं दोष हैं । समिति कैसे उपयोगी बनाई जा सकती है?

5.8 संदर्भ पुस्तकें (Reference Books)

George R. Terry	:	Office Mangement
J.C.Denyer	:	Office Management
G.Mills and O Standing Ford	:	Office Organisations and Management
Chopra R.K	:	Office Organisations and Management
Arora S.P	:	Organisations and Methods
पी.पी.भार्गव एवं जी.एस.सुधा	:	कार्यालय प्रबन्ध

इकाई 6 प्रलेखों की अनुक्रमणिका एवं नत्थीकरण (Indexing and Filing of Documents)

प्रस्तावना एवं उद्देश्य-

पत्र एवं अभिलेख किसी भी व्यावसायिक गृह के स्नायुकेन्द्र तथा शरीर में रक्त संचार प्रणाली की तरह होते है, आधुनिक जगत में कोई भी व्यावसायिक गृह पत्रों के बिना नहीं चल सकता है । प्रत्येक व्यावसायिक गृह को प्राप्त पत्रों तथा बाहर जाने वाले पत्रों को न केवल भावी संदर्भ आपसी मतभेदों को दूर करने हेतु वरन् प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करने हेतु सुरक्षित रखना आवश्यक होता है । इन पत्रों को सुरक्षित रखने के लिए फाईलिंग विधियां अपनाई जाती है तथा फाईल कियें गये पत्रों में से वांछित पत्र को शीघ्रता एवं सुगमता से खोज निकालने के लिए अनुक्रमणिका तैयार की जाती है प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य विद्यार्थियों को व्यावसायिक गृहों द्वारा अपनाई जाने वाली विविध फाईलिंग की विधियों तथा अनुक्रमणिकाओं से अत्यन्त सरल एवं बोधगम्य भाषा में परिचित करना है ।

सरंचना -

(I) अभिलेखों की अनुक्रमणिका-

1. अनुक्रमणिका का अर्थ
2. अनुक्रमणिका के प्रकार
   - 2.1 सरल वर्णमालात्मक अथवा पत्र पुस्तिका अनुक्रमणिका
   - 2.2 स्वरात्मक अनुक्रमणिका
   - 2.3 कार्ड अनुक्रमणिका
   - 2.4 दृश्य अनुक्रमणिका
   - 2.5 डेस्क दृश्य अनुक्रमणिका

(II) अभिलेखों की फाईलिंग-

1. फाईलिंग का अर्थ एवं परिभाषा
2. फाईलिंग के उद्देश्य
3. एक श्रेष्ठ फाईलिंग पद्धति का आवश्यक गुण
4. फाईलिंग की विभिन्न विधियाँ
   - (क) लेटी अथवा समतल फाईलिंग विधि
   - (ख) खडी फाईलिंग विधि
5. लेटी तथा खड़ी फाईलिंग विधियों का तुलनात्मक अध्ययन

I. अभिलेखों की अनुक्रमणिका (Indexing of Documents)

आधुनिक वृहत व्यापारिक गृहों तथा व्यावसायिक कार्यालयों में जहां प्रतिदिन बड़ी संख्या में पत्र प्राप्त होते था फाईल करने पड़ते है वहाँ वाच्छित एवं प्रलेख को सुगमता एवं शीघ्रता से ढूढ़ निकालना एक बड़ी समस्या । इस समस्या से निदान में अनुक्रमणिका महत्वपूर्ण सहायता प्रदान करती है ।

1. **अनुक्रमणिका का अर्थ (Meaning of Indexing)** अनुक्रमणिका एक ऐसी सूची है जिसकी सहायता से फाइल किये गये पत्रों एवं प्रलेखों से वांछित पत्र एवं प्रलेख की स्थिति का ज्ञान सुगमता से किया जा सकता है ।
2. अनुक्रमणिका के प्रकार (Type of Indexing)

   वर्तमान में अनेक प्रकार की अनुक्रमणिकाए प्रचलन में है, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित है-

6.1 सरल, वर्णमालात्मक अथवा पत्र पुस्तक अनुक्रमणिका (Simple, Alphabetical or Letter Book Indexing)

इस प्रकार की अनुक्रमणिका में पत्र पुस्तक के प्रारम्भ में कुछ मोटे पृष्ठ अनुक्रमणिका तैयार करने के लिऐ लगे हुए होते है । इन मोटे पृष्ठों में से प्रत्येक पृष्ठ आवश्यकतानुसार वर्णमाला के एक, दो या अधिक अक्षरों के लिए निर्धारित होते है जिस पर उस अक्षर अथवा अक्षरों से प्रारम्भ होने वाले व्यापारियों का नाम तथा नाम के सामने उस से सम्बन्धित विवरण पत्र पुस्तक के किस पृष्ठ पर है, की पृष्ठ संख्या अंकित की जाती है । प्रत्येक पृष्ठ का दाहिना कोना कटा हुआ होता है तथा उस पर वर्णमाला का अक्षर इस प्रकार लिखा या छपा होता है कि जब पृष्ठ एक के ऊपर एक रखे हो तो सभी अक्षर एक साथ देखें जा सकते है । पत्र पुस्तक अनुक्रमणिका का मुख पृष्ठ खोलते ही सभी अक्षर एक साथ दिखाई पड़ जाते है ।

6.2 स्वरात्मक अनुक्रमणिका (Vowel Indexing)

जब व्यापार गृह में पत्र व्यवहारों की संख्या अत्यधिक होती है तो एक पृष्ठ पर एक अक्षर से प्रारम्भ होने वाले सभी नामों का लिखना लगभग असम्भव सा हो जाता है, साथ ही लम्बी नाम सूदी में से वांछित नाम ढूंढ निकालना भी अत्यधिक दुष्कर एवं श्रम साध्य होता है, इस असुविधा से बचने के लिए स्वरात्मक अनुक्रमणिका को अपनाया जाता है इसके अन्तर्गत वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर को स्वर या मात्रा के अनुसार 6 भागों में विभाजित कर दिया जाता है अग्रेंजी वर्णमाला में **a,e,i,o,u** तथा हिन्दी वर्णमाला में **अ,इ,उ,ए,औ** एवम् ऋ के अनुसार 6 उपविभाग बनाये जा सकते है । ग्राहक के नाम के प्रथम अक्षर के पश्चात् नाम में काम आने वाले प्रथम स्वर के अनुसार अनुक्रमणिका तैयार की जाती है । उदाहरणार्थ यदि अग्रेंजी वर्णमाला के k अक्षर से प्रारम्भ होने वाले नामों की अनुक्रमणिका तैयार करना हो तो Kailash नाम का विवरण Ke वाले पृष्ठ पर Krishna नाम का विवरण Ki वाले पृष्ठ पर Kherunissa नाम का विवरण Ko वाले पृष्ठ पर Koshal नाम का विवरण Ku वाले पृष्ठ पर Kumar वाले नाम का विवरण Ku वाले पृष्ठ पर Khyeber वाले नाम का विवरण Kyवाले पृष्ठ पर किया जायेगा ।

6.3 कार्ड अनुक्रमणिका (Card Indexing)

यह आधुनिकतम एवं सर्वाधिक उपयोगी अनुक्रमणिका है । इसके द्वारा पुस्तकालय में संग्रहित पुस्तकों में से किसी वांछित पुस्तक का पता लगाने, बैकों में ग्राहकों के नमूना हस्ताक्षरों में से वाच्छित नमूना हस्ताक्षर को निकालने तथा एक बड़ी फाइल में संग्रहित हजारों ग्राहकों के फोल्डरों में सें वांछित ग्राहकों के फोल्डर निकालने में आसानी रहती है । इस प्रकार की अनुक्रमणिका में प्रत्येक नाम के लिए

एक अलग से कार्ड रखा जाता है जिस पर उससे सम्बन्धित पूरा विवरण संक्षिप्त में लिखा जाता है। कार्ड के प्रयोग के कारण ही इसे कार्ड अनुक्रमणिका कहते है इस अनुक्रमणिका को प्रयोग में लाने के लिए निम्नलिखित सामग्री की आवश्यकता होती है ।

(क) दराज वाली आलमारी - यह एक लम्बी दराज वाली लकड़ी या लोहे की बनी आलमारी होती है । इसमें विवरण वाले कार्ड संग्रहित किये जाते है । प्रत्येक दराज के बाहर एक संकेतक लगा होता है जिसमें इस दराज में संग्रहित नाम वाले कार्डो के वर्णमाला के प्रथम अक्षर को लिखा जाता है । उदाहरणार्थ -A से D तक के नामों से प्रारम्भ होने वाले कार्ड इस दराज में संग्रहित है ।

(ख) नाम कार्ड - यह कार्ड प्राय: सफेद रंग के मोटे कागज के बने होते है, जिनका आकार आवश्यकता अनुसार 12.5x7. 5, 15 x 10 अथवा 20 x 12.5 से.मी. का रखा जा सकता है । इसका उपयोग नाम तथा अन्य विवरण लिखने के लिए किया जाता है । इनको आलमारी की दराज में संग्रहित करके रखा जाता है ।

(ग) संकेतक कार्ड - आलमारी की दराज में संग्रहित कार्डो में से वांछित कार्ड को ढूंढने को सुगम बनाने के लिए इनका उपयोग किया जाता है इनका आकार दराज में संग्रहित नाम कार्डो से थोड़ा बड़ा होता है इसके कोने का एक भाग उठा होता है जिस पर वर्णमाला का वह प्रथम अक्षर अंकित किया जाता है जिससे कि प्रारम्भ होने वाले नाम' के कार्ड इसके पीछे दराज में संग्रहित किये जाने है ।

(घ) अनुपस्थिति कार्ड - आलमारी की दराज में संग्रहित कार्डो में से किसी कार्यवश यदि किसी कार्ड को हटाया जाना है तो कार्ड की अनुपस्थिति तथा उसका कारण एवं स्त्रोत दर्शाते हटाये गये कार्ड के स्थान पर इसका उपयोग किया जाता है।

इस प्रकार की अनुक्रमणिका का सबसे बड़ा लाभ यह है कि वांछित सूचना को सुगमता एवं शीघ्रता के साथ खोजा जा सकता है तथा यह अत्यधिक लचीला है जिसे आवश्यकतानुसार घटाया बढ़ाया जा सकता है लेकिन साथ ही यह अन्य अनुक्रमणिकाओं की तुलना मे अधिक खर्चीली है ।

6.4 दृश्य अथवा दिखाई देने वाली अनुक्रमणिका (Visible Indexing)

कार्ड अनुक्रमणिका में एक समय में एक ही कार्ड देखा जा सकता है तथा वांछित नाम वाले कार्ड को ढूंढने के लिए अनेक कार्ड पलटने पड़ते है । इस कमी को दूर करने के लिए दृश्य अथवा दिखाई देने वाली अनुक्रमणिका का विकास किया गया है । इसमें एक दृष्टि में ही अनेक कार्ड एक साथ देखे जा सकते है । इस अनुक्रमणिका में एक लोहे की चोखट के सहारे इस प्रकार लगाई जाती हैं कि वे घूम सकें, इन चोखटों में फोटो फ्रेम की तरह लोहे की पत्तियों द्वारा खोचे बने होते है जिनमें आवश्यक सामग्री संग्रहित की जाती है । इस अनुक्रमणिका को प्रयोग में लेने के लिए निम्न प्रकार है-

(क) मेटल होल्डर्स - इस में धातु की बनी चोखटे होती है । जिन पर पारदर्शक कागज लगा रहता है ताकि अन्दर की सूचना खराब न हो तथा बाहर दिखाई पड़ती रहें ।

(ख) लोहे के स्टेड - इस पर मेटल होल्डर्स लगाने के लिए बड़े-बड़े खाने बने होते है ।

(ग) कागज की पट्टिया- जिस पर नाम तथा आवश्यक विवरण लिखा जाता है ।

6.5 डेस्क दृश्य अनुक्रमणिका

विशाल आकार वाले व्यावसायिक गृहों के लिए इस प्रकार की अनुक्रमणिका विशेष उपयोगी है । इसमें एक आलमारी काम में लाई जाती है जिसमें दराजे होती है । नाम एवं विवरण वाले कार्ड

दराजों में इस प्रकार रखे जाते है । कि दराज को बाहर खीचने पर उसमें रखे गये सभी कार्डो को एक साथ देखा जा सकता है । सभी कार्ड एक लीवर में फंसे रहते है अत: उनके अलग होने या दराज खोलने पर बाहर गिरने का भय नहीं रहता ।

इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें लगभग 250 कार्ड एक साथ देखे जा सकते है । तथा मेज पर रख कर दीवार पर टाँग कर उपलब्ध स्थान का अधिकतम उपयोग किया जा सकता है किन्तु इसमें यह दोष है कि ग्राहक से सम्बन्धित सूचनाएँ संक्षेप में प्राप्त होती है

क्रिया- (Activity)

1. एक बड़े व्यावसायिक कार्यालय में जाकर वहां काम मे ली जाने वाली अनुक्रमणिकाओं की जानकारी प्राप्त करें।
2. किसी बैंक के कार्यालय में जाकर वहां ग्राहको के नमूने के हस्ताक्षर संग्रहित करने के लिए प्रयोग में लाई जाने वाली अनुक्रमणिका की जानकारी करें ।
3. किसी स्कूल कॉलेज अथवा अपने विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में जाकर वहां काग में ली जाने वाली अनुक्रमणिका का अध्ययन करें ।

स्वमूल्यांकन अभ्यास (Self Appraisal Execrcise)

1. अनुक्रमणिका से क्या आशय है । विभिन्न प्रकार की अनुक्रमणिकाओं का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. एक बड़े व्यावसायिक गृह में अपनाई जाने वाली अनुक्रमणिकाओं को संक्षेप में समझाइये ।

I. अभिलेखों की फाईलिंग (Filing of Documents)

आधुनिक व्यावसायिक गृह में प्रतिदिन बड़ी संख्या में पत्र आते है तथा व्यावसायिक कार्यालय से लिखे पत्र बाहर जाते है । इन पत्रों का केवल तात्कालिक महत्व ही नहीं वरन् दीर्घकालीन महत्व होता है । अत: इनको सुरक्षित रखा जाना आवश्यक होता है ।

प्राप्त पत्रों तथा बाहर जाने वाले पत्रों की प्रतिलिपियों को सुरक्षित रखने हेतु प्रयोग में लाई जाने वाली विधि ही फाईलिंग कहलाती है ।

1. फाईलिंग का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Defintation of Filing)

फाईलिंग एक ऐसी विधि है जिसमें पत्र व्यवहार को इस प्रकार सुरक्षित रखा जाता है कि आवश्यकता के समय वांछित पत्र को शीघ्रता एवं सुगमता के साथ खोजा जा सकें ।

मिल्स एवं स्टेंडिंग फोर्ड के अनुसार "फाईलिंग एक कला है जिसके अन्तर्गत आने वाले सभी पत्रों तथा जाने वाले सभी पत्रों की प्रतिलिपियों को सुरक्षित रखा जाता है ताकि आवश्यकता के समय उन्हे शीघ्रता एवं सुगमता से निकाला जा सकें।

2. फाईलिग के उद्देश्य (Objects of Filing)

पत्रों एवं प्रलेखों की फाईलिंग निम्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए की जाती है ।

1. पत्रों, प्रलेखों आदि को सुरक्षित रखना ।
2. आवश्यकता के समय वांछित पत्रादि शीघ्रता एवं सुगमता से खोज निकालने हेतु ।
3. प्राप्त एवं निर्गमित पत्रों का उपयोग भावी सदंर्भ के लिए करने हेतु ।
4. पुराने एवं टूटे ग्राहकों को माल खरीदने के लिए प्रेरित करने हेतु ।
5. बाहर लिखे पत्रों पर वांछित कार्यवाही न होने पर अनुवर्ती पत्र लिखने हेत ।
6. पूर्व आदेशों को दोहराने हेतु ।

7. आपसी मतभेदों को दूर करने के लिए प्रमाण प्रस्तुत करने हेतु ।
8. न्यायालय में संचालित वाद में अपने पक्ष का पोषण करने हेतु ।
9. प्राप्त पत्रों का उत्तर देने हेतु ।
10. व्यापार सम्बन्धी उपयोगी सूचनाएं प्राप्त करने हेतु ।

3. एक श्रेष्ठ फाईलिंग पद्धति के आवश्यक गुण-

एक श्रेष्ठ फाईलिंग पद्धति में कुछ गुणों का पाया जाना आवश्यक होता है । यह गुण इस प्रकार है ।

1. पत्रों, प्रलेखों, अभिलेखों आदि को सुरक्षित रखने की क्षमता ।
2. पत्रों की फाईलिग तथा फाइल पत्रों में से वांछित पत्र खोज निकालने मे सरलता ।
3. फाईलिंग तथा वांछित पत्र खोजने में शीघ्रता ।
4. फाईलिंग पद्धति अत्यधिक खर्चीली न हो उसमें मितव्ययता का गुण पाया जाना चाहिए ।
5. न्यूनतम स्थान पर रखने की सुविधा ।
6. फाईलिंग पद्धति व्यापार की वर्तमान एवं भारी आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिए ।
7. फाईलिंग पद्धति लचीली होनी चाहिए ताकि भविष्य की परिवर्तित आवश्यकताओं के अनुरूप उसमें आवश्यक परिवर्तन किया जा सकें ।
8. फाईलिग पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि आवश्यकता के समय उस तक सहजता एवं शीघ्रता के साथ पहुंचा जा सकें ।

फाईलिंग पद्धति का चयन करते समय उपर्युक्त गुणों को ध्यान में रखना चाहिए ।

4. फाईलिंग की विभिन्न विधियाँ (Different in Modes of Filling)

एक व्यापारिक कार्यालय में आवक जावक पत्रों को फाईल करने के लिए अनेक विधियाँ काम में लाई जाती है जिन्हें अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है ।

(अ) लेटी अथवा समतल फाईलिंग विधि (Flat or Harizontal Filling System)

इस विधि को लेटी अथवा समतल विधि इसलिए कहा जाता है कि इसमें फाईल किये गये पत्र लेटी अवस्था में रहते है।

(ब) खड़ी फाईलिंग विधि - यह आधुनिकतम फाईलिंग विधि है जिसमें पत्र फाईल करने के पश्चात खड़ी अवस्था में रहते है।

यह प्रत्येक फाईलिंग विधि के अन्तर्गत प्रयुक्त फाइल्स का संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है ।

I. लेटी अथवा समतल फाईलिंग विधि - इसके अन्तर्गत निम्नलिखित फाईलिंग -विधियाँ सम्मलित की जाती है ।

1. तार अथवा हुक फाईल

यह विधि प्राचीनतम, सरलतम एवं सबसे अधिक मितव्ययी विधि है । जिस व्यावसायिक कार्यालय में समिति संख्या में पत्रों को फाईल करना होता है वहां यह विधि सर्वाधिक प्रचलित एवं उपयोगी है । इस विधि में एक तार लिया जाता है जिसके नीचले सिरे पर फाईल किये गये पत्रों को रोकने के लिए लकड़ी या धातु का एक गोल अथवा वर्गाकार टुकड़ा लगाया जाता है ऊपर का सिरा नुकीला

तथा मुड़ा होता है ताकि पत्र आसानी से फाईल किये जा सकें तथा फाईल करने के पश्चात् वे निकल न सके । फाईलों की संख्या आवश्यकतानुसार निर्धारित की जा सकती है ।

2. कार्ड बोर्ड फाईल

इस फाईलिंग विधि में फुल स्केप आकार का एक मोटा गला लिया जाता है जिसके दोनों ओर गोटे कागज अथवा कपड़े के फलेप लगे होते है । फलेप के ठीक नीचे फीते लगे रहते है । पत्रों की फाईल करने के लिए फाईल में प्रयुक्त गते पर पत्र एक के ऊपर एक रखते जाते है तथा सभी पत्रों के फाईल हो जाने के पश्चात् पत्रों को फेप से ढक दिया जाता है तथा फीते से बाँध दिया जाता है ताकि फाईल किये गये पत्र अपने स्थान से इधर उधर न हो सकें ।

3. सन्दूक या बाक्स फाईल -

इस फाईल की आकृति बाक्स जैसी होती है । यह एक मजबूत एवं कपडा लगे मोटे गले अथवा पतली लकड़ी अथवा लोहे की बनी होती है । इस प्रकार की फाईल दो प्रारूप में देखने को मिलती है । प्रथम इन फाईलों के नीचे एक स्प्रिगंदार कमानी होती है, जिनके नीचे पत्र दबे रहते है, द्वितीय कुछेक फाईलों में स्प्रिगंदार कमानी के स्थान पर एक लोहे की छड़ लगी होती है जिसमें पत्र छिद्र करने के पश्चात् पिराये जाते है । सन्दूक को ताला लगाकर बन्द कर दिया जाता है जिससे पत्र सुरक्षित रहते है ।

4. कटे हुए कागजो की, फाईल -

यह फाईल एक जिल्दनुमा पुस्तक होती है जिसमें कुछ कागज बन्धे होते है । पत्रों को फाईल करने के लिए इन कागजों पर तिथिवार चिपका दिया जाता है । इसमें केवल ऐसे पत्र ही रखे जाते है जिन्हें फाईल से बाहर निकालने की आवश्यकता नहीं होती । इसलिए यह विधि रसीदों, बीजकों, तथा बाउचरों को सुरक्षित रखने के लिए एक अच्छी फाईलिंग विधि मानी जाती है ।

5. लकड़ी के तख्ते की फाईल -

इस विधि में फाईलिंग के लिए एक लकड़ी के तख्ते का उपयोग किया जाता है जिसके ऊपरी सिरे पर एक स्प्रिंगदार क्लिप लगा होता है तख्ते का आकार फुल स्केप पेपर के आकार से थोडा बड़ा रखा जाता है, इसमें पत्र फाईल करने के लिए पत्रों को एक के ऊपर एक तिथिवार रख दिया जाता है तथा स्प्रिंगदार क्लिप की सहायता से दबा दिया जाता है । इसमें फाईल किये गये पत्र चारों और से एक मोटे कागज से कपडे के एप्रोन (.मैल०ा1) के समान ढके रहते है । इसलिए इसे एप्रोन फाईल भी कहते है ।

6. पत्तीदार अथवा फोल्डर फाईल -

यह फाइल मोटे कागज अथवा लचकदार गले की बनी होती है इसमें मुख पृष्ठ पर संख्या नाम, विषय, पत्ता, वर्ष, अवधि आदि लिखने के लिए स्थान रहता है । यह फाईल फोल्ड अथवा मुड़ जाती है, अत: इसे फोल्डर फाईल कहते है । फाइल में प्रयुक्त गले के बीच पत्रों को फाईल करने का स्थान प्रदान करते हुए दो भागों में इस तरह मोड़ा जाता है कि एक भाग दूसरे भाग के ऊपर रहता है तथा ऊपर का भाग नीचे के गले को ढक लेता है । नीचे के गले में एक लचकदार पत्ती लगी होती है जिसके दोनों सिरे बाहर निकले रहते है । इन दोनों सिरों मे लोहे की पत्नी पिरोयी जाती है जिस पर दो ताले लगे होते है । ये ताले आसानी से आगे पीछे खिसकायें जा सकते है । तथा पत्ती को दबाकर रखने में काम आते है । जब भी पत्र फाईल करना होता है या फाईल

किया पत्र बाहर निकालना होता है ताले खोलकर पत्ती को ऊँचा उठा लिया जाता है तथा पत्र फाईल करने या निकालने के पश्चात् पत्नी को यथा स्थान रखकर उस पर ताला लगा दिया जाता है ।

7. लोहे की छड़ों वाली अथवा आँकड़ेदार फाईल -

यह फाईलिंग विधि फोल्डर फाईलिंग विधि का सुधरा हुआ रूप है फोल्डर फाईलिंग विधि में पत्र को फाईल करने अथवा निकालने के लिए प्रयुक्त ताले को खोलना एवं पत्ती को अलग करना होता है जबकि ऑकड़ेदार फाईल में एक लीवर का प्रयोग किया जाता है जिसकी सहायता से फाईल में प्रयुक्त आँकड़ा खुल जाता है तथा आसानी से पत्र को फाईल किया जा सकता है तथा फाईल किये गये पत्रों में से वांछित पत्रों को बाहर निकाला जा सकता है ।

आँकड़ेदार फाईल विधि में प्रमुख रूप से दो प्रकार की फाईलों का प्रयोग किया जाता है ।

(I) पाइलट फाइल - इस विधि में मजबूत गले से बनी तथा पुस्तक की तरह खुलने वाली फाईल काम में ली जाती है, फाईल में प्रयुक्त गत्ता दो भागों में बँटा रहता है जिसका एक भाग दूसरे के ऊपर रहता है तथा दोनों भागों के बीच मे गत्ते की एक छोटी पट्टी लगी रहती है जो फाइल में पत्र संग्रह के लिए स्थान प्रदान करती है । इस फाईल में बड़ी संख्या में पत्र फाईल किये जा सकते है । फाईल के निचले कवर (गत्ते) में अग्रेंजी वर्णमाला के U अक्षर की उल्टी आकृति के लोहे के दो आँकड़े निकले होते है । नीचे की ओर एक लीवर लगा होता है जिसके ऊपर उठाने से आँकड़े दो भागों में बटते हुए खुल जाते है । लीवर को नीचे दबाने से ये आँकड़े अपनी पूर्व स्थिति मे आ जाते है । इन दोनो आँकड़े के बीच में लोहे की एक पत्ती पिरोयी जाती है, जो फाईल किये पत्रों को मजबूती से दबाये रहती है तथा खिसकने या गिरने नही देती । इस फाईल में पत्र आसानी से फाईल किये जा सकते है साथ ही वांछित पत्र को फाइल से बाहर निकालने के लिए उसके ऊपर के समस्त पत्रों को फाइल के बाहर निकालने की आवश्यकता नहीं होती वरन् उन्हे फाइल के ऊपर के कवर की तरफ खिसका दिया जाता है जिससे उनके क्रम बिगड़ने का भय मी नही रहता । फाइल के मुख पृष्ठ पर फाइल शीर्षक, संख्या, सन् आदि के लिए स्थान होता है ।

(II) शेनन फाइल -

शेनन फाइल के लिए एक ऐसी आलमारी का प्रयोग किया जाता है जिसमें आवश्यकतानुसार 4 से लेकर 64 तक खाने बने होते है किन्तु सामान्यतया 12 खाने वाली आलमारी का ही प्रयोग किया जाता है । आलमारी के इन खानों में बाक्स फिट होते है, जिन्हें खींचकर बाहर निकाला जा सकता है । प्रत्येक खाने में एक काँटा लगा रहता है जो बाक्स को एक साथ खींचने पर उसको पूरा बाहर निकलने से रोकता है प्रत्येक बाक्स के बाहर धातु का एक चोखटा लगा होता है जिसमें बॉकर में फाइल किये गये पत्रों के नामों का अंग्रेजी वर्णमाला का प्रथम अक्षर लिखा जाता है जिससे उसे देखकर पता लगाया जा सकता है, किस बाक्स विशेष में अंग्रेजी वर्णमाला के किस अक्षर से प्रारम्म होने वाले नामों के पत्रों को फाइल किया गया है, उदाहरणार्थ यदि किसी बाक्स के बाहर लगे धातु के चोखटे मे अंग्रेजी वर्णमाला का A तथा B अक्षर अंकित है तो इसका तात्पर्य यह है कि इस बाक्स में अंग्रेजी वर्णमाला के उक्त अक्षरों से प्रारम्भ होने वाले नामों से सम्बन्धित ग्राहकों के पत्रों को संग्रह किया गया है । बाक्स के अन्दर भी सूचक पत्र लगाये जा सकते है जो यह बताते है कि सूचक पत्र के पीछे किन-किन पत्रों को फाइल किया गया है ।

8. कबूतर खाने वाली अथवा डाकेट फाइलिंग विधि-

यह एक अति प्राचीन फाइलिंग विधि है । जो अभी तक फाइलिंग के काम में ली जाती है । इस विधि के अन्तर्गत एक लकड़ी की आलमारी का प्रयोग किया जाता है जिसमें 24 खाने होते है सामान्तया 24 खानों में से प्रथम 22 खाने अंग्रेजी वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर के लिए तथा अन्तिम दो खाने क्रमश: WX तथा YZ अक्षरों के लिए रखे जाते है । किन्तु यदि किसी व्यावसायिक गृह में किसी अक्षर विशेष 'से प्रारम्भ होने वाले नामों के व्यापारियों की संख्या अधिक है तो उसके लिए दो या अधिक खाने भी रखे जा सकते है तथा किन्ही अक्षरों से प्रारम्भ होने वाले नामों वाले व्यापारियों की संख्या कम हो तो दो या अधिक अक्षरों के लिए एक खाना भी काम में लिया जा सकता है । इस विधि में फाइलिंग के लिए लिफाफों जिन्हे डाकेट कहते है का उपयोग किया जाता है प्रत्येक व्यापारी के लिए एक अलग लिफाफे का प्रयोग किया जाता है, लिफाफे के मुख पृष्ठ पर व्यापारी का नाम तथा उसके संबंध में अन्य विवरण जैसे पता, विषय, फाइल पत्रों की समयावधि आदि अंकित होता है । इस प्रकार प्रत्येक व्यापारी के लिए तैयार लिफाफे को आलमारी मे उसके नाग के प्रथम अक्षर वाले खाने में रख दिया जाता है लिफाफे का आकार आलमारी के खाने के आकार से थोड़ा छोटा रखा जाता है ताकि आलमारी में उसे आसानी से फाइल किया जा सकें । सामान्यतया पत्रों को मोड़कर लिफाफे में रखा जाता है । तथा मोड़ने के पश्चात् पत्र के ऊपर पत्रांक दिनांक, विषय, आदि लिख दिया जाता है । ताकि लिफाफे में से वांछित पत्र खोजते समय समस्त पत्रों को खोलकर देखने की आवश्यकता न रहें । जब किसी लिफाफे में पत्रों की संख्या अधिक हो जाती है तो उसमें से पुराने पत्रो को बाहर निकाल लिया जाता है । ताकि लिफाफे में फाइल करने के सदैव नये पत्रों के लिए स्थान बना रहे । लिफाफे के बाहर निकाले पत्रों को अलग से बस्ते में बांध कर किसी सुरक्षित स्थान पर रख दिया जाता है । तथा उस पर बांधे गये पत्रों का विवरण लिख दिया जाता हैं ताकि आवश्यकता पडने पर उनको शीघ्रता के साथ खोजा जा सके ।

(III) खड़ी फाइलिंग विधि-

यह आधुनिक फाइलिंग पद्धति है इसे खड़ी फाइलिंग विधि इसलिए कहते है कि इसमें पत्र फाइल करने के पश्चात् खडी अवस्था में रखते है, खडी फाइलिंग की प्रमुख फाइलिंग विधियाँ निम्नलिखित है ।

1. फैलने एवं सिकुडने वाली सन्दूक फाइल विधि-

इस फाइलिंग विधि में मोटी दफ्ती, चमड़े आदि से बनी एक सन्दूक का प्रयोग किया जाता है । इसके भीतर एक स्प्रिंग इस प्रकार लगी रहती है कि यह बाहर खीचने पर फैल जाती है तथा दबाने पर सिकुड़ जाती है । इस सन्दूक में 24 खाने होते है । प्रत्येक खाने के बीच एक मोटा कागज लगा होता है जिस पर अंग्रेजी वर्णमाला का एक विशेष अक्षर अंकित होता है । सभी 24 खानों में लगे मोटे कागजों का एक एक हिस्सा इस तरह थोड़ा ऊँचा उठा रहता है कि सन्दूक खोलने पर सभी अक्षर एक साथ दिखाई दे जाते है । अन्तिम मोटे कागज पर अंग्रेजी वर्णमाला के अन्तिम तीन अक्षर xy एवं z अंकित किये जाते है । सडक के बाहर सामने की ओर संकेतक कार्ड लगाने के लिए धातु का एक चौखटा बना होता है इसमें संकेतक कार्ड रखकर उस पर अंग्रेजी वर्णमाला के वे अक्षर (जैसे A to z) अंकित कर दिये जाते है जिनसे प्रारम्भ होने वाले नाम के व्यापारियों का पत्र व्यवहार इस सन्दूक में फाइल किया गया है । पत्रों की संख्या अधिक होने पर आवश्यकतानुसार एक से अधिक सन्दकों का प्रयोग फाइलिंग के लिए किया जा सकता

2. खड़ी फाइलिंग आलमारी

इस फाइलिंग पद्धति में पत्रों को फाइल करने के लिए सामान्यतया एक लोहे की आलमारी का प्रयोग कियां जाता है । इस आलमारी में प्राय: चार दराजे होते है । किन्तु इनकी संख्या 4 से 24 तक कोई भी हो सकती है । दराजे काफी गहरी तथा बड़े आकर की होती है जिनमें फोल्डर आसानी से रखे जा सकते है । दराजों के नीचे लोहे की रेलिंग या पटरी लगी रहती है जिनकी सहायता से दराजे आसानी से बाहर निकाली जा सकती है तथा कार्य समाप्ति पर वापिस अपने स्थान पर धकेली जा सकती है । दराज के पीछे एक लीवर भी होता है जो खोलने पर पूरी दराज को आलमारी से बाहर निकलने से रोकता है । प्रत्येक दराज के बाहर संकेतक कार्ड लगाने के लिए धातु की एक चौखट लगी रहती है जिनमें कार्ड पर लिखकर अंग्रेजी वर्णमाला के उन अक्षरों को लगा दिया जाता हैं । जिनसे शुरू होने वाले नाम के व्यापारियों के पत्र व्यवहार को दराज में फाइल किया गया है । प्रत्येक दराज के बाहर एक हैण्डिल भी लगा होता है जिनकी सहायता से दराज को आसानी से खोला एवं बन्द किया जा सकता है । इस विधि में फाइलिंग के लिए फोल्डर का प्रयोग किया जाता है, प्रत्येक व्यापारी का पत्र व्यवहार रखने के लिए एक कडे मोटे एवं मजबूत मनीला कागज से बने फोल्डर का प्रयोग किया जाता है । फोल्डर के पीछे के कवर को पृष्ठ आगे के कवंर के पृष्ठ सें कुंछ ऊपर उठा होता है जिसका प्रयोग व्यापारी का नाम, पता, संख्या आदि विवरण लिखने के लिए किया जाता है । इन फोल्डरों में पत्र तिथिवार एवं खुले रखे जाते है तथा इसमें प्राप्त पत्रों के साथ साथ जावक पत्रों की प्रतिलिपियाँ भी फाइल करके रखी जाती है ।

इस दराज में रखें फोल्डरों में से किसी व्यापारी विशेष के फोल्डर को खोजने के काम को सुगम बनाने के लिए निर्देश कार्ड का भी प्रयोग किया जाता है । ये निर्देश कार्ड मोटे कागज से बने होते है तथा दराज के आकार से कुछ छोटे होते है । जिसका एक हिस्सा थोड़ा ऊपर उठा होता है । जिस पर वर्णमाला के अक्षर संख्या अथवा भौगोलिक चिन्ह अंकित होते है । इससे वांछित फोल्डर को सुगमता एवं सरलता के साथ खोजा जा सकता है ।

यदि दराज में से किसी फोल्डर को किसी कार्यवश बाहर निकाला जाता है तो उसके स्थान पर एक अनुपस्थिति कार्ड रख दिया जाता है ये अनुपस्थिति कार्ड निर्देश कार्ड से भिन्न रंग के होते है । अनुपस्थिति कार्ड मे निकाले गये फोल्डर का आवश्यक विवरण दर्ज कर दिया जाता है।

यदि दराज में रखे गये फोल्डरों की संख्या कम है तो उनको दराज में गिरने से रोकने के लिए लोहे की दफ्ती या टेक का प्रयोग किया जाता है जिसे दराज में फोल्डरों के पीछे लगा दिया जाता है ।

यदि दराज में रखें फोल्डरों में फाइल पत्रों की संख्या अत्यधिक हो जाय तो फोल्डर में से पुराने पत्रों को निकालकर एक अलग बाक्स जिसे स्थानान्तरण बाक्स कहा जाता है में रख दिया जाता है । इन बाक्स के सामने वाले हिस्से पर ऊपर की तरफ एक चिट चिपकाकर इसमें रखें पत्रों का विवरण अंकित कर दिया जाता है ।

क्र.सं.	अन्तर का आधार	लेटी फाइल विधि	खड़ी फाइल विधि
1.	स्थिति	इसमें पत्र समतल अथवा लेटी अवस्था में रहते है ।	इसमें पत्र खडी अवस्था मे रहते है ।
2.	पत्रों को छेदना	इस प्रणाली में पत्रों को छिद्र करके फाइल किया जाता है ।	इस प्रणाली में फाइलिंग के लिए पत्रों को छेदन की आवश्यकता नही

			होती है ।
3.	सुरक्षा	इस विधि में पत्र बंधे रहते है अत: उनके मुड़ने गिरने अथवा खाने का भय कम रहता है ।	इसमें फोल्डरों में पत्र खुले रहते है अत: उनके मुड़ने, गिरने एवं खोने का भय बन रहता है
4.	पत्र निकालने में सुविधा	फाइल में से वांछित पत्र को निकालने के लिए उसके ऊपर के समस्त पत्रों को अलग करना होता है । अत: यह असुविधा जनक है ।	इसमे पत्र फोल्डर में खुले रहने सें बिना अन्य पत्रो को निकाले वांछित व्यापारी का पत्र आसानी से बाहर निकाला जा सकता है।
5.	फाइल किये जाने वाले पत्र	इसमें केवल आवक पत्रों को ही फाइल किया जा सकता है।	इसमें आवक पत्रों के साथ साथ जावक पत्रों की प्रतिलिपियाँ भी फाइल की जा सकती है ।
6.	व्यय	यह विधि कम खर्चीली है	अपेक्षाकृत अधिक खर्चीली है ।
7.	स्थान	यह विधि अपेक्षाकृत कम स्थान घेरती है ।	इस प्रणाली के लिए अपेक्षाकृत अधिक स्थान की आवश्यकता होती है ।
8.	लचीलापन	यह विधि लोचहीन है तथा आवश्यकतानुसार घटाई बढ़ाई नहीं जा सकती है ।	यह विधि प्रर्याप्त लोचशील है जिसे आवश्यकतानुसार घटाया बढाया जा सकता है ।
9.	पत्रो को रखने का क्रम	इसमें पत्र अधिकाशंत: केवल वर्णात्मक क्रम में ही रखे जाते है ।	वर्णात्मक संख्यात्गक या अन्य किसी क्रम में रखे जा सकते है।
10.	उपयोगिता	यह विधि छोटे एवं मध्य आकार के व्यावसायिक गृहों के लिए अधिक उपयुक्त जहां सीमित संख्या में पत्र व्यवहार उपयोगी है	यह विधि बड़े -बड़े व्यापार, गृहों बीमा कम्पनियों, सरकारी कार्यालयों आदि के लिए जहां बड़ी संख्या में पत्र व्यवहार होता है अधिक उपयोगी है ।

क्रियाएं (Activities)

1. अपने निकट स्थित किसी बैक, सरकारी कार्यालय या बड़े व्यावसायिक गृह मे जाकर वहां पर पत्रों तथा प्रलेखों को सुरक्षित रखने के लिए अपनायी जाने वाला फाइलिंग विधि की जानकारी प्राप्त कीजिए ।
2. अपने नजदीक के किसी बडे बैक के कार्यालय में जाकर वहां के प्रबन्धक से ग्राहकों के नमूने के हस्ताक्षरों तथा व्यवहार को सुरक्षित रखने के लिए अपनाई जाने वाली फाइलिंग विधि पर विचार विमर्श कीजिए तथा फाइलिंग विधि तथा फाइल के गुणों व दोषो की जानकारी की जानकारी प्राप्त कीजिए ।
3. अपने नजदीक के किसी व्यावसायिक गृह से सम्पर्क स्थापित कर उस व्यवसाय गृह में अपनाई जाने वाली फाइलिंग विधि की जानकारी प्राप्त करें तथा उसके गुण दोष का पता लगाये ।

अभ्यास हेतु प्रश्न (Self Rating Exercise)

1. फाइलिंग से क्या अभिप्राय है इसकी आवश्यकता एवं महत्व बताइये । एक श्रेष्ठ फाइलिंग विधि के गुणों का वर्णन कीजिए।
2. लेटी फाइल विधि के अन्तर्गत अपनाई जाने वाली किन्ही पाँच फाइलिंग विधियों का वर्णन कीजिए।
3. खड़ी फाइलिंग विधि क्या है ? यह किस तरह लेटी फाइलिंग विधि से श्रेष्ठ है? फैलने एवं सिकुड़ने वाली सन्दूक फाइलिंग विधि को समझाइये ।
4. खड़ी फाइलिंग आलमारी को सविस्तार समझाइये ।
5. लेटी फाइलिंग तथा खड़ी फाइलिंग विधि का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए ।

इकाई 7 कार्यालय उपकरण (Office Equipments)

इकाई की रूपरेखा :-

7.1 उद्देश्य
7.2 प्रस्तावना
7.3 कार्यालय - एक परिचय
7.4 कार्यालय उपकरण
7.5 कार्यालय यन्त्रीकरण का उद्देश्य, आवश्यकता एवं लाभ
7.6 कार्यालय मशीनों एवं उपकरणों का चयन
7.7 कार्यालय मशीनों एवं उपकरणों के प्रकार
7.8 सारांश
7.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
7.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें (Reference Book)

7.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढने के बाद आप :

- कार्यालय एवं उसमें प्रयुक्त उपकरणों के बारे में जान सकेंगे ।
- कार्यालय यंत्रीकरण के उद्देश्य, आवश्यकता एवं लाभ बता सकेंगे ।
- कार्यालय उपकरणों की उपयोगिता एवं उनके चयन के लिए ध्यान में रखने योग्य बातें जान सकेंगे ।
- कार्यालय में प्रयुक्त विभिन्न उपकरणों के बारे में विस्तार से समझ सकेंगे ।

7.2 प्रस्तावना

स्वचालन एवं सूचना प्रोद्योगीकरण (Technology) सक्रान्ति के परिणामस्वरूप आज विशाल एव आधुनिक संगठनों के सफल संचालन के लिए कार्यालय का महत्व बहुत बढ़ गया है। कार्यालय प्रत्येक संस्था का एक महत्वपूर्ण अंग होता है ।

- कार्यालय सभी विभागों की गतिविधियों का रिकार्ड सुरक्षित रखता है ।
- इसे संस्था का स्मरण केन्द्र (Memory Centre) भी कहते है ।
- कर्यालय प्रबन्धकों को उचित निर्णय के लिए आवश्यक सूचनाएँ उपलब्ध कराता है ।
- कार्यालय प्रबन्धकों द्वारा दिये गये निर्णयों, सूचनाओं एवं निर्देशों को विभिन्न विभागों तथा व्यक्तियों तक पहुँचाना (Communicate) एवं उनके क्रियाकलापों से सम्बन्धित सूचनाओं को प्रबन्धकों तक पहुँचाना है ।
- कार्यालय व्यवसाय के नियंत्रण केन्द्र (Control Center) के रूप में कार्य करता है ।
- कार्यालय प्रबन्धकों के कार्यो जैसे नियोजन, संगठन, स्टाफिंग, समन्वय, नियंत्रण एवं नेतत्व का क्रियान्वित करने में सहायता करता है ।

7.3 कार्यालय (Office)

इस शब्द की उत्पत्ति कार्य + आलय के समिश्रण से हुई है । कार्य से आशय किसी प्रयोजन की पूर्ति हेतु सुनियोजित योजना बनाने से है तथा आलय का अर्थ स्थान अर्थात् एक ऐसा स्थान जहाँ से किसी उद्देश्य से एवं प्रयोजन की पूर्ति हेतु कार्यो का प्रबन्धन किया जाता है, कार्यालय कहलाता है ।

आधुनिक विचारक कार्यालय का विस्तृत अर्थ स्थान की सीमाओं से बाहर निकलकर जहाँ भी अधिकारी एवं कर्मचारीगण दफ्तर सम्बन्धी कार्य करते है, कार्यालय की परिभाषा में मानते है ।

निष्कर्ष - कार्यालय स्वयं कोई व्यवसाय नहीं वरन् व्यवसाय की गतिविधियों के सुसंचालन के लिए स्थापित नियंत्रण तंत्र से है जहाँ अधिकारी एवं लिपिक वर्ग आंतरिक एवं बाह्य सूचनाएं प्राप्त कर विश्लेषण कर उनका उपयोग उद्देश्य प्राप्ति में करना एवं बाह्य जगत से सम्पर्क बनाये रखना है ।

7.4 कार्यालय उपकरण (Office Equipments)

कार्यालय उपकरण, कार्यालय में स्थापित वे साधन है जो कार्यो को अतिशीघ्र, सही एवं कुशलता के साथ निष्पादन में सहायक होते है जिनके उपयोग का प्रभाव समय व श्रम की बचत, लागत में कमी, कार्य में वृद्धि एवं शुद्धता (Accuracy) की प्राप्ति के साथ साथ कर्मचारियों की संख्या में कमी लाना है ।

मशीनों के कारण कार्य जल्दी व अशुद्धिरहित होता है तथा देखने में सुन्दर लगता है, इससे कर्मचारियों की कार्यक्षमता बढती है । कार्यालय उपकरणों का महत्व सम्बन्धित कार्यालय के लिए उतना ही है जितना एक कारखाने के लिए मशीनो का । आधुनिक कार्यालय में मशीनों एवं उपकरणों के चयन का कार्य कार्यालय प्रबन्धक के लिए बडी जिम्मेदारी का कार्य हैं जिन्हे कार्यालय कर्मचारियों के लिए समय पर अनुकूलतम फर्नीचर, सही प्रकार की मशीनों एवं उपकरण उपलब्ध कराना है जिससे निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकें ।

7.5 कार्यालय यंत्रीकरण (Office Mechanisation)

कार्यालय यंत्रीकरण से अभिप्राय प्रशासनिक कार्यो में सहायता पहुँचाने वाली मशीनों एवं उपकरणों से कार्यालय को सुसज्जित करने से है, जिसमें कार्यालय स्टाफ कार्यो को अधिक सही एवं तेजी से कर सकें ।

जो कार्य पहले हाथों से किये जाते थे उन्हे आज मशीनों एवं उपकरणों से किया जाने लगा है, इसी को यंत्रीकरण कहते है ।

एक बड़ा कार्यालय अति आधुनिक एवं महंगे उपकरणों जैसे कम्प्यूटर आदि का उपयोग करता है जबकि मध्यम एवं छोटे कार्यालय सस्ते उपकरणों जैसे टाईपराईटर, डूप्लीकेटिगं मशीन, केलकुलेटर्स का उपयोग करते है ।

आधुनिक कार्यालय के यंत्रीकरण के उद्देश्य कम समय में अधिक एवं सही तथा साफ सुथरा कार्य सुरक्षा के साथ कर शीघ्र परिणाम प्राप्त करना है ।

कार्यालय के यंत्रीकरण में बड़ी पूंजी एवं उनके रख रखाव तथा कुशल कर्मचारियों पर बहुत अधिक धन खर्च होता है अत: कार्यालय यंत्रीकरण का निर्णय करते समय उस पर आने वाले खर्च को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए ।

कार्यालय को मशीनों एवं उपकरणों से सुसज्जित करने के उद्देश्य

(i) समय की बचत एवं कार्य निष्पादन की गति बढाना ।

(ii) वेतन बिल में कमी कर श्रम लागत बचाना ।

(iii) कार्य की शुद्धता (Accuracy) बढाना ।

(iv) दोहराये जाने वाले कार्यो की उकताहट से बचना ।

(v) कार्यालय कार्य के गमन (Fraud) के अवसर को कम करना ।

(vi) प्रमापीकृत कार्य प्रक्रिया को अपनाना ।

7.6 कार्यालय में मशीनें एवं उपकरण स्थापित करने की आवश्यकता

1. **कार्य की गुणवता बढ़ाना ।**
2. **कार्यालय संचालन की लागत में कमी :** तेज गति से कार्यनिष्पादन एवं कम समय में अधिक कार्य से कर्मचारियों के वेतन आदि में बचत होती है ।
3. **कार्यक्षमता में वृद्धि :** मशीनों एवं उपकरणों की सहायता से कार्य में गति आती है जिससे कर्मचारी कम समय में अधिक कार्य कर पाते है, जिससे लाभप्रदता बढती है ।
4. **शुद्धता (Accuracy) में वृद्धि :** मशीनों के प्रयोग से कार्य में गलती की सम्भावना लगभग खत्म हो जाती है ।
5. **प्रभावी नियंत्रण :** मशीनें प्रबन्धकों को उनके अधीनस्थों की गतिविधियों के नियंत्रण में मदद करती है ।
6. **मानसिक थकावट दूर होना :** कार्यालयों में कुछ कार्य उक्ताहट एवं बोरियत पैदा करते है । बार बार किये जाने वाले कार्य को मशीनों से कर कर्मचारियों को निरसता से बचाया जा सकता है ।
7. **कपट की सम्भावनाओं में कमी :** कई प्रकार की मशीनों के प्रयोग से कपट की सम्भावनाओं से बचा जा सकता है जैसे चैक लिखने की मशीन से लिखे चैकों में परिवर्तन करना सम्भव नहीं होता है इसी प्रकार डाक टिकट अंकन मशीन द्वारा डाक व्यय पर उचित नियंत्रण रखा जा सकता है ।

कार्यालय उपकरणों के दोष

1. मशीनों की स्थापना लागत अधिक होना ।
2. अधिक संचालन लागत ।
3. अधिक ब्रेकडाउन लागत ।
4. क्षमता से कम उपयोग ।
5. कार्यालय प्रणाली में अलोचता ।
6. स्टाफ का प्रशिक्षण आवश्यक ।
7. बेरोजगारी की समस्या ।

8. अप्रचलित एवं अनुपयोगी होने की समस्या ।

स्वचालित कार्यालय (Office Automation)

स्वचालन को मानवश्रम के बचत के रूप में देखा जाता है । इसमें मानवीय प्रयासों का स्थान मशीनें ले लेती है जो वैज्ञानिक ढंग से कार्य निष्पादन की प्रणाली है । स्वचालन पर दबाव (Stress on Automation) के कारण सभी क्षेत्रों में उत्पादकता बढ़ी है ।

यंत्रीकरण एवं स्वचालन पर्याय नहीं है । यंत्रीकरण का अर्थ मानव के भौतिक श्रम के स्थान पर मशीनों का उपयोग करना मगर स्वचालन का अर्थ मानव के भौतिक श्रम के साथ साथ बौद्धिक कार्य भी मशीनों द्वारा करना । स्वचालन के अपनाये जाने से बेरोजगारी की बड़ी समस्या उत्पन्न होती है मगर दूसरी तरफ स्वचालित कार्यालयों को चलाने के लिए बड़ी संख्या में प्रबन्धकों एवं तकनिशियनों की आवश्यकता भी होगी ।

7.7 कार्यालय मशीनों एवं उपकरणों का चयन :

कार्यालय में मशीनों एवं उपकरणों के उपयोग का प्रमुख उद्देश्य समय एवं कार्यालय स्टाफ के श्रम में बचत करना है साथ ही कार्यालय क्षमता को बढ़ाना एवं कार्यालय संचालन लागत में कमी करना है । अत: कार्यालय मशीनों एवं उपकरणों के चयन में बड़ी सावधानी बरतनी पडती है ।

निम्नलिखित सिद्धान्त कार्यालय प्रबन्धक को मशीनों एवं उपकरणों के चयन में मददगार होते है :

1. **कार्यालय के लिए मशीनों एवं उपकरणों की उपयोगिता का सिद्धान्त :** मशीन को खरीदने से पहले उसकी कार्यालय में आवश्यकता, वर्तमान एवं भावी उपयोगिता, लागत आदि पर विचार करना चाहिए ।
2. **बहु उपयोग का सिद्धान्त :** सम्भव हो तो मशीन कई तरह के उपयोग योग्य होनी चाहिए।
3. **टिकाऊपन का सिद्धान्त :** मशीनें टिकाऊ होनी चाहिए ।
4. **लाने व ले जाने में सुविधा का सिद्धान्त :** जिनको आसानी से ढोया एवं प्रयोग में लाया जा सके ।
5. **प्रमापित मानकीकरण का सिद्धान्त :** जो कीमत एवं संचालन में मितव्ययता का गुण समाये रखती है ।
6. **संचालन में आसानी का सिद्धान्त :** मशीनों को प्रारम्भ एवं बन्द करने में सरलता हो ।
7. **सरल मरम्मत का सिद्धान्त :** जिसकी मरम्मत आसानी से की जा सकती हो और जिसकी सर्विस सुविधाऐं भी मौजूद हो।
8. **संचालन में मितव्ययीता का सिद्धान्त :** संचालन लागत में आपूर्ति, मरम्मत एवं संरक्षण लागत तथा स्थान उपयोग की लागत शामिल है ।
9. **स्टाइलिंग का सिद्धान्त :** प्रचलित डिजाइन जो देखने में सुन्दर एवं उपयोग में आसान लगे । इससे कार्यालय के लोगों की नजर में ख्याती बढती है तथा कर्मचारियों का मनोबल भी ऊँचा होता है ।

10. उकताहट व नीरसता को कम करना : पुनरावृति प्रकृति के कार्य में मशीनों का उपयोग कर उबाऊपन को कम किया जा सकता है ।

11. शुद्धता (Accuracy) का सिद्धान्त : मशीनें यान्त्रिक शुद्धता के साथ बार बार चैकिंग की मुक्ति से श्रम एवं समय की बचत करती है ।

कार्यालय उपकरणों का प्रमापीकरण (Standardisation of Office Equipments)

प्रमापीकरण का अर्थ साईज, आकार एवं बनावट (Size, Make, Style)में एकरूपता (Uniformity) से है । अत: कार्यालय उपकरण प्रचलित आकार, रूप, प्रकार एवं स्टाईल के होने चाहिए जिससे उनके उपयोग, संचालन एवं मरम्मत में कठिनाई न हो ।

प्रमापीकरण के लाभ :

(i) एक ही निर्माण की मशीनें बड़ी मात्रा में खरीद की बचत का लाभ ।

(ii) स्वयं विभाग द्वारा मरम्मत की व्यवस्था का लाभ ।

(iii) आपरेटर्स की ट्रेनिंग आसान एवं मितव्ययीता का लाभ ।

(iv) कार्यालय फार्म एवं स्टेशनरी की लागत में बचत का लाभ ।

7.8 कार्यालय मशीनों एवं उपकरणों के प्रकार :

समय एवं श्रम बचाने के लिए आधुनिक कार्यालयों में प्रयुक्त की जानेवाली मशीनों एव उपकरणों को निम्न चार भागों में विभाजित कर, अध्ययन करते है :

I. निर्देशन मशीनें (Instructional Machines)
टेलीफोन, इण्टरकोम एण्ड डिक्टो फोन

II. प्रतिलिपिकरण एवं डूप्लीकेटिंग मशीनें (Copy and Duplicating Machines)
टाइपराईटर, बहु प्रति लिपिकरर्ण फोटोरटेट मशीन

III. लेखा एवं गणना सम्बन्धी मशीनें (Accounting and Computing Machine)
जोड करने वाली मशीनें, गणना मशीन, रोकड रजिस्टर, लेखा मशीन आदि ।

IV. अन्य विविध मशीनें (Miscellaneous Machine) डाक टिकट अंकन मशीन, पत्रों में तह लगाने वाली मशीन, पत्र खोलने वाली मशीन, पता छापने की मशीनें, लिफाफों में पत्र डालने वाली मशीन ।

I. निर्देशन मशीनें (Instructional Machine)

1) टेलीफोन या दूरभाष (Telephone) संप्रेषण का सबसे अधिक लोकप्रिय एवं उत्तम माध्यग है । आज आधुनिक व्यवसाय का संचालन टेलीफोन के बिना कठिन है । फोन कार्यालय में काम आने वाला एक ऐसा उपकरण है जिसके प्रयोग से व्यवसाय से सम्बन्धित सभी वर्गो से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखा जा सकता है तथा बाह्रा जगत से सम्बन्धित सभी सूचनाऐं भी प्राप्त हो जाती है ।

टेलीफोन दो प्रकार के होते है -

A) परम्परागत टेलीफोन

B) मोबाइल फोन

परम्परागत टेलीफोन से वार्तालाप करने के निम्न तरीके है :-

i) निजी शाखा एक्सचेन्ज (Private Branch Exchange. PBX)

यह प्रणाली डाक तार विभाग द्वारा काम में ली जाती है । यह विभाग ऑफिस को उसका एक निजी एक्सचेन्ज दे देता है जिसका संचालन एक आपरेटर करता है । कार्यालय के विभिन्न विभागों में एक्सटेंशन टेलीफोन एक्सचेन्ज से के होते है । जब भी कोई एक्सटेंशन किसी दूसरे एक्सटेंशन अथवा बाहरी टेलीफोन नम्बर से बात करना चाहता है वह आपरेटर से सम्पर्क करता है तथा उससे उपयुक्त नम्बर मिलाने को कहता है ।

ii) प्राईवेट स्वचालित शाखा एक्सचेन्ज (Private Automatic Exchange. PABX)

इस में PBX की तरह आपरेटर की सेवाओं की आवश्यकता नहीं होती । एक एक्सटेंन्शन से बात करने वाला अधिकारी डायल के माध्यम से सीधे दूसरे एक्सटेंन्शन की संख्या अथवा कोई भी बाहरी नम्बर मिला सकता है ।

iii) मुख्य लाईन तथा उसका विस्तार

इस प्रणाली में मुख्य फोन टेलीफोन एक्सचेन्ज से जुडा होता है तथा मुख्य फोन से जुडी अन्य कई एक्सटेशनों विभिन्न विभागों में लगा दी जाती है । मुख्य फोन में कई स्विच लगे होते है जिन्हें दबाने से विभिन्न विभागों में लगी एक्सटेशनों की लाईन बजाई जा सकती है । संस्था से आनेवाली सूचना पहले मुख्य फोन पर प्राप्त होती है, बाद में वांछित एक्सटेंन्शन की घंटी बजाकर उसे वही तक पहुँचा दिया जाता है । एक्सटेंन्शन से मुख्य फोन के माध्यम से बाहर भी टेलीफोन किया जा सकता है। बडे कार्यालयों में तो टेलीफोन आपरेटर फोन कालस (Phone Calls) को नियमित एवं नियन्त्रित करता है । इस कारण से तीव्र सम्प्रेषण सम्भव है । बड़े अधिकारियों के सुविधा के लिए टेलीफोन की अनेक लाइनें होती है ।

मोबाईल : परम्परागत फोन जो टेलीफोन लाइन से का होता है, जिसका प्रयोग कार्यालय में बैठकर ही किया जा सकता है । मगर व्यक्ति कार्यालय से बाहर कहीं भी है तो भी मोबाइल फोन से व्यवसाय के कार्यो को कर सकता है । आज सम्प्रेषण तकनीक से मोबाइल फोन की क्रान्ती ने लोगो को प्रत्येक क्षण का उपयोग करने के योग्य बना दिया है ।

2) आन्तरिक सम्प्रेषण/ इन्टरकाम व्यवस्था (Inter Communication System)

- जहाँ बड़ी संख्या में कर्मचारी एक ही भवन में अलग अलग कमरों में बैठकर कार्य करते है तो उनके पारस्परिक सम्पर्क के लिए फोन की अन्त: संचार प्रणाली की व्यवस्था अपनाई जाती है । इसके लिए अन्त: संचार का प्रयोग किया जाता है जो स्वीच फ्लीक (Switch Flick) तकनीक से भवन के सभी उपकरण एवं कर्मचारी तुरन्त एवं निरन्तर एक दूसरे के सम्पर्क में बने रहते है । अन्त: संचार व्यवस्था कार्यालय की अपनी व्यवस्था है जिसमें दो तरफा अन्त: संचार व्यवस्था बिना हिलेडुले तत्काल परामर्श को सम्भव बनाकर अधिकारियों के बहुमूल्य समय की बचत करता है ।

3) रेडियो टेलीफोन : विकसित देशों में चलती फिरती कारों आदि से भी टेलीफोन किया जा सकता है इन्हें रेडियो टेलीफोन कहा जाता है ।

4) टेलीफोन एवं टेलीविजन - इस प्रणाली में टेलीफोन पर बात करने वाला आदमी एक छोटी सी स्क्रीन पर एक दूसरे के चित्र भी देख सकते है ।

5) डिक्टो फोन (Dicta Phone) सामान्यत: डिक्टेशन स्टेनोग्राफर को दिये जाते है । डिक्टेटिगं मशीन पर भी अधिकारी सन्देश (Message) छोड देता है । डिक्टेटिंग मशीन को चलाकर टाइपिस्ट अधिकारी द्वारा दी गई सूचना को टाइप कर लेता है । आवाज डिक्टेटिग मशीन (Electronic Device) पर रिकार्ड बाकर सिलेण्डर या कैसेट टेप पर हो जाती है जो बाद में टाइपिस्ट को सम्प्रेषित हो जाती है । आज कल ऐसे यंत्र भी उपलब्ध है जो किसी व्यक्ति की उपरिथति में उसके फोन पर आने वाली सूचना को रिकार्ड कर लेते है । जैसे ही घंटी बजती है टेलीफोन जवाब देता है कि सम्बन्धित व्यक्ति बाहर है, आप 3 मिनट में जो भी सूचना देना चाहे बोल दीजिये । रिकार्ड सूचना को अधिकारी लौटने पर प्राप्त कर लेता है ।

टेलीफोन के गुण:- टेलीफोन द्वारा शीघ्रता से देश विदेश में किसी भी आदमी से वार्तालाप की जा सकती है । बातचीत को गुप्त रखा जा सकता है । बाह्रा संसार से सम्पर्क बना रहता है । अब संस्थाओं में अन्दरूनी सम्प्रेषण के लिए तो फोन अनिवार्य रो हो गये है । इससे समय, धन व श्रम की बचत होती है ।

दोष :- मौखिक माध्यम है । व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं होता । टेलीफोन घंटी कार्यालयों में शोर शराब भी मचाती है ।

I. प्रतिलिपिकरण एवं डूप्लीकेटिंग मशीनें (Copying and Duplicating Machine)

I) टाइपराईटर (Typerwriter) कार्यालय में हाथ की तुलना में टाइपराईटर से कम समय में अधिक पत्र टाइप किये जा सकते है जो सुन्दर होते है तथा पढने वाले पर भी अच्छा प्रभाव डालते है । कार्बन पेपर की सहायता से एक समय में 8 से 10 प्रतियाँ एक ही बार में तैयार की जा सकती है । कार्यालय के लिए यह उपयोगी यंत्र है ।

टाइपराईटर के प्रकार :

(i) स्वचालित टाइपराईटर : इसमें टाइप की जाने वाली सामग्री को एक मजबूत कागज की पट्टी की रील पर सांकेतिक भाषा में छिद्रों द्वारा अंकित कर लिया जाता है । इरा पट्टी को जब स्वचालित टाइपराईटर पर चढ़ाया जाता है तो टाइपराईटर 130 शब्द प्रति मिनट से टाइप कर देता है ।

(ii) वहनीय टाइपराईटर : इसका प्रचलन 1931 में हुआ था । मानक टाइपराईटर की तरह आकार में छोटे एवं हल्के होते है जिन्हें आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से ले जाया जा सकता है । टाइपिस्ट जिन्हें यात्राएं करनी पडती है उनके लिए उपयोगी है ।

(iii) विद्युत टाइपराईटर : इसका आविष्कार 1938 में हुआ । इसका संचालन हस्तचालित टाइपराईटर की तरह ही होता है । अन्तर सिर्फ इतना है कि हस्तचालित टाइपराईटर में कुंजियाँ दबाने के लिए उंगलियों की ताकत लगानी पडती है जबकि विद्युत

टाइपराईटर विद्युत की शक्ति से चलता है । मात्र कुंजी (Key) को दबाने के बजाय छू लेने मात्र से ही कार्य हो जाता है ।

(iv) ध्वनिरहित टाइपराईटर : इसका प्रचलन 1925 में प्रारम्भ हुआ । सामान्य टाइपराईटर की कुंजी दबाने से कुंजी (Key) की कमानी में लगा हुआ धातु का अक्षर स्याही युक्त रिबन पर दबाव डालता है जिसकी छाप कागज पर आ जाती है। इस प्रक्रिया में काफी ध्वनि उत्पन्न होती है । ध्वनि रहित टाइपराईटर में कमानी बेलन से टकराने की जगह पर धीरे से दबाव डालती है जिससे बहुत कम शोर होता है ।

(v) इलेक्ट्रोनिक टाइपराईटर : यह अति आधुनिक माइक्रो प्रोसेसर कम्प्यूटर टेक्नोलोजी पर आधारित है । इसमें मशीनी दिमाग एवं याददास्त होती है जो विभिन्न सूचनाओं के समाहित होने के कारण मात्र बटन दबाने से टाइप होकर बाहर आ जाती है । इसमें एक छोटा डिस्प्ले पेनल भी होता है जिससे पढ़कर टाइपराईटर स्वत: ड्राफ्ट में सुधार लेता है । जिससे टाइपिंग की गलतियों को बिना मिटाये स्वत: सही होने की व्यवस्था है । इसमें शीर्षक को मध्य में करने, बोल्ड टाईपिंग एवं तालिका आदि बनाने की सुविधा भी है ।

I) बहु प्रतिलिपिकरण (Duplicating) : कार्यालय में सामान्यतया पत्र या अभिलेख की अनेक प्रतियाँ बनानी होती है । जैसे गश्ती पत्र या अनेक लोगो को सूचनाएं या कर्मचारियों को निर्देश दिये जाने हो तो अनेक प्रतियाँ बनानी होती है जिनके लिए बहु प्रतिलिपिकरण मशीनों का उपयोग किया जाता है । इस में मुख्य प्रति से अनेक प्रतियाँ छापी जाती है।

बहु प्रतिलिपिकरण की विधियाँ (Methods of Duplicating)

i) लिथोग्राफी प्रणाली : यह सरल, सस्ती प्राचीन विधि है जो आजकल कम प्रचलन में है। इससे उर्दु पुस्तकें, हस्तलिखित सामग्री एवं नक्शों की छपाई होती है ।

सामग्री - (i) छोटे छोटे छिद्रवाला चिकना पत्थर (ii) पतला चमकदार कागज (iii) ग्रीस और पानी (17) पत्थर पर स्याही फैलाने के लिए बेलन (v) चिकनी स्याही

विधि : प्रतिलिपि लिए जाने वाला मूल पत्र या तो पत्थर पर उल्टा या एक चमकदार कागज पर गाढ़ी और चिकनी स्याही की सहायता से लिख जाता है । मूल पत्र पत्थर पर उलटकर दबाकर रखा जाता है, इससे पत्थर पर उल्टी प्रतिलिपि आ जाती है । इसके बाद पत्थर पर पानी का बेलन घुमाकर रिक्त स्थान गीला किया जाता है । अब एक एक कागज एत्थर पर रखकर हाथ या बेलन से दबाये जाते है । इस प्रकार नकल तैयार हो जाती है । बीच बीच में पत्थर पर स्याही और पानी का बेलन घुमाते है जिससे स्याही फीकी न पडे । पानी लगने से प्रतिलिपियाँ गीली होती है जिन्हे सुखा लेना चाहिए। अच्छी स्याही, कागज पत्थर व कारीगर द्वारा काम शीघ्र व सुन्दर ढंग से किया जा सकता है ।

गुण - यह प्रणाली सरल, सस्ती है तथा कम उपकरण प्रयोग में आते है ।

दोष - प्रतियाँ सुन्दर व अधिक स्पष्ट नही आती तथा समय भी अधिक लगता है ।

ii) हैक्टोग्राफ प्रणाली (Hectograph Method) : इस प्रणाली में मूल पत्र हेक्टोग्राफ स्याही से लिखा जाता है अत: यह हेक्टोग्राफ जिलोटिन के प्रयोग द्वारा नकल किये जाने के

कारण जिसेटिन विधि तथा रासायनिक पदार्थ के उपयोग के कारण रासायनिक प्रणाली के नाम से जानी जाती है ।

सामग्री - (i) धातु या लकडी की तस्तरी (ii) रासायनिक पदार्थ जिलेटिन अथवा चीनी मिट्टी (iii) हेक्टोग्राफ स्याही की बोतल (iv) चमकदार कागज (v) रपंज (vi) प्रतिलिपि लेने के कागज (vii) रबर का बेलन

रासायनिक पदार्थ के उपयोग में जिलेटिन अथवा चीनी मिट्टी में से किसी एक का उपयोग किया जा सकता है ।

जिलेटिन विधि : मूल पत्र जिसकी प्रतिलिपियाँ लेनी है, चिकने एवं चमकदार कागज पर हेक्टोग्राफ स्याही से लिखकर स्याही सोख को काम में लाये बिना स्वाभाविक रूप से सूखने दिया जाता है ।

उबलते पानी में पिघलाये जिलेटिन को तस्तरी में उडेलकर ठण्डा कर एक समतल, चिकना एवं मजबूत धरातल बना लेते है । जिसमें चिपकने एवं स्याही सोखने की क्षमता आ जाती है । हेक्टोग्राफ स्याही से लिखे मूल पत्र को जिलेटिन के धरातल पर रखकर हाथ या बेलन से दबाया जाता है जिससे पत्र की उल्टी नकल और कागज पर लगी स्याही धरातल पर उतर आती है और मूल पत्र हटा लेने पर धरातल प्रतिलिपि हेतु तैयार हो जाता है । फिर खाली कागज एक एक करके धरातल पर रखे जाते है तथा उन पर दबाव डालकर हटा लिया जाता है । इस प्रकार 40-60 तक प्रतियाँ प्राप्त की जा सकती है । अगर अधिक प्रतियाँ लेनी हो तो विषय को पुन: लिख कर जिलेटिन से तैयार किये गये दूसरे धरातल पर उसका निगेटिव तैयार करना चाहिए । प्रतिलिपि लिए जाने के बाद जिलेटिन के धरातल से स्पंज और पानी की सहायता से स्याही साफ कर लेनी चाहिए ताकि वहीं धरातल पुन: काम मे लिया जा सकें ।

चीनी मिट्टी की स्लेट का ढंग : इस विधि में जिलेटिन के धरातल के स्थान पर चीनी मिट्टी की छिद्र युक्त स्लेट काम में ली जाती है जो स्याही सोखने की क्षमता रखती है । प्रतिलिपि लेने की विधि - जिलेटिन विधि के समान ही होती है ।

गुण - i) प्रतिलिपियाँ उसी रंग में ली जा सकती है जिनमें मूलप्रति लिखी गई है । ii) रेखा चित्र, मापचित्र, नक्शे आदि लेने का अनुपम साधन iii) यह विधि सरल एवं सस्ती है ।

दोष - i) प्रतिलिपि लेने में अधिक समय लगता है ii) कभी कभी प्रतिलिपियाँ स्वच्छ नहीं आती iii) अधिक प्रतियाँ नहीं निकाली जा सकती ।

3) समतल, लेटा हुआ तथा चौरस बहु प्रतिलिपि यन्त्र विधि (Flat Duplicator Method):

इस विधि में स्टेन्सिल प्रणाली का प्रयोग किया जाता है । इस विधि में 1000 प्रतियों तक आसानी से ली जा सकती है । इसे मिमियोग्राफ अथवा चौरस डूप्लिकेटर भी कहते है ।

आवश्यक सामग्री (i) स्टेन्सिल कागज - यह कागज रूई के लम्बे व मजबूत रेशों तथा मोम अथवा अन्य रासायनिक पदार्थो के समिश्रण से बना होता है । इस पर मूल पत्र लिखा जाता है । इसके नीचे एक बड़ा कागज (Back up Sheet) होता है । स्टेन्सिल कागज एवं इस कड़े कागज के बीच एक चिकना पतला (Tissue Paper) लगा रहता है । स्टेन्सिल

कागज, पतला कागज एवं पीछे पीछे का कडा कागज एक दूसरे से लगे होते है । पतले कागज के ऊपरी भाग में छिद्रों से बड़ी रेखा बनी होती है । जिसे आवश्यकता पड़ने पर हटाया जा सकता है ।

(ii) **स्टाइलस (Stylus)** लोहे की नुकीली कलम होती है जिसका प्रयोग स्टेन्सिल कागज पर लिखने के लिए किया जाता है । यह कलम स्टेन्सिल कागज पर छिद्र करती है।

(iii) लोहे या प्लास्टिक की प्लेट या तख्ती जो हाथ से स्टेन्सिल तैयार करते समय प्रयोग में ली जाती है ।

(iv) **टाइपराइटर** - यदि स्टेन्सिल टाइप करना हो तो इस यंत्र का उपयोग किया जाता है।

(v) **करेक्टिंग फ्लूड** (Correcting Fluid) यह एक प्रकार की वार्निश है जो स्टेन्सिल पर हुई अशुद्धियों को दूर करने के लिए प्रयोग की जाती है । इसे स्टेन्सिल पर लगाने से कटे छिद्र भर जाते है तथा उस स्थान पर पुन: लिखा जा सकता है।

(vi) लेटा हुआ डूप्लिकेटर

विधि : बहु संख्या में प्रतिलिपियाँ लेने की किया को दो भागों मे बाँटते है:-

a) स्टेन्सिल तैयार करना: हाथ से स्टेन्सिल लिखना / टाइपराइटर से टाइप करना

b) यंत्र द्वारा बहु संख्या में प्रतिलिपियाँ निकालना : चौरस बहु प्रतिलिपि यंत्र/ चक्राकार या घूमने वाला यंत्र

स्टेन्सिल हाथ से लिखा या टाइपराईटर पर टाइप किया जाता है :

हाथ से स्टेन्सिल तैयार करने के लिए स्टेन्सिल कागज के कडे धरातल (लोहे या प्लास्टिक की प्लेट) पर रखा जाता है। लिखने से पहले मोमिया कागज और मोटे कागज की बीच के पतले कागज को हटाकर उसकी जगह एक कार्बन उल्टा रख दिया जाता है । स्टेन्सिल के निचले भाग में एक पिन लगा दी जाय ताकि उसपर सिकुडन न पडे । लिखने के लिए 'स्टाइलस' का प्रयोग-करते है जो मोम को हटाता हुआ छेद बनाता चलता है । अशुद्धि के लिये एक तरल पदार्थ (Correcting Fluid) का प्रयोग कर छिद्र को भर देते है जिसके सुखने पर सही शब्द लिख देते है ।

स्टेन्सिल टाइपराइटर से तैयार करना है तो टाइप मशीन में लगा रिबन हटाकर स्टेन्सिल को टाइपराइटर बेलन पर चढा दिया जाता है । कुंजी मुखों को कडेबुश से साफ कर दिया जाता है । लेख टंकित हो जाने पर स्टेन्सिल कागज टाइपराइटर में से निकाल कर अधिकारी के हस्ताक्षर स्टाइलस द्वारा करा लिये जाते है ।

यंत्र द्वारा बहुप्रतिलिपकरण :

यह यंत्र दो प्रकार का होता है -

1) चौरस बहु प्रतिलिपि यंत्र

2) चक्राकार बहुप्रतिलिपि यंत्र

चौरस बहु प्रतिलिपि यंत्र : इसका आधार सन्दूक जैसा होता है तथा सभी आवश्यक सामग्री इसमें रखी होती है । इस यंत्र में मुद्रण की स्याही प्रयोग की जाती है । खोलने पर यंत्र दो भागों में विभक्त हो जाता है । दायें हाथ वाले भाग में कड़े व समतल धरातल की एक स्लेट होती है । इसमें एक बेलन लगा हुआ होता है जो ट्यूब से निकली स्याही को स्लेट

पर समान मात्रा में फैला देता है । बाये हाथ वाला भाग में एक चौखट लगी होती है जो स्टिंग या कब्जो की सहायता से ऊपर नीचे की जा सकती है । चौखट के अन्दर स्टेन्सिल कागज इस तरह लगाया जाता है कि चौखट गिराने पर विषय सीधा पढ़ा जा सकें । प्रतिलिपियाँ लेने का कार्य शुरू करते समय स्टेन्सिल कागज को चौखटे के अन्दर लगाया जाता है । स्याही ट्यूब में से निकालकर स्लेट पर फैला दी जाती है और चौखटे के नीचे वाली स्लेट पर एक सोखता (Blotting Paper) रख दिया जाता है । उस पर स्टेन्सिलयुक्त चौखटा खोखली नली से गिराकर स्याहीवाला रोलर स्टेन्सिल के ऊपर फिराते है जिससे स्याही स्टेन्सिल के छिद्रो को पार करती हुई स्याही सोख पर आ जाती है । चौखट को हटाकर स्याही की पर्याप्तता देखी जा सकती है । स्याही अपर्याप्त हाने पर और स्याही लगा दी जाती है । स्याही सोखने पर ठीक प्रतिलिपि आने पर वह हटा लिया जाता है और उसके स्थान पर एक एक करके प्रतिलिपियाँ लेने के कागज रखते हुए तथा चौखट नीचे लाकर उसके अन्दर स्याही का रोलर घुमाने की क्रिया को दोहराते हुए 1000 तक प्रतिलिपियाँ ली जा सकती है । अगर चौखट के उठने एवं गिरने की क्रिया को स्वचालित कर दिया जायें तो अधिक प्रतिलिपियाँ ली जा सकती है ।

चक्राकार या घूमनेवाला बहुप्रतिलिपि यंत्र विधि :

इस विधि में स्टेन्सिल पेपर को जालीदार ड्रम पर चिपकाकर मशीन में कस दिया जाता है । इस ड्रम में स्याही डाल दी जाती है जो स्टेन्सिल से कटे छिद्रो से रिसती रहती है । जब भी कोई कागज इस ड्रम की नीचे से दबाकर निकाला जाता है तो उस कागज पर स्टेन्सिल पेपर पर लिखी हुई सामग्री की छाप आ जाती है । इससे 5000 तक की प्रतियाँ निकाली जा सकती है ।

स्टेन्सिल ढूप्लिकेटर की गुण :

i) प्रतिलिपियों की छपाई सुस्पष्ट व सुन्दर होती है ।

ii) यह सस्ती व सरल विधि है ।

iii) अन्य तरीकों की तुलना में इस पद्धति द्वारा अधिक प्रतिलिपियाँ ली जा सकती है ।

स्टेन्सिल डूप्लिकेटर के अवगुण व सीमाएँ :

i) बहुप्रतिलिपिकरण मशीनें प्राय खर्चीली होती है अत: इन्हे मध्यम एवं बड़े कार्यालय ही खरीद सकते है ।

ii) बहुरंगी प्रतिलिपियाँ लेने के लिए छपाई की क्रिया बार बार दोहरानी पड़ती है ।

iii) स्टेन्सिल के खुरदरे कागज पर हाथ से लिखना कठिन है ।

4) टाइप सेटिंग अथवा मल्टीग्राफ

इस विधि से पतियाँ निकालने में छापे खाने के सारे लाभ प्राप्त किये जा सकते है । इस प्रणाली से सुन्दर, सुस्पष्ट एवं बडी संख्या में प्रतिलिपियाँ प्राप्त की जा सकती है ।

विधि : इस मशीन रो प्रतियाँ प्राप्त करने की क्रिया को तीन भागों में बाँटा जा सकता है :-

i) पत्र की विषय सामग्री कम्पोज करना

ii) छापना

iii) टाईप के ठप्पों का पुन: वितरण

i) पत्र की विषय सामग्री कम्पोज करना : इस मशीन में सामग्री कम्पोजिंग की स्वचालित व्यवस्था होती है । टाइपसेटिंग मशीन के बारी भाग में एक बेलन एवं सिलेण्डर लगा हुआ होता है जिसमें टाइप के अक्षर भरे रहते है । जब मशीन का चालक बेलन अथवा सिलेण्डर घुमाता है तो वह एक सलाख के सहारे घूमना प्रारम्भ कर देता है तथा बेलन में एक संकेतक (Indicator) लगा रहता है । जिस अक्षर अथवा संख्या के टाइप के सांचे की आवश्यकता होती है उसके ऊपर संकेतक आते ही मशीन चालक चाबी घूमा देता है जिससे आवश्यक टाइप के स्वर ही छपाई करने वाले बेलन में उचित जगह पर लग जाते है । इस प्रकार प्रत्येक लाईन को बारी बारी से कम्पोज कर दिया जाता है ।

ii) जब सामग्री कम्पोज हो जाती है तो छपाई का बेलन तैयार हो जाता है । टाइप सेटिंग डूप्लीकेटर में चार पाँच इंच स्याही का फीता लगा होता है जिससे छपाई के लिए स्याही मिलती रहती है । छापई करने वाले बेलन को घुमाने से मशीन में अटकाये हुए कागजों पर कम्पोज की हुई सामग्री छप जाती है ।

गुण : (i) पत्र अधिक संख्या में शीघ्रता व सरलता से छापे जा सकते है । (ii) प्रत्येक प्रति ऐसी लगती है जैसे प्राप्तकर्ता के लिए विशेष रूप से टाइप करवाकर भेजी हो । (iii) इस मशीन में रेखा चित्रों को भी छापा जा सकता है ।

कुछ टाइपसेटिंग उपकरणों में पता छापने की मशीन भी जुड़ी होती है जिससे प्रतियों पर पता छापा जा सकता है ।

5) इलेक्ट्रोनिक स्टेन्सिल डूप्लीकेटर

इस यंत्र से किसी भी रेखा चित्र, हाथ से या टाइप की हुई सामग्री का स्टेन्सिल एक विशेष मशीन से काटा जाता है । जिस बिलेख या रेखाचित्र की प्रतिलिपियाँ ली जानी है उसे एक गोल बेलन जैसे यंत्र पर लपेट दिया जाता है फिर उसे बिजली की तरंगों द्वारा स्कैन किया जाता है जिससे मूल बिलेख की विषय सामग्री छोटे छोटे छिद्रो द्वारा एक स्टेन्सिल पर कट जाती है इससे सैकडों प्रतियाँ बनाई जा सकती है । इस प्रक्रिया में मात्र 6 मिनट का समय लगता है ।

6) फोटोस्टेट मशीनें

इस मशीन से मूल दस्तावेज की हुबहु नकल ली जा सकती है । फोटोस्टेट मशीनों में निम्न मशीनें अधिक लोकप्रिय है:-

i) इलेक्ट्रोस्टेट फोटोकापीयर : पत्रों की सादे कागज पर फोटोकापी उतारने की यह की यह नवीन मशीन है । इस मशीन के एक तरफ कागज भरदिये जाते है तथा जिस पत्र की फोटो लेनी है उसे मशीन के ऊपर स्कीन पर रख कर ढकना बन्द कर दिया जाता है । मशीन में एक कैमरा लगा हुआ होता है जो मूल पत्र की फोटो मशीन में लगे सादे कागज पर उतार देता है तथा वह कागज मशीन के दूसरी तरफ खिसक जाता है ।

ii) माईक्रोफिल्म : जगह की समस्या को देखते हुए अब कई प्रकार के अभिलेखों की मूल प्रतियाँ रखने के स्थान पर उनकी माइक्रोफिल्म तैयार कर ली जाती है । जिससे 98 प्रतिशत तक स्थान की बचत की जा सकती है ।

III लेखा तालिका एवं गणना मशीनें

1) जोड़ करनेवाली मशीनें (Adding Machine)

मशीन द्वारा अधिक जल्दी व परिशुद्धता से जोड़ लगाया जा सकता है । जोड़ लगाने की मशीनें दो प्रकार की होती है:-

i) सूबीकरण करने वाली जोड़ने की मशीन (Listing Type Adding Machine) इस मशीन में दो इंच चौड़ी कागज की पट्टी की एक रील लगा दी जाती है । कुंजियाँ दबाने से राशि कागज की पट्टी पर छपती रहती है । जब विभिन्न प्रकार की रकमों का जोड लगाना होता है तो जोड़ का बटन दबा दिया जाता है तथा वह जोड़ कागज की पट्टी पर छप जाता है जो एक लिखित रिकार्ड भी रहता है ।

ii) सूबीकरण न करने वाली जोड़ने की मशीन (Non Listing Adding Machine) इस प्रकार की मशीन में जोड की राशि किसी कागज पर नहीं छपती हैं । मशीन में छोटी छोटी खिड़कियाँ (Dials) होती है जिनमें कुंजियों को दबाने से संख्याओं का सेट बन जाता है तथा जोड़ का बटन दबाने पर कुल जोड़ मशीन की खिडकियों से देखा जा सकता है ।

2) विद्युत गणना मशीनें (Electronical Calculators) इन मशीनों के बाजार में आ जाने से पुराने डिजाईन की गणना मशीनों का उपयोग बन्द हो गया है । विद्युत गणकों द्वारा बड़ी से बड़ी रकमों का जोड़, घटाना, गुणा, भाग कुछ क्षणों में किया जा सकता है । इस प्रकार के गणक विद्युत तरंगों तथा ट्रांजिस्टरों द्वारा चलते है । बटन दबाने पर संख्याएँ विद्युत गणक की खिडकियों पर दिखने लगती है । इन मशीनों के संचालन में शोर नहीं होता, गणक काफी सस्ते होते है । इनका संचालन बहुत आसान है ।

3) लेखा मशीन (Accounting Machine) बड़े कार्यालयों में यह मशीन अधिक उपयोगी है । इसका प्रयोग बहियों में खतौनी करने के लिए किया जाता है इसलिए इन्हे पोस्टिंग मशीन भी कहते है । वास्तव में यह एक टाइपराइटर होता है, जिसमें जमा करने की मशीन जुडी होती है । आज कल विद्युतचालित मशीनें भी उपलब्ध है जो लेखा आदि का कार्य शीघ्रता से करती है । खतौनी अर्थात् मूल प्रपत्रों की रकम की प्रविष्टि सम्बन्धित खाते में कर दी जाती है । यह सूचीकरण मशीनों का ही उन्नत रूप है । इन मशीनों में कुछ संक्षिप्त विवरण वाली कुंजियाँ भी होती है ।

लाभ :

i) इन मशीनों से खतौनी की गई रकम का जोड़ स्वयं ही होता रहता है जिससे खतौनियों की जाँच सरलता से की जा सके।

ii) गणना में त्रुटियाँ नहीं होती है ।

iii) प्रविष्टियाँ सुन्दर एवं स्पष्ट दिखती है ।

iv) विभिन्न लेख पुस्तकों में एक साथ खतौनी की जा सकती है ।

हानियाँ :

i) मशीनों के खराब हो जाने पर कार्य रूक जाता है ।

ii) मशीन से शोर होता है ।

iii) मशीन संचालन के लिए प्रशिक्षित संचालकों की आवश्यकता होती है ।

4) रोकड़ रजिस्टर (Cash Register)

रोकड़ का लेखा जोखा रखने के लिए व्यावसायिक संस्थाएँ इन मशीनों का उपयोग करती है। प्राप्त रकमों को कैशियर केश रजिस्टर की कुंजियों को दबाकर दर्ज कर लेता है तथा दिन भर की रकमों का जोड़ शाम को मालूम कर लिया जाता है । रोकड़ रजिस्टर मशीन में जो भी दर्ज की जाती है, वे एक कागज की पट्टी पर छपती भी रहती है तथा ग्राहक द्वारा खरीदी गई चीजों का जोड़ भी कागज की पट्टी पर छप जाता है जिसको रसीद के रूप में भी काम ले सकते है ।

कैल्विवनेटर कम्पनी की मशीनें छपे छपाये केश मिमो जारी करती है तथा एक प्रति संग्रहित कर लेती है, जिसे अंकेक्षण, विक्रयकर एवं सन्दर्भ के रूप में काम में लिया जाता है ।

5) पंचकार्ड प्रणाली (Punched Card System)

पंच अथवा छिद्रित कार्डो का प्रयोग आकड़ों का पृथकीकरण, छटाई व विश्लेषण के लिए किया जाता है । इससे कार्यालयों में अनेक कार्य किये जा सकते हैं ।

6) इलेक्ट्रोनिक डाटा प्रोसेसिंग (Electronic Data Processing)

व्यवसाय के सफल संचालन के लिए आकड़ों एवं सूचनाओं की आवश्यकता होती है । व्यवसाय को आन्तरिक व बाह्रा घटक (प्रतिस्पर्धियों की गतिविधियाँ, सरकारी नीतियाँ, बाजार की स्थिति एवं परिवर्तन) प्रभावित करते रहते है अत: प्रबन्धकों को सभी तथ्यात्मक सूचनाओं के आधार पर निष्कर्ष लेने होते है । अत: प्राप्त सूचनाओं एवं आंकडो का एकत्रीकरण, व्यवस्थीकरण, वर्गीकरण एवं विश्लेषण क्रिया द्वारा निष्कर्ष निकालना महत्वपूर्ण है । छोटे व्यवसायी इस कार्य को छोटी मोटी मशीनों एवं लिपिकों की सहायता से करते है जबकि बड़े संस्थान आधुनिक उपकरणों एवं कम्प्यूटरों का उपयोग करते है । आकड़ों को व्यवस्थित करने के विकसित ढंग को ई.डी.पी कहते है । विद्युत तरंगों की भाषा में परिवर्तित तथ्यों, सूचनाओं को व्यवस्थित करने के लि कम्प्युटरो के प्रयोग को ई.डी.पी कहते है । जिसकी प्रक्रिया निम्नानुसार है:-

i) **इनपुट :** आकडों को ऐसी भाषा में परिवर्तित करना जिसे मशीन समझ लें । आकडों पंच कार्ड या कागज के टेप पर अंकित कर कम्प्यूटर में भर दिया जाता है ।

ii) **प्रोसेसिंग :** आकड़ों के सम्बन्ध में की जाने वाली प्रक्रिया कम्प्यूटर की केद्रीय प्रक्रिया यूनिट (Central Processing Unit) करती है । प्रोसेसिंग का कार्य आन्तरिक संग्रहित कार्यक्रम के द्वारा स्वयमेव ही हो जाता है ।

iii) **संग्रहण :** संग्रहण की हुई सूचना कम्प्यूटर में चुम्बकीय टेप या डिस्क पर इकट्ठा हो जाती है ।

iv) **आउटपुट :** कम्प्यूटर आकडों का जो भी विश्लेषण करता है वे कम्प्यूटर में लगी हुई छपाई व्यवस्था (जिसे लाईन प्रिन्टर कहते है) से कागज पर छप जाता है । इस सूचना से कई कार्य जैसे बीजक बनना, अनुक्रमणिका बनना, प्रबन्धकों के लिए रिपोर्ट तैयार होना आदि ।

v) **नियंत्रण :** कम्प्यूटर पर नियंत्रण रखने का कार्य कम्प्यूटर सुरवाईजर के निर्देशन में आन्तरिक रूप से संग्रहित कार्यक्रम करते है । इसे कम्प्यूटर की नियंत्रण इकाई कहते है ।

7) इलेक्ट्रोनिक कम्प्यूटर (Electronic Computer)

कम्प्यूटर कार्यालयों में सबसे अधिक काम में आने वाला अति आधुनिक उपकरण है । ई.डी.पी प्रक्रिया द्वारा कम्प्यूटर तेज गति से लिपिकीय कार्यो का निष्पादन करता है । इलेक्ट्रोनिक कम्प्यूटर मानव मस्तिष्क की प्रतिलिपि (Replica) है जो संगठन की विविध प्रणालियों को एकीकृत व्यवस्था (Integrated Approach) से न्यूनतम अशुद्धि के साथ कार्य का निष्पादन करती है ।

कम्प्यूटर के दो प्रकार है :-

A ऐनेलाग कम्प्यूटर (Analogue Computer)

B डिजिटल कम्प्यूटर (Digital Computer)

ऐनेलाग कम्प्यूटर का प्रयोग विज्ञान एवं औद्योगिक क्षेत्र में गणित सम्बन्धी जटिल फार्मुलो एवं ब्रह्मामाण्ड की समस्याओं को हल करने में किया जाता है । कार्यालयों में केवल डिजिटल कम्प्यूटर ही काम में लाया जाता है । कम्प्यूटर में यह सब कार्य विद्युत तरंगों के वालों में से गुजरने के कारण होता हैं गणना एवं हल करने के अतिरिक्त कम्प्यूटर तथ्यों को याद रखने एवं वांछित जानकारी ढूँढने के लिए भी उपयोगी है ।

कम्प्यूटर कैसे कार्य करता है?

सबसे पहले आंकडों को टेप अथवा कार्डो पर छिद्रित करके या चुम्बकीय टेप में रिकार्ड करके कम्प्यूटर में संग्रहित किया जाता है । कम्प्यूटर संग्रहित सूचना को पढ़ लेता है जो कम्प्यूटर की स्मृति (Memory) में एकत्रित हो जाती है । निश्चित कार्यक्रम के माध्यम से स्मृति में संग्रहित सूचना सेकण्डो में गणित समस्या का हल निकाला जा सकता है । गणना के आधार पर परिणामों का विवेचन करके वार्छित सूचना प्रदान कर सकते है । कम्प्यूटर क्रिया का अन्तिम भाग प्राप्त हल को टेप अथवा सुरक्षित कर देना या परिणाम का प्रिन्ट आउट प्रदान करना है ।

कम्प्यूटर संगठन के लगभग सम्बन्धित सभी कार्यो जैसे वेतन सारणी, बीजक, क्रय आदेश, स्टाक एवं लेखा सम्बन्धी सभी कार्यो को करता है ।

कम्प्यूटर के लाभ

i) जटिल समस्याओं का शीघ्र हल ।

ii) कम्प्यूटर में अधिक सूचनाएँ संग्रहित होती है अत: संगठन के सभी पहलुओं से सम्बन्धित सूचनाओं का विश्लेषण एवं व्याख्या की जा सकती है ।

iii) कर्मचारियों की संख्या में कमी से वेतन खर्चो में कमी का लाभ ।

iv) नैत्यिक एवं नीरस कार्य कम्प्यूटर मिनिटों में कर देता है ।

v) व्यापार सम्बन्धी सूचनाओं के संग्रहणक्षमता के कारण आवश्यकता के समय विश्लेषित सूचना या तथ्यों को प्राप्त कर समय पर निर्णय लेकर व्यापार पर प्रभावी प्रबन्धकीय नियंत्रण रखा जा सकता है ।

हानियाँ

1) कम्प्यूटर के रख रखाव पर अधिक खर्च होना ।

2) विशेष प्रशिक्षित व्यक्तियों की सेवाएँ लेनी पड़ती है ।

3) संगठन की विद्यमान कार्य प्रणाली का त्याग करना पडता है ।

4) वायरस कम्प्यूटर प्रणाली को निष्क्रय कर देता है ।

IV अन्य मशीनें एवं उपकरण :

1) पता छापने की मशीन (Addressing Machine)

जिन संगठनों को बड़ी संख्या में पत्रों को भेजने होते है जैसे टेलीफोन विभाग, बिजली विभाग हर माह अपने ग्राहकों को उसी पते पर बिल भेजने होते है जिन पर हाथ से पता लिखना या टाइप करना दुष्कर कार्य है अत: पता छापने की मशीन का उपयोग किया जाता है । यह मशीन टीन की प्लेट पर उभारे गये अक्षरों से पते छापती है । खुदाई करने वाली मशीन की मदद से टीन की प्लेटों पर पते अंकित कर लिये जाते है फिर उन्हे क्रमानुसार ट्रे में सम्भाल कर रख दिया जाता है । आवश्यकता पर प्लेटों को पता छापने की मशीन में फिट कर दिया जाता है जिससे प्लेटें एक एक करके छपाई की मशीन पर आती रहती है और वांछित कागज पर पता छाप देती है । मशीन हाथ, पैर या बिजली से चलने वाली होती है । इस मशीन का सबसे बड़ा लाभ यह है कि कम समय में शुद्ध व सही पते बड़ी संख्या में छप जाते है । दोष यह है कि बदले पतों को मशीन में दर्ज करना असुविधाजनक रहता है ।

2) डाक टिकिट अंकन मशीन (Postal Franking Machine)

जिन संगठनों प्रति दिन बड़ी संख्या में पत्र भेजने होते है उनपर टिकिट चिपकाना एवं हिसाब रखना कठिन कार्य है अत: परिश्रम एवं असुविधा से बचने के लिए उक्त मशीन का उपयोग किया जाता है । इसके लिए डाक खाने में आवेदन के साथ अग्रिम राशि जमा कराकर मशीन प्राप्त करनी होती है । डाक घर जमा राशि के अनुसार मशीन के मीटर को सैट कर ताला लगा कर प्रयोगकर्ता को दे देते हैं । जब किसी पत्र पर टिकिट लगाना होता है उस पत्र को मशीन के नीचे रख कर मशीन में टिकिट के बराकर की रकम सेट कर दी जाती है । हैंडिल घुमाने पर वांछित रकम के टिकिट छप जाते है मशीन में लगी घड़ी शेष टिकिट राशि की जानकारी दे देती है । चुकाई कई रकम के टिकिट छप जाने पर मशीन चलना बन्द हो जाती है । इस मशीन में भिन्न मूल्यों की टिकिट अंक्ति करने की अलग अलग की जा होती है। जिस रकम की टिकिट अंकित करने होते है उसी हिसाब से कीज दबानी होती है ।

3) पत्रों की तह लगाने वाली मशीन (Folding Machine)

बड़ी संख्या में पत्रों को मोडकर लिफाफे में बन्द करना कठिन कार्य है अत: असुविधा रवे बचने के लिए पत्रों में जहाँ मोड लगाना हो, मशीन को उसके अनुसार सेट कर दिया जाता है । जैसे, पत्र मशीन में डालते है उसमें तह लगती रहती है । विद्युतचालित मशीन से एक घंटे में 20000 पत्रों में आसानी से तह लगाई जा सकती है जिससे समय व श्रम दोनों की बचत होती है ।

4) पत्र खोलने की मशीन (Letter Opener)

बडी संख्या में जहाँ पत्र आते है वहाँ इस मशीन का उपयोग कर एक घंटे में 500 तक लिफाफे खोले जा सकते है । लिफाफे की सामग्री को नीचे खिसकाकर ऊपरी भाग को मशीन में फंसा दिया जाता है । मशीन लिफाफे के किनारे पर पतली सी रेखा काट देती है ।

5) लिफाफे में पत्र डालनेवाली मशीन (Letter Inserting Machine)

इस मशीन में दो उपकरण होते है जिन में एक लिफाफा खोलना जाता है एवं दूसरा उसमे पत्र डालता जाता है । कई मशीनों में गोंद लगाकर लिफाफा बन्द करने के उपकरण भी लगे होते है । हस्तचलित मशीन प्रति मिनिट में 50-60 लिफाफे बन्द कर देती है । स्वचालित मशीन की गति अधिक होती है ।

6) चेक लेखन मशीन (Cheque Writer Machine)

विनिमय पत्र, चैक एवं अन्य बिलेखों पर रकम अंको एवं शब्दो में छिद्रित हो जाती है । आवश्यक हो तो जिस पक्ष के नाम चैक लिखा जाता है उस के नाम को भी मशीन से छिद्रित कर सकते है । इसमें गलती की सम्भावना नहीं रहती है ।

7) चैको पर हस्ताक्षर करने की मशीन

जहाँ नियमित रूप से बड़ी संख्या में चैक हस्ताक्षारेत करने होते है वहाँ हस्ताक्षर करने की मशीन काम में लाई जाती है । यह मशीन टीन की खुदी हुई प्लेट द्वारा चैकों पर हस्ताक्षर छाप देती है । दुरूपयोग से बचने के लिए मशीन मे प्रयोग पर कड़ा नियन्त्रण आवश्यक है।

8) समय अंकन मशीन (Time Recorder)

यह मशीन एक बड़ी घडी के समान होती है जिसमें समय अंकित करने की व्यवस्था है । कर्मचारी जब कारखाने में प्रवेश करता है तो अपने नाम एवं संख्या का कार्ड मशीन में लगाना होता है जिस पर आने का समय अंकित हो जाता है । जाने पर भी यही प्रक्रिया दोहरानी होती है। इस व्यवस्था से कर्मचारी को समय पर आने जाने के लिए पाबन्द किया जा सकता है ।

9) छिद्र करने वाली मशीन (Punching Machine)

यह मशीन कागजों को फाईल में फंसाने के लिए उनमें छिद्र करने के लिए उपयोग में ली जाती है ।

10) स्टेपलिंग मशीन (Stappling Machine)

कागजों पर एक बारीक पिन लगाने के लिए इस मशीन का उपयोग किया जाता है । जिससे कागज टेग की तरह बन्धे रहते है ।

7.8 सारांश (Summary) :

इस इकाई में आपने कार्यालय एवं कार्यालय उपकरणों पर विशेष अध्ययन किया अर्थात् -

- कार्यालय की व्यवसाय में आवश्यकता, उपयोगिता एवं महत्व को समझा है ।
- कार्यालय में प्रयुक्त विभिन्न उपकरणों (A) परम्परागत उपकरणों एवं (b) नवीन उपकरणों के बारे में जानकारी प्राप्त की ।
- उक्त सभी उपकरणों की जानकारी व्यवसाय से जुडे लोगों के लिए तो आवश्यक है ही मगर समाज में रह रहे अन्य लोगो के लिए भी उपकरणों की जानकारी लाभप्रद है ।
- आज बाजार में वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप परम्परागत कार्यालय आधुनिक कार्यालयों में तब्दील हो गये है तथा आवश्यकता, आविष्कार एवं अनुसंधान के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप आधुनिक कार्यालयों को और अधिक सुविधाजनक एवं त्वरित बनाने के लिए नये नये उपकरणों की पूर्ति के प्रयास जारी है ।

7.9 अभ्यासार्थ प्रश्न (Study Questions):

1. क्या कार्यालय व्यवसाय का स्नायू तन्त्र है? इस कथन को समझाते हुए कार्यालय की उपयोगिता पर प्रकाश डालिये।
2. कार्यालय के यंत्रीकरण से आप क्या समझते है?
3. कार्यालय को मशीनें एवं उपकरणों से सुसज्जित करने के उद्देश्य बताइये ।
4. कार्यालय के लिए मशीनों एवं उपकरणों का चयन करते समय किन किन बातों को ध्यान में रखना चाहिए?
5. कार्यालय में प्रयुक्त निर्देशन उपकरण (Instructional Equipment) कौन कौन से है? प्रयुक्त उपकरण कहीं तक भौगोलिक दूरियों को कम करने एवं व्यवसाय के क्षेत्र को विस्तृत करने में सफल हुए है? समझाइये ।
6. लेखा एवं गणना मशीनें व्यवसाय के लिए कितनी उपयोगी है? समझाइये ।
7. ई.डी.पी किसे कहते है? इसके महत्व पर प्रकाश डालिये ।
8. कम्प्यूटर प्रणाली ने कार्यालय उपकरणों में सर्वोच्च स्थान बना लिया है । इस कथन की समीक्षा कीजिये ।
9. निम्न में किन्ही पाँच पर टिप्पणी लिखों :-
   i) मोबाइल फोन
   ii) इलेक्ट्रोस्टेट फोटो कापीयर
   iii) चैक लेखन मशीन
   iv) समय अंकन मशीन
   v) पता छापने की मशीन
   vi) आन्तरिक संप्रेषण व्यवस्था

7.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें (Reference Books)

George. R. Terry	:	**Managing Office Services**
Duggal B.R.	:	**Office Management**
Denyer J.C.	:	**Office Management**
पी.पी. भार्गव एवं जी.एस. सुधा	:	कार्यालय प्रबन्ध

इकाई 8 कार्यालय सन्देशवाहन व्यवस्था (Office Communication System)

इकाई की रूपरेखा :-

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 सन्देशवाहन का क्या अर्थ है ?
8.3 सन्देशवाहन की प्रकृति या विशेषताएँ
8.4 प्रभावशाली सन्देशवाहन प्रणाली के गुण
8.5 सन्देशवाहन प्रक्रिया के तत्व या चरण
8.6 आन्तरिक सन्देशवाहन
8.7 अन्तरिक सन्देशवाहन का महत्व
8.8 आन्तरिक सन्देशवाहन का प्रकार
8.9 सारांश
8.10 शब्दावली
8.11 स्वपरख प्रश्न
8.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- सन्देशवाहन का अर्थ बता सकेंगे,
- सन्देशवाहन की प्रकृति और विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगे,
- प्रभावशाली सन्देशवाहन प्रणाली के प्रमुख गुणों को जान सकेंगे,
- सन्देशवाहन प्रक्रिया को समझ सकेंगे,
- आन्तरिक सन्देशवाहन का अर्थ एवं महत्व बता सकेंगे,
- आन्तरिक सन्देशवाहन के प्रकार को समझ सकेंगे ।

8.1 प्रस्तावना

सन्देशवाहन प्रबन्ध प्रक्रिया एक महत्वपूर्ण पहलू है । कोई प्रबन्धक अपने उच्चाधिकारियों, सहकर्मियों, अधीनस्थों और बाह्य पक्षों से प्रभावपूर्ण ढंग से संप्रेषण किये बिना सफल नही हो सकता है । आधुनिक युग में विशालस्तरीय उत्पादन एवं वितरण की वजह से कारखाना प्रणाली को जन्म मिला । विशिष्टीकरण और श्रम-विभाजन का लाभ प्राप्त करने के लिए उत्पादन क्रिया को विभिन्न विभागों में विभक्त किया जाता है । इन विभागों की कुशलता सुदृढ कार्यालय और उनके द्वारा प्रदान की जानेवाली सेवाओं पर, एक बड़ी सीमा तक निर्भर करती है । एक सतर्क और प्रभावी कार्यालय ही इनकी क्रियाओं पर प्रभावी नियंत्रण बनाये रख

सकता है । सुदृढ़ आन्तरिक सन्देशवाहन व्यवस्था द्वारा एक कार्यालय अपने दायित्व को भली-भाँति निभाने में कठिनाई महसूस नहीं कर पाता है ।

8.2 सन्देशवाहन का क्या अर्थ है?

सामान्य शब्दों में, सन्देशवाहन का अर्थ है दो या अधिक व्यक्तियों के बीच संदेशों का प्रेषण अथवा विचारों, तथ्यों या राय का आदान-प्रदान करना है । विस्तृत रूप में सन्देशवाहन का आशय सन्देश प्राप्ति से कहीं आधिक विस्तृत होता है । जिसमें सन्देश को समझने, स्वीकार करने तथा उसके अनुरूप कार्य करने की आशा की जाती है । इस प्रकार सन्देशवाहन वह क्रिया है जिसके द्वारा सूचना एवं समझ एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचायी जाती है । यह वह पुल है जो दो व्यक्तियों के मातिष्क की खाई को पाटता है । **कीथ डेविस** के अनुसार, "सन्देशवाहन एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को सूचनाएँ तथा समझ पहुँचाने की प्रक्रिया है ।"- **लुईस.ए. ऐलन** के मतानुसार, "सन्देशवाहन, एक व्यक्ति के मस्तिष्क को दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क से जोड़ने वाला पुल है । इसके अन्तर्गत कहने, सुनने तथा समझने की एक व्यवस्थित एवं अनवरत प्रक्रिया सम्मिलित है ।"

8.3 सन्देशवाहन की प्रकृति या विशेषताएँ (Nature or Characteristics of Communication)

सन्देशवाहन की प्रकृति को समझने के लिए उसकी विशेषताओं का ज्ञान आवश्यक है । इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नानुसार है ;

1. सन्देशवाहन एक सतत् प्रक्रिया है जो निर्बाध रूप से चलती रहती है ।
2. सन्देशवाहन प्रक्रिया में दो पक्ष होते है - एक सन्देश प्रेषक और दूसरा सन्देश प्राप्तकर्ता।
3. सन्देशवाहन में सूचनाओं के साथ-साथ आपसी समझ, भावनाओं एवं तर्को आदि को भी सम्मिलित किया जाता है ।
4. सन्देश का आदान प्रदान कई माध्यमों द्वारा किया जा सकता है, इसमें प्रमुख है- मौखिक, लिखित, संकेतों, मुद्राओं तथा प्रतीकों आदि । सन्देशवाहन को प्रभावी बनाने के लिए एक से अधिक माध्यमों का प्रयोग किया जा सकता है ।
5. सन्देशवाहन बहुआयामी होता है । यह अधोगामी, उर्ध्वगामी, समतल, आन्तरिक एवं बाह्य किसी भी प्रकार का हो सकता है ।
6. श्रेष्ठ सन्देशवाहन बोलने की योग्यता के साथ-साथ सुनने की कुशलता पर निर्भर करता है ।
7. सन्देशवाहन का उद्देश्य है सूचनाओं को प्रेषित करना और परस्पर हित, उद्देश्य प्रयत्नों में एकरूपता लाना ।
8. सन्देशवाहन द्विमार्गीय प्रक्रिया है इसमें सन्देश के प्रेषण के साथ-साथ संदेश की प्रतिक्रिया या उत्तर प्राप्त करना भी सम्मिलित है ।

8.4 प्रभावशाली संदेशवाहन प्रणाली के गुण (Qualitites of Effective Communication System)

सन्देशवाहन प्रणाली के गुणों के बारे में कोई नियम तय नहीं किये जा सकते । यह हो सकता है कि सन्देशवाहन का एक तरीका किसी एक निश्चित सूचना के प्रेषण के लिए ठीक हो, परन्तु अन्य प्रकार की सूचना के लिए उपयुक्त न हो । सन्देशवाहन का कौनसा तरीका अपनाया जाना चाहिए, यह संस्था की आवश्यकताओं तथा सूचना की प्रकृति पर निर्भर होता है । कोई तरीका शीघ्र तथा अधिक अच्छा हो सकता है, किन्तु उसकी लागत इतनी अधिक हो सकती है कि उसका प्रयोग करना सम्भव न हो । सामान्यत: सन्देशवाहन प्रणाली में निम्नलिखित गुण होने चाहिए :-

1. **उपयुकतता:** सन्देशवाहन प्रणाली की उपयुक्तता संस्था की प्रकृति, व्यवसाय के फैलाव आदि पर निर्भर करती है । यदि कार्यालय लघु हो तो मौखिक बातचीत एक अति उत्तम व्यवस्था सिद्ध हो सकती है, जबकि दूसरी ओर यदि किसी संस्था के विभाग विभिन्न स्थानों एवं एक ही भवन की विभिन्न फ्लोर पर स्थित हो तो वहाँ टेलीफोन व्यवस्था कम खर्चीली और प्रभावी साबित होती है ।
2. **स्पष्ट, संक्षिप्त एवं परिपूर्ण कथन:** प्रभावशाली सन्देशवाहन प्रणाली हेतु यह आवश्यक है कि संदेश स्पष्ट, सीधे, सरलता से पढ़े जाने वाले एवं संक्षिप्त कथन के रूप में प्रेषित किये जाने चाहिए । संदेश में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिये जिनके एक ही अर्थ निकलें, विभिन्न अर्थ नहीं । सन्देश संक्षिप्तता के साथ-साथ तथ्य की दृष्टि से परिपूर्ण हो।
3. **सुविधा:** सन्देशवाहन की प्रणाली का उपयोग सुविधाजनक होना चाहिए । यदि किसी सन्देशवाहन उपकरण या यंत्र को सुविधाजनक ढंग से प्रयोग नहीं किया जा सकता है तो उसकी उपयोगिता कम हो सकती है जो कि किसी संस्था के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती है ।
4. **प्रलेख:** कुछ स्थितियों में संदेशों का अधिकृत प्रलेख रखा जाना चाहिए, ताकि उसे भविष्य में उत्पन्न होने वाले विवादों की स्थिति में प्रमाण के रूप में रखा जा सकें । एक सही सन्देशवाहन प्रणाली संदेशों का अभिलेख रखने योग्य होनी चाहिए।
5. **गोपनीयता:** अच्छी सन्देशवाहन प्रणाली में गोपनीयता का गुण अति आवश्यक है ताकि भेजे गए सन्देश या सूचना का किसी अन्य व्यक्ति को पता न चलें ।
6. **लागत:** सन्देशवाहन प्रणाली को स्थापित करने व इसके सुव्यवस्थित संचालन में अधिक खर्चा नहीं होना चाहिए । परन्तु किसी प्रणाली की लागत उससे प्राप्त किये जाने वाले लाभों के सन्दर्भ में मापी जाती है ।
7. **गति:** सन्देशवाहन प्रणाली सूचनाओं के अदान प्रदान में शीघ्रता का गुण लिए हुए होनी चाहिए । संदेश सही समय पर मिल सकें ताकि अवसर का लाभ उठाया जा सकें ।

8.5 सन्देशवाहन प्रक्रिया के तत्व या चरण

सन्देशवाहन एक प्रक्रिया है जो किसी भी संगठन में निर्बाध गति से चलती रहती हैं । यह प्रक्रिया अनेक तत्त्वों एवं चरणों से बनती है । संक्षेप में ये प्रमुख तत्त्व या चरण निम्नानुसार है :-

1. **प्रेषक (Sender of Communication):** सन्देशवाहन का प्रथम तत्त्व प्रेषक है । सन्देश प्रेषक एक अकेला व्यक्ति अथवा कोई संगठन हो सकता है, जैसे- समाचार-पत्र, टेलीविजन स्टेशन आदि ।
2. **विचार (Ideas):** सन्देश प्रेषक का विचार ही सन्देशवाहन की विषय-वस्तु होता है । यह विचार आदेश, निर्देश, सुझाव, शिकायत, राय, अनुभव आदि के रूप में हो सकता है ।
3. **कूटलेखन (Encoding):** सन्देश या सूचना की विषय-वस्तु अदृश्य होती है । अत: उसको निश्चित स्वरूप प्रदान करने के लिए कूटलेखन किया जाता है । कूटलेखन करने के लिए शब्दों, चित्रों, संकेतों का उपयोग किया जा सकता है ।
4. **माध्यम (Medium):** सन्देशवाहन का माध्यम संदेश को संदेश प्रेषक से प्राप्तकर्ता तक ले जाता है । सुविधा एवं आवश्यकता के अनुसार मौखिक, लिखित, सांकेतिक, दृश्य-श्रव्य आदि में से किसी भी माध्यम का चुनाव किया जा सकता है । माध्यम का चुनाव सन्देशवाहन का एक महत्वपूर्ण पहलू है ।
5. **सन्देश प्राप्तकर्ता (Receiver or Audience) :** संदेश का प्राप्तकर्ता सन्देशवाहन प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग है । इसके अभाव में सन्देशवाहन प्रक्रिया अपूर्ण ही रहती है। प्राप्तकर्ता एकाकी व्यक्ति हो सकता है या समूह का एक सदस्य हो सकता है, जैसे- समाचार-पत्र का पाठक या टेलीविजन का दर्शक आदि । अत: सन्देश तथा सन्देश का माध्यम निर्धारित करने से पूर्व ही उन सन्देश प्राप्तकर्ता को ध्यान में रखना पड़ता है।
6. **व्याख्या करना (Interpreting or Decoding) :** संदेश प्राप्तकर्ता जब सन्देश प्राप्त कर लेता है तो वह उसकी व्याख्या करता है । वह शब्दों, चित्रों, संकेतों आदि का अर्थ लगाता है और उनको समझने का प्रयास करता है । सन्देशवाहन की सफलता इस बात पर ही निर्भर करती है कि प्राप्तकर्ता सन्देशों की किस प्रकार व्याख्या करता है ।
7. **प्रतिपुष्टि (Feed back) :** सन्देशवाहन प्रक्रिया का यह अन्तिम चरण है जिसके बिना यह प्रक्रिया अधूरी रहती है । प्रतिपुष्टि प्रेषक को इस योग्य बनाता है कि वह जाँच सकें कि क्या प्राप्तकर्त्ता प्राप्त संदेश को ठीक ढंग से समझ सका है या नहीं । इससे यह भी जानकारी हो जाती है सन्देश यथा सही व्यक्ति के पास पहुँच गया है तथा उसने प्रेषक की भावना एवं अर्थो के अनुरूप समझ लिया है ।

8.6 आन्तरिक सन्देशवाहन (Internal Communication)

आशय (Meaning) : आन्तरिक सन्देशवाहन से आशय किसी व्यावसायिक संस्था में विद्यमान उस सन्देशवाहन प्रणाली से होता है जिसके माध्यम से उसके आन्तरिक संगठन के मध्य आदेश, निर्देश, सूचनाएँ तथ्य सुझाव एवं शिकायत प्रेषित की जाती है दूसरे शब्दों

में, किसी संगठन के भीतरी भाग में सम्पन्न की जा रही क्रियाओं के नियोजन, संगठन, समन्वय, निर्देशन, अभिप्रेरण एवं नियंत्रण के लिए किया. जाने वाला सन्देशवाहन आन्तरिक सन्देशवाहन कहलाता है । नियोक्ता और कर्मचारियों तथा कम्पनी और अंशधारियों के बीच सूचनाओं का आदान-प्रदान इसी के अन्तर्गत रखा जा सकता है ।

8.7 अन्तरिक सन्देशवाहन का महत्व (Importance of Internal Communication)

प्रत्येक संगठन में आन्तरिक सन्देशवाहन के महत्व को निम्नानुसार बिन्दुओं में दर्शाया जा सकता है :-

1. **सूचनाओं एवं कार्यविधि की जानकारी :** आन्तरिक संदेशवाहन व्यवस्था के द्वारा प्रबन्ध पर्यवेक्षकों को तथा पर्यवेक्षक अपने अधीनस्थों को आवश्यक सूचनाएँ एवं निर्देश प्रदान करते है, उन्हे काम करने की श्रेष्ठ कार्यविधियॉ बताते है जो उनकी कार्यक्षमता वृद्धि में सहायक होती है ।
2. **समूह भावना का विकास :** सन्देशवाहन संस्था के कर्मचारियों के बीच अच्छे सम्बन्धों के विकास में सहायता करता है । संचार के द्वारा आपसी कलह या संघर्ष को जन्म ही नहीं मिल पाता है । कार्यालय में समूह में रहकर कर्मचारी एक टीम भावना से कार्य करते है ।
3. **पारस्परिक समझ का विकास :** किसी भी संस्था के कुशल संचालन के लिए यह जरूरी है कि मालिक एवं कर्मचारी एक दूसरे को अच्छी प्रकार समझे अर्थात् आपसी पारस्परिक समझ विद्यमान हो । आन्तरिक सन्देशवाहन व्यवस्था नियोक्ता और कर्मचारियों के मध्य पारस्परिक समझ उत्पन्न करती है तथा उसे बनाये रखने में सहायक होती है ।
4. **परिवर्तनों की जानकारी :** प्रत्येक संस्था में कर्मचारी किसी भी प्रकार के परिवर्तनों को संदेह की दृष्टि से देखते है तथा विरोध प्रगट करते है । ये परिवर्तन कार्य करने के तरीकों, उपकरणों और व्यवस्थाओं आदि में हो सकते है । आन्तरिक सन्देशवाहन के द्वारा परिवर्तनों हेतु उपयुक्त वातावरण का निर्माण करना ताकि कर्मचारी इनको सहर्ष स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाए ।
5. **कर्मचारियों में संस्था के प्रति रूचि उत्पन्न करना :** आधुनिक समय में संस्था के कर्मचारी केवल इस बात से सन्तुष्ट नहीं होता कि उसे समय पर वेतन व अन्य लाभ मिलते रहे वरन् वह संस्था की प्रगति, आर्थिक और वित्तीय स्थिति एवं नीतियों से भी परिचित रहना चाहता है । इस उद्देश्य की प्राप्ति में आन्तरिक सन्देशवाहन ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है ।
6. **सही निर्णयन में सहायक :** सही निर्णय तब ही सम्भव है जबकि सही एवं पर्याप्त सूचनाओं, तथ्यों एवं आँकडों का संकलन किया जायें । आन्तरिक सन्देशवाहन प्रणाली के बिना यह सम्भव नहीं होता है ।
7. **द्विमार्गीय सन्देशवाहन प्रणाली के लाभ :** प्रत्येक संस्था यह चाहती है कि उसके यहाँ द्विमार्गीय संचार प्रणाली अपनाई जायें । इस व्यवस्था से जहाँ कर्मचारियों को प्रबन्ध-वर्ग

अपने विचार, दृष्टिकोण तथा आवश्यक सूचनाओं से अवगत करवाते रहते है वहीं संस्था कर्मचारियों के विचार, सुझाव एवं शिकायतों से भी अवगत होती रहती है । इससे निर्णय लेने तथा उत्पादन विधियों में सुधार करने में सहायता प्राप्त होती है ।

8.8 आन्तरिक सन्देशवाहन के प्रकार (Kinds of internal Communication)

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से आन्तरिक सन्देशवाहन को निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते है :-

1. मौखिक एवं लिखित सन्देशवाहन ।
2. औपचारिक एवं अनौपचारिक सन्देशवाहन ।
3. अधोगामी, उर्ध्वगामी एवं समतल सन्देशवाहन ।
4. मौखिक एवं लिखित सन्देशवाहन (Oral and Written Communication) ।

(अ) मौखिक सन्देशवाहन (Oral Communication) :

मौखिक सन्देशवाहन में शब्दों का उच्चारण करके संदेशों का प्रेषण किया जाता है । लेखनी द्वारा लिखकर नहीं । मौखिक सन्देशवाहन दो प्रकार से हो सकता है: (i) आमने-सामने बातचीत करके तथा (ii) यांत्रिक उपकरणों के माध्यम से । इन दोनों प्रकारों में हम सम्मिलित कर सकते है आमने-सामने प्रत्यक्ष बातचीत करना, बैठक, संगोष्ठी, सम्मेलन, साक्षत्कार, रेडियो, टेलीफोन एवं टेलीविजन आदि । मौखिक सन्देशवाहन सर्वाधिक प्रचलित एवं प्रभावशाली माध्यम है । इसके अन्तर्गत आमने-सामने बातचीत के शब्दों के अलावा, भावनाओं तथा शारीरिक हाव-भाव द्वारा विचारों की अभिव्यक्ति को अधिक प्रभावशाली बनाया जा सकता है ।

गुण :- मौखिक सन्देशवाहन के निम्नलिखित गुण है :

(i) सन्देशवाहन के इस तरीके मे सब बातें जबानी कही जा सकती है, जिससे पत्रों को लिखने व प्रेषित करने में होने वाले समय, श्रम एवं धन की बचत होती है ।

(ii) यह प्रभावशाली सन्देशवाहन का तरीका है क्योंकि इसमें शब्दों के साथ- साथ व्यक्ति के हाव-भाव का प्रभाव भी जुड़ा रहता है ।

(iii) अस्पष्टता का निवारण भी तत्काल किया जा सकता है क्योंकि प्रेषित तुरन्त प्रश्न पूछ कर शंका का समाधान कर सकता है ।

(iv) आपसी वार्तालाप में सहयोग व सहानुभूति में अभिवृद्धि की अधिक सम्भावना रहती है।

(v) मौखिक सन्देशवाहन में आपसी वार्तालाप से सन्देशों को गोपनीय रखा जा सकता है ।

(vi) आपसी वार्तालाप में अधिक लोच बनी रहती है, दोनों पक्षकार तुरन्त घट-बढ़ करके समझौते पर पहुँच सकते है । इस प्रणाली में दोनों पक्षकार एकदूसरे की भावनाओं, प्रतिक्रियाओं आदि को तुरन्त जान सकते है

(vii) आमने-सामने वार्तालाप से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित होता है जिसमें कई बातें अनौपचारिक रूप से भी कही जा सकती है ।

दोष :- मौखिक सन्देशवाहन के निम्नलिखित दोष है:

(i) मौखिक सन्देशवाहन के लिए दोनों पक्षों संदेश प्रेषक और प्रेषित की उपस्थिति आवश्यक है ।

(ii) मौखिक सन्देशवाहन का दोष यह है कि इसके लिखित प्रमाण के अभाव में उसके विरूद्ध वैधानिक कार्यवाही नहीं की जा सकती है ।

(iii) मौखिक सन्देशवाहन सामान्यतया अनौपचारिक और अस्पष्ट होता है तथा बाद में उनका कुछ भी अर्थ बदला जा सकता है । मौखिक बातचीत को अक्षरत: याद रखना भी कठिन एवं मुश्किल होता है ।

(iv) मौखिक सन्देशों की दशा में कई लोगों को कार्य करने के लिए जिम्मेदार ठहराना कठिन होता है । कर्मचारियों में टालमटोली की भावना का विकास होने लगता है ।

(v) इस माध्यम में सन्देश प्रेषक को सन्देश की विषय-वस्तु पर पूर्व विचार करने का प्राय: समय नहीं मिलता है ।

(vi) मौखिक सन्देशवाहन, सन्देशवाहन के अन्य साधनों की तुलना में खर्चीला साधन है ।

(vii) ऐसी सूचनाएँ जो संस्था के हित में भावी सन्दर्भ के लिए आवश्यक होती है, के लिए मौखिक सन्देशवाहन अनुपयुक्त होता है ।

मौखिक सन्देशवाहन के उपकरण : कार्यालय में मौखिक सन्देशवाहन के लिए निम्नलिखित यन्त्र या उपकरण उपयोग में लाये जाते है :

1. बेतार व्यवस्था (Wireless System)
2. श्रुतवाचक यन्त्र (Dictating Machine)
3. वार्तालाप करने की नली (Speaking Tube)
4. संकेतों द्वारा सम्प्रेषण (Communication by Signals)
5. टेलीफोन (Telephone): संस्था में विभिन्न प्रकार की टेलीफोन की व्यवस्था हो सकता है: (A) प्राईवेट स्वचालित शाखा एक्सचेन्ज (Private Automatic Branch Exchange .PABX) (B) निजी शाखा एक्सचेन्ज (Private Branch Exchange PBX) (C) मुख्य लाइन तथा उसका विस्तार (Main Line & Extensions) (D) निजी अन्त: संचार प्रणाली (Private Inter- Communication System) (E) मोबाइल फोन एवं सेलुलर फोन (Mobile or Celular Phone)
6. प्रत्यक्ष वार्तालाप (Face to Face Conversation)
7. भाषण, समिति की बैठकें एवं विचार गोष्ठियाँ (Lectures, Committee Meeting and Symposiums)

(ब) लिखिक सन्देशवाहन (Written Communication) :

लिखिक सन्देशवाहन से आशय संदेश प्रेषणकर्ता सन्देश को मौखिक रूप से न बताकर लिखित रूप में प्रेषित करता है । लिखित संप्रेषण के लिए सामान्यतया पत्र, पत्रिकायें, बुलेटिन, प्रतिवेदन, हैण्डबुक, मेन्यूअल्स, सुझाव पुस्तिकायें, डायरियाँ, समाचार-पत्र आदि

का प्रयोग किया जाता है । प्राय: महत्त्वपूर्ण संदेशों का लिखित रूप में आदान-प्रदान होता है ।

गुण: लिखिक सन्देशवाहन का प्रयोग मौखिक सन्देशवाहन के दोषों को दूर करने के लिए ही किया गया है । लिखित सन्देशवाहन में निम्नानुसार गुण पाये जाते है :

(i) लिखित सन्देश भाषा एवं भाव, दोनों ही दृष्टि से मौखिक सन्देश की तुलना में अधिक स्पष्ट होते है ।

(ii) इन्हें स्थाई व अधिकृत रिकार्ड के रूप में रखा जा सकता है ।

(iii) इन्हें भविष्य के सन्दर्भ में उपयोग में लाया जा सकता है ।

(iv) दूर स्थित लोगों से सन्देश आदान-प्रदान का यह उत्तम माध्यम है ।

(v) लिखित सन्देशवाहन कम खर्चीला एवं विस्तृत सन्देशों के लिए बहुत ही उपयोगी होता है ।

(vi) यह माध्यम बड़े समूह को एक साथ सूचित करने हेतु उपयुक्त रहता है ।

दोष :- लिखिक सन्देशवाहन के प्रमुख दोष निम्नलिखित है:

(i) संदेश को लिखित रूप देने में श्रम, समय एवं धन का अपव्यय होता है ।

(ii) सामान्यतया कर्मचारी पत्रों एवं कागजी कार्यवाही आदि के निपटारे में आलस्य करते है जिससे भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है ।

(iii) लिखित सन्देश का प्राप्तकर्ता पर क्या प्रभाव हुआ और इस सन्दर्भ में उसकी क्या प्रतिक्रिया रही सन्देश देने वाले को इसका कुछ पता नहीं चल पाता है ।

(iv) इसमें गोपनीयता भंग होने का भय रहता है ।

(v) कई बार महत्वपूर्ण मामले, छोटी-छोटी बातों का स्पष्टीकरण का लिखित में जवाब माँगने के कारण अटके पड़े रहते है ।

लिखित सन्देशवाहन के साधन (Means of Written Communication):

लिखित सन्देशवाहन दो प्रकार से किया जा सकता है :

(i) पत्रों की वास्तविक सुपुर्दगी (Actual Delivery of Papers): पत्रों तथा अभिलेखों के रूप में लिखित सूचना प्राप्तकर्ता को, संदेश-वाहकों या उपकरणों के द्वारा भेजा जा सकता है ।

(ii) सन्देशवाहक सेवा (Messenger Service): यह सबसे पुराना और लोकप्रिय तरीका है । इस प्रणाली में एक विभाग से दूसरे विभाग की डाक लाने-ले जाने हेतु चपरासी या सन्देशवाहक प्रयुक्त किये जाते है । हमारे देश में सभी सरकारी कार्यालयों में इस व्यवस्था को अपना रखा है ।

(iii) आन्तरिक डाक सेवा (Internal Mail Service): यह प्रणाली सन्देशवाहक सेवा के दोषों को दूर करने के लिए निकाली गई है । प्रत्येक विभाग या व्यक्ति के लिए एक पृथक सन्देशवाहक लगाने के स्थान पर ऐसी व्यवस्था कर दी जाती है कि समय-समय पर सन्देशवाहक भेजी जाने वाली डाक को विभिन्न विभागों व अधिकारियों से इकट्ठी करके गंतव्य स्थान पर पहुँचा देते है । प्रत्येक विभाग अथवा अधिकारी की टेबिल पर दो ट्रे

रहती है - एक आवक (In) ट्रे तथा दूसरी जावक (Out) ट्रे । अन्य विभागों को भेजी जानी वाली डाक आवक ट्रे में रख दी जाती है तथा आने वाली डाक सूचनावाहक 'आवक' ट्रे में रखे जाते है । यह प्रणाली डाक खाने की डाक-प्रणाली के समान चलती है।

कागज-पत्रों को लाने-ले जाने के उपकरण चालित साधन (Mechanical Means of Carrying Papers): पत्रों को यन्त्र चालित साधनों द्वारा ले जाने के निम्नलिखित उपकरण है :

(i) वाहन पट्टी (Conveyor Belts)

(ii) वायु के दबाव की नालियाँ (Pneumatic Tubes)

संदेशों के वहन के यन्त्रचालित साधन (Mechanical Means of Carrying Message) : इस तरीके में सूचना को पहुँचाया जाता है मूल कागज-पत्रों को नहीं । इस प्रणाली में या तो मूल-पत्र का फोटो अथवा फोटोग्राफ ही पहुँचाया जाता है । ये साधन निम्नलिखित है: - (i) टेलीफेक्स अथवा लिखित की हू-बहू प्रति को पहुँचाना (Telefex or Facsimile Telegraphy), (ii) टेलीप्रिन्टर अथवा टेलीटाईपराइटर (Teleprinter or Teletypewriter), (iii) टेलीविजन (Television), (iv) इन्टरनेट प्रणाली (Internet System)

1. मौखिक अथवा लिखित सन्देशवाहन (Verbal or Written Communication)

किसी भी व्यावसायिक संस्था अथवा कार्यालय में मौखिक सन्देशवाहन प्रणाली को अपनाया जाय अथवा लिखित सन्देशवाहन प्रणाली, इस प्रश्न का उत्तर तय कर पाना एक कठिन कार्य है । दोनों ही प्रणालियों के अपने-अपने लाभ-दोष है । एक परिस्थिति में मौखिक सन्देशवाहन-प्रणाली उचित है तो दूसरी परिस्थिति में लिखित सन्देशवाहन-प्रणाली उपयुक्त कही जा सकती है । हमारा उद्देश्य तो संस्था या कार्यालय में सन्देशवाहन में पूर्णता हासिल करना है और परिस्थितियों के अनुकूल लिखित अथवा मौखिक सन्देशवाहन की व्यवस्था ही श्रेयरकर होगी । थियों हैमन ने लिखा है, "यदि प्रबन्धक केवल एक विधि काम में लाता है तो उससे गम्भीर अकार्यकुशलता का जन्म होगा ।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि लिखित हो अथवा मौखिक, दोनों का अपना-अपना महत्व है । ये दोनों एक दूसरे की प्रतिस्पर्धी न होकर पूरक है । अत: परिस्थिति और आवश्यकता के अनुरूप ही उचित विधि का चुनाव किया जाय अथवा दोनों विधियों को एक साथ भी प्रयोग किया जा सकता है ।

2. औपचारिक और अनौपचारिक सन्देशवाहन (Formal and Informal Communication) :

(अ) औपचारिक सन्देशवाहन (Formal Communication)

जब संदेशप्रेषक और संदेशगृहीता के मध्य सम्बन्ध औपचारिक हो तब उनके मध्य सन्देशों का आदान-प्रदान 'औपचारिक सन्देशवाहन कहलाता है । सन्देशप्रेषक और सन्देशगृहीता के मध्य औपचारिक सम्बन्धों का निर्माण संगठन-चार्ट (Organisation - Chart) द्वारा होता है । इस चार्ट के आधार पर अधिकार और उत्तरदायित्वों द्वारा औपचारिक सन्देशवाहन के मार्ग निर्धारित किये जाते है ।

सन्देशवाहन के इस प्रारूप में उच्चाधिकारी अपने अधीनस्थ के पारा कोई सूचना भेजना चाहता है वह यह कार्य अधीनस्थ कर्मचारियों की सौपानिक श्रृंखला (Scalar Chain) के द्वारा ही पूरा

करता है अर्थात् वह अमुक सूचना अपने अधीनस्थ अधिकारी को देता है और वह अधीनस्थ अधिकारी अपने अधीनस्थ को ।

इस प्रकार वह सूचना सम्बन्धित कर्मचारी तक पहुँचती है । इसी प्रकार यदि कोई कर्मचारी मुख्य अधिकारी के पास सुझाव अथवा शिकायत पहुँचाना चाहता है तो वह यह कार्य अपने से ऊपर स्थित उच्चाधिकारियों के माध्यम से ही कर सकता है ।

(ब) अनौपचारिक सन्देशवाहन (Informal Communication)

जब संदेशप्रेषक और संदेशगृहीता के मध्य सम्बन्ध अनौपचारिक सम्बन्ध होते है, तब उनके मध्य संदेश के अदान-प्रदान को 'अनौपचारिक सन्देशवाहन कहते है इसी प्रकार के सन्देशवाहन में संगठन-चार्ट द्वारा निर्धारित मार्गो के अनुसरण की आवश्यकता नहीं पड़ती है । वस्तुत: सन्देश दोनो पक्षों के मध्य विद्यमान अनौपचारिक और मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों पर आधारित होते है । इनका प्रेषण मौखिक, सांकेतिक मुख्य-मुद्रा, मौन रहकर आदि विधियों द्वारा किया जा सकता है । इस प्रकार के सन्देशों का आदान-प्रदान अनौपचारिक विचार-विमर्श के दौरान, जलपान एवं सामाजिक समारोह आदि पर किया जाता है । इस प्रकार के सन्देशवाहन द्वारा संस्था की कार्यकुशलता बढ़ाने, प्रबन्ध और कर्मचारियों के मध्य य मधुर एवं सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना में मदद मिलती है । अनौपचारिक सम्बन्ध प्राय: समस्तरीय अधिकारियों अथवा कर्मचारियों के मध्य पाये जाते है । इन सम्बन्धों को अंगरलता (Grapevine) अथवा बुश टेलीग्राफ (Bush Telegraph) के नाम से जाना जाता है ।

3. अधोगामी, उर्ध्वगामी एवं समतल सन्देशवाहन :

(Downwad, Upward and Horizontal Communication)

सन्देशों के प्रवाह की दिशा के आधार पर सन्देशवाहन को निम्नलिखित प्रकारो में बाँटा जा सकता है :

(अ) अधोगामी सन्देशवाहन (Downward Communication)

जब सन्देश का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर अर्थात उच्च अधिकारियों से अधीनस्थ कर्मचारियों की ओर होता है तो इसे अधोगामी सन्देशवाहन कहते है । इस प्रकार के सन्देशवाहन को "कर्मचारी सन्देशवाहन" (Employee Communication) के नाम से भी पुकारा जाता है । किसी संस्था में अधोगामी सन्देशवाहन की स्थिति निम्न होती है :

अध्यक्ष
↓
जनरल मैनेजर
↓
विभागीय मैनेजर
↓
फोरमैन
↓
कर्मचारी

इस प्रकार का सन्देशवाहन संस्था में उस समय काम में लाया जाता है जब. उच्चाधिकारियों को अपने अधीनस्थों को आदेश, निर्देश अथवा जानकारी दी जानी होती है । इस प्रकार के सन्देश सामान्यत: लिखित रूप में प्रेषित किये जाते है ।

(ब) उर्ध्वगामी सन्देशवाहन (Upward Communication)

जब सन्देश के प्रवाह की दिशा नीचे से ऊपर की ओर होती है अर्थात् जब अधीनस्थ कर्मचारियों से विभागीय अधिकारियों को और उनके माध्यम से उच्चाधिकारियों को सन्देश प्रेषित करते है तो इस प्रकार सन्देश उर्ध्वगामी सन्देशवाहन कहलाता है । यह सन्देशवाहन औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही प्रकार के होते है । किसी संस्था में ऊपर की ओर सन्देशवाहन की निम्न स्थिति होगी :

अध्यक्ष
↑
जनरल मैनेजर
↑
विभागीय मैनेजर
↑
फोरमैन
↑
कर्मचारी

(स) समतल सन्देशवाहन (Horizontal Communication)

जब एक ही स्तर के विभिन्न व्यक्तियों के मध्य सन्देश का आदान-प्रदान होता है तो यह समतल सन्देशवाहन कहलाता है । उदाहरण के लिए व्यावसायिक संस्था में क्रय विभाग और विक्रय विभाग के अध्यक्षों के मध्य हुए सन्देशवाहन को समतल सन्देशवाहन कहेंगे । समतल सन्देशवाहन भी मौखिक एवं लिखित किसी भी प्रकार का तथा दोनों ही प्रकार का हो सकता है ।

8.9 सारांश

सन्देशवाहन से आशय एक ऐसी प्रक्रिया से है जिसके द्वारा दो या अधिक व्यक्तियों के बीच संदेशों का प्रेषण अथवा सन्देश को समझने, स्वीकार करने तथा उसके अनुसार कार्य करने से है ।

विशेषताएँ

सन्देशवाहन की प्रकृति या विशेषताएँ प्रमुख रूप से इस प्रकार है - सन्देशवाहन सतत चलने वाली प्रक्रिया है, दो पक्षों का होना, सूचनाओं के आदान-प्रदान के साथ-साथ आपसी समझ का होना, सन्देश प्रेषण में कई माध्यमों का प्रयोग, सन्देशवाहन बहुआयामी होता है, सन्देशवाहन द्विमार्गीय प्रक्रिया है आदि ।

प्रभावशाली सन्देशवाहन प्रणाली में निम्नांकित गुण देखने को मिलते है - उपयुक्तता का गुण, स्पष्ट, संक्षिप्त एवं परिपूर्ण कथन, संदेशों का अभिलेख योग्य होना, गोपनीयता, कम लागत, शीघ्रता का गुण आदि ।

सन्देशवाहन प्रक्रिया के प्रमुख तत्व या चरण इस प्रकार है - प्रेषक, विचार, कूटलेखन (Enconding), माध्यम, सन्देश प्राप्तकर्ता, व्याख्या करना एवं प्रतिपुष्टि (Feed -Back)। आन्तरिक सन्देशवाहन से आशय, किसी संगठन के अन्दरूनी भाग में प्रेषित की जाने वाली सूचनाओं से है, जिससे संस्था के अन्तर्गत की जाने वाली क्रियाओं का प्रभावी प्रबन्ध किया जा सकें । आन्तरिक सन्देशवाहन का महत्व निम्नांकित बिन्दुओं में बता सकते है - सूचनाओं एवं कार्य विधि की जानकारी, समूह भावना का विकास, पारस्परिक समझ का विकास, परिवर्तनों की जानकारी, संस्था के प्रति कर्मचारियों की रूचि उत्पन्न करना एवं सही निर्णयन में सहायक आदि ।

आन्तरिक सन्देशवाहन के प्रकार को हम मोटे रूप से तीन भागों में विभाजित कर सकते है- 1. मौखिक एवं लिखित सन्देशवाहन 2. औपचारिक एवं अनौपचारिक सन्देशवाहन 3. अधोगामी, उर्ध्वगामी एवं समतल सन्देशवाहन ।

8.10 शब्दावली

सन्देशवाहन : सन्देश का प्रेषण, कहने अथवा पारस्परिक समझ पैदा करने की प्रक्रिया है ।

सन्देश : सन्देश वह सूबना, विचार, भावना तथा तथ्य है जो सन्देश भेजने वाला सन्देश प्राप्तकर्ता तक पहुँचाना चाहता है ।

प्रेषक : सन्देश भेजने वाला अथवा देने वाला प्रेषक कहलाता है ।

प्रेषिति : सन्देश को प्राप्त करने वाला प्रेषिति कहलाता है ।

सन्देशवाहन के माध्यम : वह मार्ग जिससे होकर सन्देशवाहन प्रसारित होता है ।

प्रतिपुष्टि : सन्देश के प्रति प्राप्तकर्ता का उत्तर या प्रतिक्रिया ।

कूटलेखन : सन्देश के अदृश्य स्वरूप का चित्रों, संकेतों, शब्दों द्वारा एक निश्चित स्वरूप प्रदान करना कूटलेखन कहलाता है ।

अधोगामी सन्देशवाहन : सन्देश का प्रवाह उचचाधिकारियों से अधीनस्थों की ओर होता है तो वह अधोगामी सन्देशवाहन कहलाता है ।

उर्ध्वगामी सन्देशवाहन : सन्देश का प्रवाह अधीनस्थ कर्मचारियों से उच्चाधिकारियों की ओर होता है तो वह उर्ध्वगामी सन्देशवाहन कहलाता है ।

8.11 स्वपरख प्रश्न

1. 'सन्देशवाहन से क्या आशय है ? एक कार्यालय संगठन में सन्देशवाहन के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
2. सन्देशवाहन प्रक्रिया में आवश्यक निहित कदमों का वर्णन कीजिए ।
3. कार्यालय संगठन में सन्देशवाहन प्रणाली को प्रभावी बनाने के लिए किन-किन गुणों की आवश्यकता होती है? स्पष्ट कीजिए।
4. आन्तरिक सन्देशवाहन के विभिन्न प्रकारों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ।
5. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   (क) अधोगामी सन्देशवाहन,
   (ख) उर्ध्वगामी सन्देशवाहन,

(ग) सन्देशवाहन एक द्विमार्गीय प्रक्रिया है,

(घ) अनौपचारिक सन्देशवाहन

8.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

पीपी. भार्गव एवं जी.एस सुधा : कार्यालय प्रबन्ध
(जयपुर : मलिक एण्ड कम्पनी (प्रकाशन), 1988)

बी.एल.पोरवाल एवं वी.बी सक्सेना : प्रबन्ध के सिद्धान्त एवं व्यवहार
(जयपुर : नेशनल पब्लिसिंग हाउस, 1997)

जे.आर कुम्भट : व्यवसाय प्रबल एवं व्यवहार (इलाहाबाद किताब महल, 1984)

एम.सी. शर्मा एवं सी.एल. चतुर्वेदी : प्रबन्ध के सिद्धान्त (दिल्ली: श्री महावीर बुक डिपो, प्रथम संस्करण)

इकाई-9 व्यावसायिक वित्त : कार्य एवं क्षेत्र (BUSINESS FINANCE : FUNCTION AND SCOPE)

इकाई की रूपरेखा

9.1 उद्देश्य
9.2 प्रस्तावना
9.3 व्यावसायिक वित्त का आशय
9.4 वित्त कार्य
9.5 वित्त कार्य संबंधी दृष्टिकोण: परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोण / विचारधारा ।
9.6 वित्त के आवर्ती, अनावर्ती तथा नैत्यक कार्य
9.7 वित्त कार्य का क्षेत्र अथवा उसकी विषय वस्तु
9.8 सारांश
9.9 शब्दावली
9.10 स्व-परख प्रश्न
9.11 उपयोगी पुस्तकें

9.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

- व्यवसाय एवं वित्त का अर्थ समझ सकें ।
- व्यावसायिक वित्त का अर्थ एवं उसके प्रकार के बारे में बता सकें ।
- वित्त कार्य एवं उससे संबंधित दृष्टिकोणों के बारे में बता सकें ।
- वित्त कार्य के उद्देश्य स्पष्ट कर सकें ।
- वित्त कार्य के क्षेत्र / विषय-वस्तु के बारे में बता सकें ।

9.2 प्रस्तावना

वित्त का आधुनिक उद्योग एवं व्यापार जगत में वही महत्त्व है जो कि मनुष्य के शरीर में रक्त की समुचित व्यवस्था के बिना किसी भी व्यावसायिक उपक्रम की सफलता संदिग्ध बनी रहती है । इस इकाई में आप व्यावसायिक वित्त के अर्थ, वित्त कार्य एवं इसके क्षेत्र / विषय-वस्तु के बारे में अध्ययन करेंगे ।

आधुनिक आर्थिक युग के वित्त व्यवस्था का मूल आधार है । कोई भी व्यवसाय वित्त के बिना न तो प्रारम्भ किया जा सकता है और न ही उसका विकास संभव है । व्यवसाय की सफलता वित्त की पर्याप्तता एवं उसके प्रभावपूर्ण प्रबन्ध पर निर्भर करती है । वित्त उद्योग एवं व्यवसाय के लिए उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण है जिस प्रकार पहियों के लिए चिकना तेल, हड्डियों के लिए मज्जा तथा नाडीतंत्र के लिय रक्त । बिना पर्याप्त वित्त के कोई भी व्यावसायिक उपक्रम अपने उद्देश्यों को पूरा नहीं कर सकता है ।

परम्परागत वित्त को निम्नांकित दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है.

(i) सार्वजनिक वित्त, तथा (ii) निजी वित्त

सार्वजनिक वित्त से आशय सरकारी वित्त से होता है । इसके अन्तर्गत केन्द्र सरकार, राज्य सरकार, स्थानीय स्व-सरकार तथा सरकारी संस्थाओं के वित्त की आवश्यकताओं, प्राप्तियों और उसके वितरण (प्रयोग) का अध्ययन किया जाता है । निजी वित्त के अन्तर्गत एवं व्यक्ति / परिवार तथा निजी क्षेत्र की लाभ कमाने वाली व्यावसायिक संस्थाएँ तथा गैर-लाभ वाले संस्थाओं की वित्त की आवश्यकताएं, प्राप्तियों और उसके प्रयोग का अध्ययन किया जाता है । इस प्रकार निजी वित्त को निम्नांकित तीन भागों में वर्गीकृत किया जाता है

(i) व्यक्तिगत वित्त, (11) व्यावसायिक वित्त (लाभ कमाने वाले संगठनों) का वित्त; तथा (iii) गैर लाभ वाले संगठनों का वित्त जैसे; शैक्षिक एवं धार्मिक संस्थाओं का वित्त ।

9.3 व्यावसायिक वित्त का आशय (Meaning of Business Finance) :

व्यावसायिक वित्त व्यवसाय (Business) तथा वित्त (Finance) दो शब्दों से मिलकर बना है । इसलिए व्यावसायिक वित्त का ठीक ढंग से अर्थ समझने के लिए इन दोनों शब्दों का भलीभाँति अर्थ जान लेना आवश्यक है । सामान्य रूप से व्यवसाय का अर्थ व्यापारिक गतिविधियों (Trading Activities) से लिया जाता है । किन्तु यह व्यवसाय का संकुचित अर्थ है । विस्तृत अर्थ में मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन, विनिमय एवं वितरण से संबंधित सभी सृजनात्मक मानवीय गतिविधियों / क्रिया-कलापों को, जो लाभ कमाने के उद्देश्य से संचालित की जाती है, व्यवसाय कहते है । उदाहरण के लिए कृषि, मछली पालन, खनन, निर्माण उद्योग, व्यापार आदि कार्य व्यवसाय के ज्वलन्त उदाहरण हैं । इसी तरह वकील, डॉक्टर, लेखापाल, अभिनेता-अभिनेत्री द्वारा प्रदान की जानेवाली सेवाएँ भी व्यावसायिक क्रियाएँ हैं । व्यवसाय के अन्तर्गत उन सभी गतिविधियों को भी सम्मिलित किया जाता है जो वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन एवं विनिमय में परोक्ष रूप से सहायक होती हैं जैसे यातायात, बीमा, बैकिंग, भण्डार गृह आदि । इस प्रकार व्यापक अर्थ में व्यवसाय के अन्तर्गत व्यापार, उद्योग एवं वाणिज्य सम्मिलित होते हैं ।

आवश्यकता पड़ने पर धन की व्यवस्था करने को वित्त कहा जाता है । वित्त का तात्पर्य किसी व्यक्ति अथवा संगठन द्वारा धन / पूँजी के प्रवाह का प्रबन्ध करना होता है । **एफ.डब्यू.पैश (F.W. Paish)** के अनुसार, "मुद्रा का उपयोग करने वाली अर्थ व्यवस्था में वित्त से आशय मुद्रा की उस समय उपलब्धि से है जब उसकी आवश्यकता हो" । **एस.सी. कुच्छल** के शब्दों में, "वित्त एक प्रक्रिया है जो संचित कोषों को उत्पादक उपयोगों में परिवर्तित करती है ।" **हावर्ड तथा उपटन** वित्त का नकद तथा साख (ऋण) की व्यवस्था से सम्बद्ध एवं प्रशासनिक क्षेत्र के रूप में देखते हैं जो संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति में आवश्यक सहयोग प्रदान कर सकें ।

व्यवसाय एवं वित्त की उपर्युक्त परिभाषाओं से यह सुस्पष्ट है कि व्यावसायिक वित्त एक ऐसी प्रक्रिया है जो किसी व्यावसायिक संस्था द्वारा कोषों की प्राप्ति, कोषों के प्रयोग तथा लाभ के वितरण से संबंधित होती है । अत: व्यावसायिक वित्त प्राय: वित्तीय नियोजन, कोषों के प्रयोग व विभाजन एवं वित्तीय नियंत्रण के व्यवहार से संबंधित है । संक्षेप में कहें तो व्यावसायिक वित्त उस

नकद अथवा ऋण राशि अथवा दोनों की व्यवस्था है जो किसी व्यावसायिक संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है । व्यावसायिक वित्त में व्यावसायिक आवश्यकताओं के लिए उचित शर्तो पर वित्त प्राप्त करना तथा व्यावसायिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रबन्ध करना सम्मिलित होता है । व्यावसायिक वित्त के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से इसकी कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषा यहाँ दी जा रही है । **व्हीलर (Wheeler)** के अनुसार व्यावसायिक वित्त ऐसी व्यावसायिक किया है जो व्यावसायिक उपक्रम की वित्तीय आवश्यकताओं और समग्र उद्देश्यों की पूर्ति हेतु पुँजी कोषों की प्राप्ति और उसके संरक्षण से संबंध रखता है । "**गुथमैन एवं डुगल्ल** (Guthmann and Dougall) के शब्दों में "व्यापक रूप से व्यवसाय में प्रयुक्त कोषों के नियोजन, सृजन, नियंत्रण एवं प्रशासन से सम्बद्ध गतिविधि को व्यावसायिक वित्त कहा जा सकता है ।"

बीयर मैन एवं स्मिथ (Bierman Smith) के शब्दों में "वित्तीय प्रबंध पूँजी के स्त्रोतों के निर्धारण तथा इनके अनुकूलतम उपयोग की विधियाँ तलाश करने की तकनीक है ।"

व्यावसायिक वित्त को भी निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है : (i) एकल स्वामिगत वित्त, (ii) साझेदारी संस्थागत वित्त तथा (iii) कम्पनी या निगम वित्त ।

वित्त के वर्गीकरण को अग्रांकित चार्ट द्वारा आसानी से समझा जा सकता है

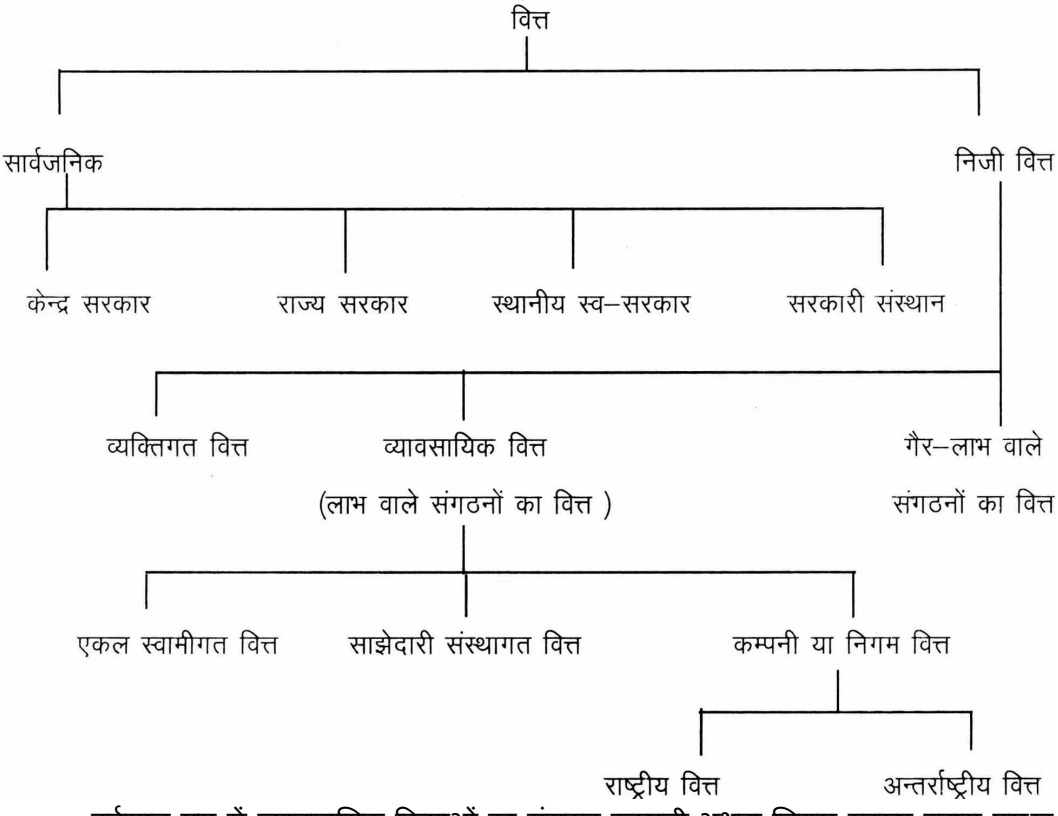

वर्तमान युग में व्यावसायिक क्रियाओं का संगठन कम्पनी अथवा निगम स्वरूप द्वारा प्रमुख रूप से किया जाने लगा है, अत: समामेलित या निगमित उपक्रमों के वित्तीय व्यवहारों व समस्याओं पर अधिक जोर दिया जाने लगा है । इसी कारण से कुछ विद्वान व्यावसायिक वित्त तथा निगम वित्त में कोई अन्तर नहीं करते है । यही नहीं, व्यवसायिक वित्त के सिद्धान्तों का छोटे तथा बड़े व्यावसायिक

उपक्रमों संस्थाओं में कमोबेश समान रूप से प्रयोग किया जा सकता है । इसलिए यही व्यावसायिक वित्त के सर्वाधिक प्रचलित अर्थ निगम वित्त का अर्थ जान लेना आवश्यक है । **इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइसांसेज** के अनुसार, "निगम वित्त निगमीय उपक्रमों की वित्तीय समस्याओं का व्यवहार करता है । इन समस्याओं में नये उपक्रमों के प्रवर्तन संबंधी वित्तीय पहलू एवं प्रारम्भिक विकास के दौर में इनका प्रशासन, पूँजी व आय के मध्य अन्तर से संबंधित लेखाकित समस्यायें, विकास एवं इनका प्रशासन, पूँजी व आय के मध्य अन्तर से संबन्धित लेखांकन समस्यायें, विकास एवं विस्तार द्वारा उत्पन्न प्रशासनिक प्रश्न और अन्त में किसी निगम को जो वित्तीय कठिनाइयों में पड़ गया हो, सहारा देने या उसके पुनर्वास के लिए अपेक्षित वित्तीय समायोजन सम्मिलित है ।"

सरल शब्दों में हम कह सकते है कि निगमीय (व्यावसायिक) संस्थाओं द्वारा व्यवहार में लाये जाने वाला वित्तीय प्रबन्ध निगम वित्त अथवा व्यावसायिक वित्त कहलाता है । निगम वित्त का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि इसमें एक व्यावसायिक उपक्रम की स्थापना से लेकर विकास व विस्तार तक और कुछ स्थितियों में इसके समापन तक की भी वित्तीय क्रियाओं व गतिविधियों का समावेश होता है । निगम वित्त में प्राय: वित्तीय नियोजक, कोषों की प्राप्ति व उनके प्रयोग तथा बँटवारा और वित्तीय नियंत्रण का व्यवहार किया जाता है । आधुनिक युग में वित्तीय कार्य इतना महत्वपूर्ण हो गया है कि इसने वित्तीय प्रबन्ध (Financial Management) को एक पृथक विषय के रूप में जन्म दे दिया है । वित्तीय प्रबन्ध का आशय प्रबन्धकीय क्रिया-कलाप के उस भाग से है जिसका संस्था के वित्तीय संसाधनों के नियोजन और नियंत्रण से संबंध होता है । इसमें संस्था के लिए कोष जुटाने के विभिन्न साधनों को पता लगाने का कार्य सम्पन्न होता है । ये साधन व्यवसाय की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त तथा मितव्ययी होने चाहिए । इन साधनों का सर्वाधिक उचित प्रयोग भी वित्तीय प्रबन्ध का अंग होता है ।

9.4 वित्त कार्य (Finance Function)

व्यवसाय के विभिन्न कार्यो में वित्त कार्य का एक महत्वपूर्ण स्थान है । यह व्यवसाय से सभी क्रिया-कलापों का मुख्य केन्द्र बिन्दु होता है । यह ऐसा कार्य है जिसे प्रतिस्थापित करना अथवा समाप्त करना संभव नहीं है क्योंकि वित्त के अभाव में व्यवसाय को बन्द करना पड़ सकता है । वित्त की आवश्यकता निरन्तर बनी रहती है । एक उपक्रम की स्थापना के विचार के साथ ही वित्त की आवश्यकता महसूस होने लगती है और व्यवसाय के सम्पूर्ण जीवन काल तक बनी रहती है । व्यवसाय के विकास तथा विस्तार के लिए अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में वित्त की आवश्यकता होती है । इन कोषों का विभिन्न स्त्रोतों से सृजन / प्रबन्ध करना पड़ता है / कोष एकत्र करने के लिए विभिन्न स्त्रोतों का चुनाव उनके गुण-दोषों को ध्यान में रख कर किया जाता है । वित्त कार्य की सफलता इसके उचित नियोजन पर निर्भर करती है । व्यवसाय में वित्त की प्राप्ति ही पर्याप्त नहीं है, वरन् उसका समुचित उपयोग भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है । यदि प्राप्त वित्त का समुचित उपयोग किया जाता है, तो उसे वापस करना आसान होगा, अन्यथा उसके पुनर्भुगतान में कठिनाईयाँ उत्पन्न होगी और पूँजी चक्र बाधित हो जाएगा । इसलिए कोषों के अन्त: प्रवाहों तथा बहिर्वाहों (Inflow and Outflow of funds) में समुचित अनुरूपता बना रहना आवश्यक है । यह तभी सम्भव है जब प्राप्त कोषों के प्रयोग की समुचित व्यवस्था

हो । इस हेतु कुशल वित्तीय प्रबन्ध होना आवश्यक है जिसमें कुशल वित्तीय प्रबन्धक का एक आधारभूत स्थान (Key Position) है ।

9.5 वित्त कार्य संबंधी दृष्टिकोण: परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोण / विचारधारा (Approaches to Finance Function)

वित्त संबंधी दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं जो निम्नांकित है :

(i) परम्परागत दृष्टिकोण; एवं (ii) आधुनिक दृष्टिकोण

(i) परम्परागत दृष्टिकोण / विचारधारा (The Traditional Approach)

वित्तीय प्रबन्ध कर परम्परागत विचारधारा का विकास बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल (1920 एवं 1930 के दशकों की अवधि) में हुआ और यह विचारधारा व 1950 तक प्रचलित रही । इस दृष्टिकोण के अनुसार वित्त कार्य के क्षेत्र का संबंध व्यवसाय के लिए आवश्यक कोषों को सर्वाधिक उपयुक्त शती पर संग्रहण (उपलब्धता) करना माना जाता था । यह दृष्टिकोण वित्त कार्य को केवल कोषों के सृजन (संग्रहण) तक ही सीमित मानता था । कोषों का उपयोग वित्त कार्य के क्षेत्र से बाहर माना जाता था । कोषों के संग्रहण का यह कार्य भी व्यवसाय के विशेष अवसरों पर ही अधिक महत्वपूर्ण था जैसे व्यवसाय के प्रवर्तन, पुर्नसंगठन अथवा विस्तार के समय, इन्हीं अवसरों पर ही पूँजी संगह के लिए वित्तीय प्रबन्धकों की सेवाऐं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती थी । व्यवसाय के दैनन्दिन कार्यो के संचालन में वित्तीय प्रबन्धक का मुख्य कार्य केवल यह सुनिश्चित करना था कि व्यवसाय के पास अपने दायित्वों के भुगतान हेतु पर्याप्त तरलता अथवा वित्त है । परम्परागत विचारधारा में व्यवसाय के लिए कोषों के संग्रहण पर ही ध्यान दिया जाता था । इस विचारधारा के अनुसार वित्तीय प्रबन्धक के पास कोषों के आवंटन तथा प्रयोग करने का अधिकार नहीं होता है । यह कार्य संगठन के किसी अन्य स्तर पर होता है । किन-किन स्त्रोतों से तथा किन-किन शर्तो पर वित्त एकत्रित किया जायें, यह देखना वित्तीय प्रबन्धक का कार्य होता है । उसे ही विभिन्न संस्थाओं से सम्पर्क कर व्यवसाय के लिए पर्याप्त कोष प्राप्त करने हेतु आवश्यक समझौते करने पड़ते हैं । कोषों के सृजन के संस्थाओं एवं विलेखों को भी वित्त का एक हिस्सा माना जाता था । इस प्रकार वित्त कार्य के क्षेत्र का विस्तार पूँजी बाजार के संस्थानों, विलेखों तथा बाह्य कोषों को जुटाने में निहित व्यवहारों के इर्द-गिर्द ही सीमित था ।

परम्परागत विचारधारा की सीमाएँ (Limitations of Traditional Approach)

वित्त कार्य की परम्परागत विचारधारा अत्यधिक संकीर्ण एवं दोषपूर्ण है । इस विचारधारा की प्रमुख सीमाएँ (कमजोरियाँ) निम्नांकित है :

1. **एक पक्षीय विचारधारा (One sided Approach) :** यह एक पक्षीय विचारधारा है जो केवल कोषों के संग्रहण एवं प्रशासन पर ध्यान देती है तथा उनके उपयोग की उपेक्षा करती है । यह कोषों के प्रयोग के निर्णयों में वित्तीय प्रबन्धक की भूमिका की भी अनदेखी करती है । इसे विनियोक्ता की दृष्टि से कोषों के विनियोजन पर विचार करने के कारण बाहरी व्यक्ति द्वारा फर्म में झाँकने की विचारधारा (बाहरी दृष्टि वाला दृष्टिकोण) कहा जाता है, क्योंकि इसमें कोषों के उपयोग के बारे में आन्तरिक निर्णयन की पूरी तरह उपेक्षा की गई है ।
2. **गैर-निगमित उपक्रमों की वित्तीय समस्याओं की उपेक्षा (Ignores the problems of non-corporate enterprises):** इस विचारधारा में केवल निगमित उपक्रमों (Corporate

enterprises) के लिए ही वित्त प्राप्ति पर अधिक ध्यान दिया गया हैं तथा गैर-निगमित उपक्रमों (एकाकी व्यवसायों तथा साझेदारी संगठनों) की वित्तीय समस्याओं की अनदेखी की गई है ।

3. **दीर्घकालीन कोषों की प्राप्ति पर अधिक ध्यान (More emphasis on collection of long -term funds):** परम्परागत विचारधारा का केन्द्र बिन्दु दीर्घकालीन कोषों की प्राप्ति था । इस कारण से व्यवसाय के लिए अल्पकालीन कोषों (कार्यशील पूँजी) के प्रबन्ध जैसे महत्वपूर्ण विषय की उपेक्षा की गई । वस्तुत: देखा जाये तो अधिकांश व्यावसायिक उपक्रम कार्यशील पूँजी की अपर्याप्तता तथा अकुशल प्रबन्ध के कारण ही रूग्ण अथवा बन्द होते है ।
4. **कोषों को आवंटन की उपेक्षा (Ignores allocation of resources):** इस विचारधारा में केवल कोषों के संग्रहण पर ही ध्यान दिया गया है । जबकि उनके प्रभावी एवं कुशल आवंटन तथा उपयोग की पूर्ण उपेक्षा की गयी है।
5. **दिन-प्रतिदिन की समस्याओं की अवेहलना (Ignores day -to-day problems):** यह विचारधारा व्यवसाय की दैनन्दिन समस्याओं पर कोई ध्यान नहीं देती है जिससे उसकी कठिनाइयाँ कुछ समय पश्चात् गम्भीर रूप धारण कर लेती हैं और व्यवसाय के अस्तित्व के लिए खतरा बन जाती हैं ।

(ii) आधुनिक दृष्टिकोण / विचारधारा (The Modern Approach)

बीसवीं शताब्दी के छठे दशक के मध्य में व्यावसायिक परिस्थितियों में हुए परिवर्तनों के कारण वित्त कार्य की परम्परागत विचारधारा बहुत ही कम उपयोगी रह गयी थी । निगमित उपक्रमों के तेजी से विकास, तकनीकी सुधार, बाजारों के विस्तार तथा बढ़ती प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप व्यावसायिक उपक्रमों के अस्तित्व के लिए कोषों के संग्रहण के साथ-साथ उनके समुचित एवं कुशल उपयोग पर ध्यान दिया जाना आवश्यक हो गया । नई विचारधारा के अनुसार वित्तीय प्रबन्धकों का दायित्व / कार्य केवल पूँजी संग्रह करना ही नहीं, वरन् उसका व्यवसाय में प्रभावपूर्ण एवं कुशल उपयोग करना भी है । आधुनिक विचारधारा विशेष घटनाओं / अवसरों पर ही वित्त कार्य पर विचार नहीं करती, बल्कि यह वित्तीय प्रबन्ध की सभी प्रकार (अल्पकालीन एवं दीर्धकालीन) की समस्याओं पर विचार करती है । इसके अनुसार वित्तीय प्रबन्ध फर्म की सभी वित्तीय समस्याओं पर विश्लेषणात्मक रूप से विचार करता है । वित्तीय प्रबन्ध का मुख्य कार्य व्यवसाय के वित्तीय साधनों को विवेकपूर्ण एवं अनुकूलतम उपयोग करना है । इसके लिए उसे कोषों के उपयोग के संभावित लाभों की उनके विभिन्न स्त्रोतों से प्राप्त कोषों की सम्भावित लागत से तुलना करनी पड़ती है और उसे ऐसे निर्णय लेने होते है जिसमें वित्तीय साधनों / कोषों की लागत की तुलना में लाभ अधिक हो तथा व्यवसाय के पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की भूमिका संभव हो सकें । इस विचारधारा के अनुसार कोषों के उपयोग में निर्णयन क्रिया का समावेश होता है इसलिए वित्त कार्य समग्र प्रबन्ध का अभिन्न अंग माना जाता है । इस दृष्टिकोण के अनुसार वित्त कार्य की परिधि (क्षेत्र) में वित्तीय नियोजन, कोषों का संग्रहण, कोषों का आवंटन एवं उपयोग / विनियोजन, वित्तीय नियंत्रण, अथवा प्रबन्ध आदि आते हैं । एक वित्तीय प्रबन्धकों व्यवसाय के प्रवर्तन, पुर्नसंगठन, संविलयन, एवं समापन के समय उत्पन्न होने वाली वित्तीय समस्याओं का विवेकपूर्ण अध्ययन-विश्लेषण कर समाधान करना पड़ता है । यह नया दृष्टिकोण व्यवसाय की वित्तीय समस्याओं को हल करने का एक विश्लेषणात्मक ढंग है । आधुनिक दृष्टिकोण निम्नांकित तीन आधारभूत निर्णयों पर विचार करता है :

(i) निवेश निर्णय (investment Decisions);

(ii) वित्त-पोषण निर्णय (Financing Decisions);

(iii) लाभांश निर्णय (Dividend Decisions);

वित्त कार्य की आधुनिक विचारधारा के अनुसार वित्त कार्य में निम्नलिखित कार्यो को सम्मिलित किया जाता है :

(i) व्यवसाय (उपक्रम) की वित्तीय आवश्यकताओं का निर्धारण करना;

(ii) व्यवसाय के लिए आवश्यक वित्त उपयुक्त साधनों / स्त्रोतों से न्यूनतम सम्भव लागत पर प्राप्त करना;

(iii) प्राप्त वित्त को विभिन्न सम्पत्तियों में आवंटित करना;

(iv) आवंटित वित्त का प्रभावी / कुशलतम उपयोग करना एवं नियंत्रण रखना;

(v) कोषों के प्रयोग के निष्पादन का मूल्यांकन करना; तथा

(vi) उच्च प्रबन्ध को समय-समय पर आवश्यक प्रतिवेदन प्रस्तुत करना ।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि आधुनिक दृष्टिकोण वित्त कार्य को व्यापक दृष्टि से देखता है । यह व्यवसाय की समस्त वित्तीय क्रियाओं को वित्त कार्य का अभिन्न अंग मानता है । इसलिए इसके अन्तर्गत वित्त नियोजन एवं नियंत्रण के सहयोग से न्यूनतम लागत पर कोषों की प्राप्ति तथा उनके कुशल एवं अनुकूलतम उपयोग के द्वारा व्यावसायिक संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति की जाती है । वर्तमान वित्त की जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिए आधुनिक वित्तीय प्रबन्धक प्रतिरूपों (Models) गणितीय, स्टीमुलेशन तथा वित्तीय इंजीनियरिंग की तकनीकों का प्रयोग करते हैं ।

वित्त कार्य के उद्देश्य (Objectives of Finance Function)

वित्त कार्य के निम्नांकित उद्देश्य होते है :

(i) व्यवसाय के लिए पर्याप्त वित्त / कोष प्राप्त करना

(ii) प्राप्त कोषों का समुचित उपयोग करना;

(iii) व्यवसाय की लाभदायकता बढ़ाना या लाभ को अधिकतम करना; तथा

(iv) प्रतिष्ठान की सम्पदा / मूल्य को अधिकतम करना;

कुछ विशेषज्ञों ने वित्त कार्यो को आवर्ती, अनावर्ती तथा नैत्यक कार्यों में विभाजित कर वर्णन किया है संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जा रहा है

9.6 आवर्ती वित्त कार्य (Recurring Finance Functions):

ये वे कार्य होते हैं जिन्हें फर्म के कुशल संचालन तथा फर्म के उद्देश्यों की भूमिका हेतु निरन्तर सम्पन्न करने पड़ते हैं । इनमें मुख्य रूप से निम्नांकित कार्य सम्मिलित होते हैं

1. **कोषों का नियोजन (Planning for funds):** कोषों के नियोजन हेतु जो नीति अपनाई जाती है, उसे वित्तीय नियोजन कहते हैं । वित्तीय नियोजन हेतु निम्न नीतियों का निर्माण किया जाता है (i) पूँजी की मात्रा तथा अवधि को निर्धारित करने वाली नीतियाँ, (ii) पूँजीकरण को निर्धारित करने वाली नीतियाँ (iii) कोष प्राप्त करने हेतु विभिन्न स्त्रोतों के चयन को निर्धारित करने वाली

नीतियाँ, (iv) स्थायी तथा चालू सम्पत्तियों के विनियोजन से संबंधित नीतियाँ, तथा (v) आय के निर्धारण तथा वितरण से संबंधित नीतियाँ ।

2. **कोषों का संग्रहण (Collection of funds):** वित्तीय प्रबन्धक विभिन्न स्रोतो रो पूँजी प्राप्त करने के वित्तीय परिणामों पर विचार करके दी हुई परिस्थितियों में श्रेष्ठ साधन का चुनाव करने का कार्य करते है ।
3. **कोषों का आवंटन (Allocation of resources) :** साधनों के आवंटन में प्रतियोगी प्रयोगों, लाभदायकता, अनिवार्यता, सम्पत्तियों के प्रबन्ध तथा फर्म के समग्र प्रबन्ध को ध्यान में रखा जाना चाहिए ।
4. **आय का आवंटन (Allocation of income) :** व्यवसाय की वार्षिक आय को विभिन्न प्रयोगों में आवंटित करने का निर्णय फर्म की वित्तीय स्थिति, वर्तमान तथा भावी नकदी आवश्यकताओं एव अंशधारियों की रूचि को ध्यान में रख कर लिये जाते हैं ।
5. **कोषों का नियंत्रण (Control of funds):** इस कार्य हेतु वित्तीय निष्पादन प्रमाप निर्धारण किये जाते हैं तथा उनके सन्दर्भ में वास्तविक निष्पादन की जाँच करके विचलन ज्ञात किये जाते हैं ।
6. **फर्म के अन्य विभागों से समन्वय (Co-ordination with other departments of firm):** वित्त कार्य व्यवसाय के प्रत्येक कार्य को प्रभावित करता है, अतः फर्म के वित्त विभाग तथा अन्य विभागों के बीच अच्छा समन्वय होना चाहिए ।

   अनावर्ती वित्त कार्य (Non recurring finance functions): ये वे कार्य होते हैं जो एक वित्तीय प्रबन्धक को यदा-कदा सम्पन्न करने पड़ते हैं । उदाहरण के लिए, कम्पनी के प्रवर्तन के समय वित्तीय योजना का निमार्ण, संविलयन के समय सम्पत्तियों का मूल्यांकन, तरलता के अभाव के समय पुनर्समायोजन का कार्य इत्यादि । अनावर्ती कार्य विशिष्ट घटनाओं के घटने के समय उत्पन्न होने वाली वित्तीय समस्याओं के लिए सम्पन्न करने पड़ते हैं ।
7. **नैत्यक वित्त कार्य (Routine finance function):** ये वे कार्य होते हैं जो दैनन्दिन प्रकृति के होते हैं और जिन्हें निम्नस्तरीय कार्मिकों (लेखाकार, रोकड़िया, लिपिक आदि) द्वारा सम्पन्न किया जाता है । इन रोजमर्रा प्रकृति के कार्यो में निम्नांकित को सम्मिलित किया जाता है : (i) रोकड़ प्राप्ति व उसके वितरण का निरीक्षण; (ii)रोकड़ शेषों को व्यवस्थित व सुरक्षित रखना; (iii) प्रत्येक व्यवहार का लेखा करके लेखों को सुरक्षित रखना; (iv) उधार के व्यवहारों का प्रबन्ध करना (v)प्रतिभूतियों व महत्त्वपूर्ण प्रलेखों की सुरक्षा करना, (vi) पेंशन व कल्याण योजनाओं का प्रशासन; (vii) शीर्ष प्रबन्धक को सूचनाएँ भेजना; तथा (viii) राजकीय नियमों का पालन करना ।

   जॉन जे. हम्पटन ने निम्नलिखित वित्त कार्य बताये है:

(i) कोषों का प्रबन्धन (Managing funds)
(ii) सम्पत्तियों का प्रबन्धन (Managing assets
(iii) तरलता कार्य (Liquidity functions); तथा
(iv) लाभदायकता कार्य (Profitability functions)

वास्तव में देखा जाये तो हम्पटन द्वारा बताये गये वित्त के इन चार कार्यो के अन्तर्गत पूर्व वर्णित समस्त वित्त कार्य सम्मिलित हैं ।

9.7 वित्त कार्य का क्षेत्र अथवा उसकी विषय वस्तु (Scope of content of Finance Function)

वित्त कार्य के क्षेत्र अथवा उसकी विषय वस्तु के अन्तर्गत निम्नांकित आते हैं

1. **वित्तीय आवश्यकताओं का पूर्वानुमान लगाना (Estimating Financial requirement) :** वित्तीय प्रबन्ध का प्रथम कार्य अपने व्यवसाय की अल्पकालीन और दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान लगाना है । इस हेतु उसे वर्तमान के साथ-साथ भविष्य के लिए भी वित्तीय योजना तैयार करनी पडती है । स्थायी सम्पत्तियों को खरीदने हेतु अपेक्षित राशि के अतिरिक्त कार्यशील पूँजी की आवश्यकता का भी निर्धारण करना पड़ता है । इन वित्तीय आवश्यकताओं के अनुमान सुदृढ वित्तीय सिद्धान्तों पर आधारित होने चाहिए जिससे कि व्यावसायिक संगठन में न तो कोष आवश्यकता से कम रहें और न ही अधिक्य की स्थिति रहे। यदि कोष आवश्यकता से कम रहते हैं, जो उससे व्यवसाय के दिन-प्रतिदिन के कार्य-कलापों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा तथा दूसरी ओर कोष अधिक्य की स्थिति में अनावश्यक खर्च करने तथा सट्टेबाजी की प्रवृत्ति को बल मिलेगा और अप्रयुक्त पूँजी पर ब्याज की हानि होगी । इसलिये वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान व्यवसाय की वास्तविक आवश्यकताओं से मेल खाना चाहिए ।
2. **पूँजी ढाँचे का निश्चयन (Deciding capital structure) :** पूँजी सृजन (संग्रहण) के लिए विभिन्न प्रतिभूतियों के प्रकार और उनके अनुपात को पूँजी संरचना (ढांचा) कहते हैं । व्यवसाय की वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान लगाने के पश्चात् यह निश्चय किया जाता है कि किन-किन प्रतिभूतियों से वित्त एकत्रित किया जाये । पूंजी संरचना के लिए प्रतिभूतियों के चयन के तथा उनके अनुपात के बारे में निर्णय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं क्योंकि ये निर्णय व्यवसाय के अल्पकालीन और दीर्घकालीन वित्तीय नियोजन को प्रभावित करते हैं । कोषों के विभिन्न स्त्रोतों के बारे में निर्णय लेते समय उनकी तुलनात्मक लागत को ध्यान में रखा जाता हैं । यदि किसी कोष स्त्रोतों की लागत बहुत अधिक है, तो हो सकता है, वह कोष स्त्रोत दीर्घकाल तक के लिए लाभप्रद न हो । स्थायी सम्पत्तियों के लिए दीर्घकालीन स्त्रोतों के वित्त-पोषण करना बुद्धिमानी माना जाता है जिसमें मुख्य रूप से दीर्घकाल ऋण तथा अंश पूंजी सर्वाधिक उपयुक्त स्त्रोत मानी जाती है । यदि व्यवसाय की उत्पादन सगर्भता अवधि (gestation period) अपेक्षताकृत अधिक हैं, तो ऋणों की अपेक्षा अंश पूंजी से कोष एकत्रित करना अधिक उचित रहता है । कार्यशील पूंजी के लिए भी आशिक रूप से दीर्घकालीन कोषों का नियोजन किया जाना चाहिए क्योंकि कार्यशील पूंजी के लिए अधिविकर्ष (Over Draft) तथा नकद साख (Cash Credit) पर पूरी तरह निर्भर रहना उपयुक्त नहीं है, यद्यपि ये दोनों स्त्रोत कार्यशील पूंजी संग्रहण के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपयुक्त पूंजी ढांचा किसी व्यवसाय की सफलता के लिए न केवल आवश्यक है, वरन् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है ।
3. **वित्त के स्त्रोत का चयन (Selecting a source of finance) :** व्यवसाय का पूंजी ढांचा निश्चित करने के पश्चात् वित्त के उपयुक्त स्त्रोत का चुनाव किया जाता है । जिन विभिन्न स्त्रोतों से वित्त प्राप्त किया जा सकता है, उनमें अंश पूंजी, ऋण-पत्र, व्यापारिक बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं से उधार की व्यवस्था, जन निक्षेप आदि सम्मिलित हैं । यदि व्यवसाय को अल्पावधि

के लिए वित्त की आवश्यकता है, तो इसके स्त्रोतो के लिए बैंक, वित्तीय संस्थाएँ एवं जननिक्षेप उपयुक्त प्रतीत होते हैं । इसके विपरीत आदि दीर्घावधि वित्त की आवश्यकता हैं, तो ऐसी स्थिति में अंश पूंजी तथा ऋण-पत्र अधिक उपयुक्त स्त्रोत माने जाते हैं । यदि व्यावसायिक प्रतिष्ठान वित्त प्राप्ति के लिए अपनी सम्पत्तियों को प्रतिभूति के रूप में रखना नहीं चाहता है, तो इसके लिए जन निक्षेप सर्वाधिक उपयुक्त स्त्रोत है । यदि व्यवसाय के नीति निर्माता वर्तमान पूंजी स्वामित्व में परिवर्तन नहीं चाहते हैं, तो अंशपूंजी के स्थान पर ऋण-पत्रों के निर्गमन को प्राथमिकता देंगे । इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि वित्त-पोषण के एक उपयुक्त स्त्रोत के चयन की क्रिया में वित्त की आवश्यकता, प्रयोजन, उद्देश्य और लागत आदि तत्त्व प्रभावकारी होते हैं।

4. **निवेश के ढांचे का चुनाव (Selecting a pattern of investment) :** कोषों की प्राप्ति की व्यवस्था हो जाने के पश्चात् उनके निवेश (प्रयोग) के ढांचे के बारे में निर्णय लेना पड़ता है । निवेश के ढाँचे के चुनाव का कोषों के प्रयोग से संबंध है । यह निर्णय करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि कोषों का प्रयोग कैसे, कब और कही किया जाये अर्थात् किन-किन सम्पत्तियों का क्रय किया जाये ? वित्तीय विश्लेषकों का यह मानना है कि उपलब्ध कोषों को सर्वप्रथम स्थाई सम्पत्तियों के क्रय पर व्यय करना चाहिए और तदुपरान्त उसका एक उचित भाग कार्यशील पूँजी के लिए रखना चाहिए । विभिन्न वर्गो की सम्पत्तियों में से भी व्यावसायिक आवश्यकता के अनुसार सम्पत्तियो का निवेश हेतु चुनाव किया जाना चाहिए । उदाहरण के लिए, संयंत्र एव मशीनरी का चयन करते समय विभिन्न वर्ग के उपलब्ध संयंत्र एव मशीनरी में से व्यवसाय विशेष की आवश्यकता के अनुरूप संयंत्र व मशीनरी क्रय करनी चाहिए । पूँजी व्ययों के बारे में निर्णय करते समय पूँजी बजटन और अवसर लागत विश्लेषण जैसी निर्णयन तकनीकों का प्रयोग करना चाहिए । विभिन्न सम्पत्तियों पर निवेश करते समय सुरक्षा, लाभप्रदता तथा तरलता के सिद्धान्तों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए । निवेश के इन सभी सिद्धान्तों के बीच भी उचित संतुलन बनाये रखने की आवश्यकता है क्योंकि ये एक दूसरे के परस्पर प्रतिस्पर्धी और पूरक दोनों हैं ।

5. **उचित रोकड़ प्रबन्ध (Proper cash management) :** रोकड़ प्रबन्ध भी वित्त कार्य का एक प्रमुख क्षेत्र है । वित्त प्रबन्ध को व्यवसाय की भिन्न-भिन्न समयों पर विभिन्न रोकड़ आवश्यकताओ का आकलन करना पड़ता है और उसके अनुरूप रोकड़ प्रबन्ध करना पड़ता है । व्यवसाय में रोकड़ की आवश्यकता निम्नांकित कार्यो के लिए होती है: (i) कच्चा माल क्रय करने हेतु (ii) लेनदारों को भुगतान करने हेतु (iii) मजदूरी बिलों का भुगतान करने हेतु तथा (iv) दिन-प्रति दिन के अन्य व्ययों की पूर्ति हेतु ।

   रोकड़ प्राप्ति के सामान्य स्त्रोते निम्नांकित हैं: (i) नकद बिक्री, (ii) ऋणों की वसूली तथा (iii) बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं के साथ अल्पकालीन व्यवस्था । रोकड़ प्रबन्ध इस प्रकार किया जाना चाहिए कि व्यावसायिक उपक्रम के पास अपने कार्य-कलापों के लिए न तो रोकड़ की कमी रहे और न ही उसके पास आवश्यकता से अधिक रोकड़ अप्रयुक्त अथवा बेकार पड़ी रहे । यदि व्यवसाय में रोकड़ की कमी रहती है, तो वह अपने दायित्त्वों का समय पर निपटान नहीं कर सकेगा जिससे व्यवसाय की साख को बट्टा लगेगा और यदि रोकड़ आवश्यकता से अधिक है, तो इसका यह आशय है कि व्यवसाय मे उसका समुचित ढ़ंग से उपयोग नहीं हो रहा है । उचित रोकड़ प्रबन्ध

के लिए 'रोकड़ प्रवाह विवरण' (Cash flow Statement) नियमित रूप से तैयार किया जाना चाहिए ताकि रोकड़ के विभिन्न स्त्रोतों एवं उपयोगों की जानकारी आसानी से प्राप्त की जा सकें रोकड़ प्राप्ति के विभिन्न स्त्रोतों के बारे में उचित जानकारी से उनके तुलनात्मक मूल्यांकन करने में मदद मिलती है । रोकड़ से विभिन्न उपयोगों की जानकारी से इस बात का पता लगाने में आसानी रहती है कि कहां रोकड़ का उपयोग ऐसे व्ययों पर तो नहीं हो रहा है जिन्हें टाला जा सकता हो अथवा उनमें कटौती की जा सकती हो । इसलिए यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि रोकड़ प्राप्ति के विभिन्न स्रोतों व उपयोगों की समुचित जानकारी से रोकड़ के कुशल प्रबन्ध में सहायता मिलती है । यहाँ यह बात ध्यान में रहे कि बिना कुशल रोकड़ प्रबन्ध के किसी भी प्रकार के व्यावसायिक उपक्रम की सफलता संदिग्ध होगी ।

6. **वित्तीय नियंत्रण का कार्यान्वयन (Implementing financial control) :** वित्तीय प्रबन्ध की एक कुशल प्रणाली में विभिन्न नियंत्रण विधियों का प्रयोग आवश्यक होता है । जिन वित्तीय नियंत्रण विधियों का सामान्यतया प्रयोग किया जाता है वे निम्नांकित है :

   (i) विनियोग पर प्रत्याय (ii) बजटरी नियंत्रण (iii) सम-विच्छेद विश्लेषण (iv) लागत नियंत्रण (v) अनुपात विश्लेषण तथा (vi) लागत एवं आन्तरिक अंकेक्षण ।

   विनियोग पर प्रत्याय विभिन्न वित्तीय नीतियों के निष्पादन का मूल्यांकन करने की सर्वोतम नियंत्रण युक्ति है । इसके अन्तर्गत किसी एक विशेष अवधि में विनियोग के संदर्भ में लाभप्रदता की अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है । व्यवसाय मे लाभप्रदता का प्रतिशत जितना अधिक होगा, उतना ही अधिक अच्छा उसका वित्तीय निष्पादन माना जायेगा । वित्तीय प्रबन्धक द्वारा विभिन्न नियंत्रण तकनीकों का प्रयोग उसे विभिन्न क्षेत्रों में निष्पादन का मूल्यांकन करने तथा आवश्यकता पड़ने पर सुधारात्मक उपाय लागू करने में सहायता प्रदान करता है ।

7. **अतिरेक का उचित प्रयोग (Proper use of surpluses) :** लाभ या अतिरेक का उपयोग भी वित्तीय प्रबन्ध की एक महत्त्वपूर्ण विषय वस्तु होती है । लाभ का न्यायोचित प्रयोग व्यवसाय के विस्तार एवं विविधीकरण तथा अंशधारियों को हितों की सुरक्षा के लिए आवश्यक है । लाभ का व्यवसाय में पुनर्निवेश करना अतिरिक्त वित्त-पोषण की एक अच्छी नीति मानी जाती है, किन्तु यह अंशधारियों के हितों की दृष्टि से अच्छी नहीं हैं क्योंकि इससे उन्हें प्रति अंश कम लाभांश प्राप्त होगा । लाभांश देने तथा व्यवसाय के विस्तार योजनाओं के वित्त-पोषण हेतु लाभों का प्रयोग करने में एक संतुलन बनाये रखने का प्रयास करना चाहिए लाभांश की घोषण तथा भावी प्रत्याशित लाभ प्राप्त अंशों के बाजार मूल्य को भी प्रभावित करते है । एक वित्तीय प्रबन्धक को व्यवसाय के अतिरेक का उचित प्रयोग करने हेतु निम्नांकित तत्वों के प्रभाव पर विचार करना चाहिए: (i) व्यवसाय की अर्जन की प्रवृत्ति (ii) भावी प्रत्याशित आय (iii) अंशों का प्रचलित बाजार मूल्य तथा (iv) व्यवसाय के विस्तार कार्यो के वित्त-पोषण हेतु कोषों की आवश्यकता । लाभ के वितरण की एक न्यायोचित नीति व्यवसाय के विकास को बनाये रखने के लिए न केवल आवश्यक है, वरन् महत्त्वपूर्ण भी है ।

9.8 सारांश

आधुनिक व्यवसाय जगत में वित्त व्यवसाय का मुख्य आधार है । किसी भी व्यवसाय की सफलता वित्त की पर्याप्तता एवं उसके प्रभावपूर्ण प्रबन्ध पर निर्भर करती है । सार्वजनिक वित्त एवं निजी वित्त परम्परागत वित्त के दो भाग है । निजी वित्त को व्यक्तिगत वित्त, लाभ कमाने वाले संगठनों का वित्त (व्यवसायिक वित्त) तथा गैर-लाभ कमाने वाले संगठनों का वित्त के रूप में वर्गीकृत किया जाता है । व्यावसायिक वित्त 'व्यवसाय' तथा 'वित्त' दो शब्दों से मिल कर बना है जिसका सामान्य आशय आवश्यकता पड़ने पर धन / पूँजी कोष की व्यवस्था करने से लगाया जाता है । वस्तुत: व्यावसायिक वित एक ऐसी प्रक्रिया है जो किसी व्यावसायिक संस्था द्वारा कोषों के प्रयोग तथा लाभ के वितरण से संबंधित है । इसलिए यह वित्तीय नियोजन, कोषों के आवंटन एवं उपयोग, वित्तीय नियंत्रण तथा लाभ के वितरण से संबंधित है ।

व्यावसायिक वित्त को भी एकल स्वामिगत वित्त, साझेदारी संस्थागत वित्त तथा कम्पनी या निगम वित के रूप में वर्गीकृत किया जाता है । वर्तमान युग में व्यावसायिक क्रियाओं का संगठन कम्पनी अथवा निगम स्वरूप अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है इसलिए कुछ विद्वान व्यावसायिक वित्त और निगम वित्त को समानार्थी मानकर चलते हैं । व्यावसायिक प्रबन्ध में वित्त कार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है । वित्त कार्य के बारे में दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं । प्रथम परम्परागत दृष्टिकोण है जो वित्त कार्य को केवल कोषों के संग्रहण (प्राप्ति) तक ही सीमित मानता है; जबकि द्वितीय आधुनिक दृष्टिकोण है जो कोषों के संग्रहण के अतिरिक्त उनके प्रभावपूर्ण एव कुशल उपयोग पर भी बल देता है । इस विचारधारा के अनुसार वित्त कार्य में व्यवसाय की वित्तीय आवश्यकताओं का निर्धारण करना, उपयुक्त स्त्रोतों से न्यूनतम सम्भव लागत पर वित्त की व्यवस्था करना, वित्त को विभिन्न प्रयोगों में आवंटित करना वित्त का प्रभावी उपयोग करना उवं उस पर नियंत्रण रखना, कोषों के प्रयोग के निष्पादन का मूल्यांकन करना तथा उच्च प्रबन्ध को समय-समय पर आवश्यक प्रतिवेदन प्रस्तुत करना सम्मिलित है । आधुनिक विचारधारा वित्त कार्य को अधिक व्यापक रूप से देखती है ।

वित्त कार्य का उद्देश्य व्यवसाय के लिए पर्याप्त वित्त प्राप्त करना, उनका समुचित उपयोग करना तथा व्यवसाय के लाभ और उनकी सम्पदा को अधिक करना है । वित्त कार्य के क्षेत्र के अन्तर्गत (i) वित्तीय आवश्यकताओं का पूर्वानुमान लगाना (ii) पूँजी ढांचे का निश्चयन (iii) वित्त के स्त्रोत का चयन (iv) निवेश के ढांचे का चुनाव (v) उचित रोकड़ प्रबन्ध (vi) वित्तीय नियंत्रण का कार्यान्वयन तथा (vii) अतिरेक / लाभ का उचित प्रयोग आता है ।

9.9 प्रमुख शब्दावली (Key Words)

1. **व्यवसाय (Business) :** व्यवसाय के अन्तर्गत उन सभी सृजनात्मक मानवीय गतिवधियों को सम्मिलित किया जाता है जो वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन, विनिमय व वितरण रवे संबंधित होती हैं और जिन्हें लाभ के उद्देश्य से सम्पन्न किया जाता है । व्यवसाय के इस व्यापक अर्थ में व्यवसाय के अन्तर्गत व्यापार, उद्योग एवं वाणिज्य सम्मिलित होता है ।
2. **वित्त (Finance):** आवश्यकता पड़ने पर धन की व्यवस्था करने को वित्त कहते हैं ।

3. **व्यावसायिक वित्त (Business Finance):** व्यावसायिक वित्त एक ऐसी प्रक्रिया है जो किसी व्यावसायिक संस्था द्वारा कोषो की प्राप्ति, कोषों के उपयोग तथा अतिरेक / लाभ के वितरण से संबंधित होती है ।
4. **कम्पनी या निगम वित्त (Company / Corporate Finance):** निगमित व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा व्यवहार में अपनाये जाने वाला वित्तीय प्रबन्ध निगम वित्त कहलाता है जिसमें कोषों की प्राप्ति व उनका प्रयोग, वित्तीय नियोजना, वित्तीय नियंत्रण एवं वित्तीय मूल्यांकन सम्मिलित है ।
5. **पूँजी ढाँचा (Capital Structure):** पूँजी एकत्रित करने के लिए विभिन्न प्रतिभूतियों के प्रकार एवं उनके अनुपात को पूँजी संरचना कहते हैं ।
6. **रोकड़ प्रवाह विवरण (Cash Flow Statement):** यह एक ऐसा विवरण है जिसके द्वारा व्यवसाय में रोकड़ के अन्तर्वाह तथा बहिर्वाह अथवा रोकड़ प्राप्ति के विभिन्न स्त्रोतों एवं उपयोगों की जानकारी दी हुई होती है ।
7. **अतिरेक (Surpluses):** व्यवसाय में उत्पन्न लाभों को अतिरेक कहते हैं ।
8. **आवर्ती वित्त कार्य (Recurring Finance Functions):** ये वे वित्त कार्य है जिन्हें एक फर्म को अनवरत रूप में करते रहना पड़ता है ।
9. **अनावर्ती वित्त कार्य (Non recurring finance functions):** ये वे वित्त कार्य है जिन्हें यदा-कदा ही व्यवसाय विशेष अवसरों पर करना पड़ता हैं ।
10. **नैत्यक वित्त कार्य (Routine finance functions):** ये नित्य प्रति सम्पन्न किये जाने वाले वित्त कार्य हैं जो निम्न स्तरीय कर्मचारियों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं ।

9.10 स्व-परख प्रश्न

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. व्यावसायिक वित्त से आप क्या समझते हैं ?
2. वित्त कार्य की परम्परागत विचारधारा क्या हैं ?
3. वित्त कार्य की परम्परागत विचारधारा के क्या दोष हैं ?
4. वित्त कार्य की आधुनिक विचारधारा स्पष्ट कीजिए ।
5. वित्त कार्य के क्या उद्देश्य है?
6. वित्त कार्य का क्षेत्र स्पष्ट कीजिये ।
7. आवर्ती वित्त कार्य बतलाइए ।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. व्यवसाय वित्त से आप क्या समझते हैं? वित्त कार्य के विभिन्न दृष्टिकोणों का विवेचन कीजिए।
2. व्यावसायिक वित्त को परिभाषित कीजिए । किसी व्यावसायिक उपक्रम में वित्त कार्य का क्या क्षेत्र होता हैं?
3. वित्त कार्य की भूमिका तथा क्षेत्र को स्पष्ट कीजिए ।

9.11 उपयोगी पुस्तकें :

1. अग्रवाल एम.डी. एवं अग्रवाल एन.पी.. वित्तीय प्रबन्ध के तत्त्व (रमेश बुक डिपो, जयपुर)
2. अग्रवाल एम.आर. : वित्तीय प्रबन्ध के तत्व (मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर)
3. टंडन, माथुर, जैन व गुप्ता: वित्तीय प्रबन्ध (शिवम बुक हाउस), जयपुर

इकाई-10 व्यावसायिक वित्त के स्रोत (Source of business Finance)

इकाई की रूपरेखा

10.1 उद्देश्य
10.2 प्रस्तावना
10.3 व्यावसायिक वित्त के अल्पकालीन स्रोत :
(अ) व्यापारिक साख
(ब) बैंक वित्त अथवा साख
(स) जन निक्षेप
(द) अन्तर- कम्पनी निक्षेप
(य) ग्राहकों से अग्रिम
(र) आन्तरिक स्रोत
(ल) कुछ नवीन साधन
10.4 व्यावसायिक वित्त के दीर्घकालीन स्रोत :
(अ) अंश पूंजी
(i) समता अंश
(ii) पूर्वाधिकारी अंश
(iii) स्थगित अंश
(ब) ऋण - पत्र
(स) सावधि ऋण
10.5 सारांश
10.6 शब्दावली
10.7 स्वपरख प्रश्न
10.8 सन्दर्भ ग्रंथ / कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप :

- व्यावसायिक वित्त के विभिन्न स्रोतों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।
- व्यावसायिक वित्त के अल्पकालीन स्रोतों के बारे में जान सकेंगे ।
- -व्यावसायिक वित्त के दीर्घकालीन स्रोतों के बारे में जान सकेंगे ।

10.2 प्रस्तावना

व्यवसायिक वित्त की सही समय पर समुचित उपलब्धि किसी भी व्यवसाय की सफलता की प्राथमिक शर्त है । व्यावसायिक वित्त की उपलब्धि अनेक अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन स्रोतों पर निर्भर करती है । इस इकाई में हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि व्यावसायिक वित्त के विभिन्न दीर्घकालीन

एवं अल्पकालीन स्रोत कौन-कौन से है ? व्यावसायिक वित्त के विभिन्न स्रोतों के अध्ययन से हमें उनके तुलनात्मक महत्व की भी जानकारी मिल सकेगी ।

एक व्यावसायिक उपक्रम को जिन वित्तीय साधनों की आवश्यकता होती है, उन्हें प्राय: निम्नलिखित दो भागों में बांटा जाता है :

(i) अल्पकालीन वित्तीय साधन अथवा स्रोत

(ii) दीर्घकालीन वित्तीय साधन अथवा स्रोत

10.3 व्यावसायिक वित्त के अल्पकालीन साधन अथवा स्रोत (Source of Short- term business Finance)

व्यवसाय की अस्थायी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति जिन स्रोतों अथवा साधनों से की जाती है, उन्हें व्यावसायिक वित्त के अल्पकालीन स्रोत कहते हैं । इन स्रोतों से प्राप्त वित्त से व्यवसाय की दैनन्दिन (रोजमर्रा) आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है । इस प्रकार के वित्त को वित्तीय प्रबंध की परिभाषा के अनुसार अल्पकाल प्राय: एक वर्ष की लेखावधि मानी जाती है । इस दृष्टि से वित्त एक वर्ष की लेखावधि में प्रयोग किया जाता है वह अल्पकालीन वित्त माना जाता है । लेकिन इसका एक अपवाद जन निक्षेप (Public Deposit) है जो एक वर्ष से लेकिन तीन वर्ष की अवधि के लिए होते हैं । जन निक्षेपों को भी अल्पकालीन वित्तीय स्रोतों की श्रेणी में रखा जाता है 1 व्यावसाय में चल सम्पत्तियों अथवा कार्यशील पूंजी की व्यवस्था निम्नलिखित अल्पकालीन वित्तीय स्रोतों से की जाती है । ये अल्पकालीन वित्तीय साधन अथवा स्रोत निम्नांकित है:

(अ) व्यापारिक साख (Trade Credit) : व्यापारिक साख को वित्त प्राप्ति का तत्कालीन साधन माना जाता है क्योंकि यह प्रचलित व्यापारिक परम्पराओं के अनुसार स्वत: ही मिल जाती है तथा इसके लिए कोई ऋण वार्ता तथा प्रतिभूति मार्जिन आदि लाग नहीं होते हैं । विभिन्न वस्तुओं अथवा कच्चे माल के विक्रेता अथवा पूर्तिकर्ता अपने ग्राहकों को व्यापारिक परम्पराओं के अनुसार स्वत: ही साख प्रदान करते हैं । अच्छी व्यापारिक संस्थाएं जो अपने भुगतानों का अच्छा रिकार्ड रखती है, व्यापारिक साख सरलतापूर्वक निरन्तर रूप से प्राप्त करती रहती है । पूर्व निर्धारित अवधि के लिए (यथा 15 या 30 दिन) व्यापारिक साख की कोई लागत भी नहीं होती है । किन्तु यदि शीघ्र ही भुगतान हेतु प्रोत्साहित करने के लिए बट्टे (discount) की सुविधा दी जाती है, तो बट्टे की अवधि समाप्त होने पर विलम्ब से भुगतान करने पर बट्टा या छूट प्राप्त नहीं होती है । उदाहरण के लिए कोई माल का पूर्तिकर्ता (विक्रता) अपने ग्राहकों को 2/10 निवल 30 शर्तो पर माल उधार देता है, तो इसका यह अर्थ है कि यदि ग्राहक 10 दिन के भीतर भुगतान करता है, तो उसे निर्धारित बट्टा अथवा छूट प्राप्त होगी । किन्तु यदि ग्राहक 10 दिन के पश्चात् भुगतान करता है तो उसे कोई बट्टा प्राप्त नहीं होगा और उसे हर हालत में 30 दिन के भीतर भुगतान करना होगा । यदि ग्राहक 30 दिन के पश्चात् भुगतान करता है, तो फिर उसे विलम्ब अवधि का एक निश्चित दर से ब्याज देना होगा ।

व्यापारिक साख के प्रकार (Types of Trade Credit) : व्यापारिक साख के प्रचलित प्रकार निम्नांकित :

(i) **खुला खाता** (Open Account): प्रत्येक व्यावसायिक संस्था के अनेक स्थायी ग्राहक होते हैं जिनका निरन्तर लेन देन चलता रहता है । ऐसे स्थायी ग्राहकों को व्यावसायिक संस्थाएं बाजार में प्रचलित उधार की शर्तो पर माल बेचती है । इसके अन्तर्गत बिना किसी औपचारिक समझौते के ग्राहकों को एक निश्चित राशि का माल एक निश्चित अवधि में भुगतान करने की शर्त पर उधार दिया जाता है । उधार की राशि का निर्धारण ग्राहक की आर्थिक स्थिति तथा उसके पिछले भुगतान-व्यवहार को ध्यान में रखकर किया जाता है । इस खाते पर ग्राहक से सामान्यतया कोई ब्याज नहीं लिया जाता है ।

(ii) **विनिमय विपत्र** (Bills of Exchange): खुले खाते की सुविधा के अभाव में अथवा नकद भुगतान न कर सकने की स्थिति में इस विधि / स्रोत का प्रयोग किया जाता है । इसके अन्तर्गत विक्रेता माल की राशि का बिल क्रेता पर लिख कर उसकी स्वीकृति प्राप्त कर लेता है । इस विपत्र को विक्रेता देय तिथि पर क्रेता को प्रस्तुत कर भुगतान प्राप्त कर लेता है । आजकल विनिमय विपत्रों के आधार पर माल के विक्रय का कार्य अत्यधिक प्रचलन में है । इस विधि का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यदि विक्रेता को बिल की देय तिथि से पूर्व धन की आवश्यकता है, तो उसे बैंक से कटौती (Discount) करवा कर नकद राशि प्राप्त कर सकता है ।

(iii) **प्रतिज्ञा-पत्र** (Promissory Notes): इसके अन्तर्गत क्रेता द्वारा उधार माल खरीदे जाने पर वह विक्रेता के नाम माल की राशि का एक लिखित प्रतिज्ञा पत्र विक्रेता के नाम लिख देता है जिसमें क्रेता द्वारा एक निश्चित तिथि पर भुगतान का वचन दिया जाता है । प्रतिज्ञा-पत्र में वर्णित तिथि पर विक्रेता क्रेता से भुगतान प्राप्त कर लेता है । आजकल प्रतिज्ञा-पत्रों का भी चलन धीरे-धीरे बढ़ रहा है ।

व्यापारिक साख के गुण-दोष (Merits and Demerits of Trade Credit)

गुण: व्यापारिक साख के निम्न लिखित गुण हैं :

(i) सरलतापूर्वक उपलब्ध हो जाना ।

(ii) किसी प्रार की औपचारिकता की आवश्यकता नहीं ।

(iii) उधार की शर्तों में आसानी से परिवर्तन करना संभव ।

(iv) माल या सम्पत्ति पर प्रभार (Charge) उत्पन्न नहीं होना ।

(v) लोचदार व्यवस्था-क्योंकि इसमें व्यापारिक परिस्थितियों के अनुसार आसानी से परिवर्तन किया जा सकता है ।

दोष : व्यापारिक साख में निम्नांकित अवगुण भी पायें जाते हैं :

(i) माल का महंगा मिलना ।

(ii) घटिया माल को भी लेने की बाध्यता ।

(iii) नये ग्राहकों अथवा संस्थाओं को इस सुविधा का न मिलना ।

(iv) समय पर भुगतान न करने पर ग्राहक की प्रतिष्ठा (साख) को धक्का लगना ।

(v) विक्रेता को अधिक कार्यशील पूंजी की व्यवस्था करने की आवश्यकता ।

(ब) बैंक वित्त अथवा साख (Bank Finance or Credit)

अल्पकालीन व्यावसायिक वित्त का एक प्रमुख स्रोत बैंक साख है । आधुनिक युग में इसका अत्यधिक महत्व है । बैंकों द्वारा अल्पकालीन वित्त निम्नांकित रूपों में प्रदान किया जाता है

(i) **अधिविकर्ष** (Overdraft): यह सुविधा केवल उन्हीं व्यक्तियों अथवा संस्थाओं को प्राप्त होती है जिनका बैंक में चालू खाता होता है । अधिविकर्ष की सुविधा के अन्तर्गत बैंक ग्राहक द्वारा अपने खाते में से जमा राशि से अधिक राशि निकाली जा सकती है । व्याज केवल उसी राशि पर लगता है जो खाते में से जमा राशि से अधिक निकाली गयी है । अधिविकर्ष की सुविधा का लाभ प्राय: सभी व्यापारी उठाते हैं ।

(ii) **नकद साख** (Cash Credit): इसे रोकड़ साख भी कहते हैं । यह अल्पकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत बैंक एक पूर्व निर्धारित सीमा के भीतर ग्राहक को अग्रिम नकद राशि निकालने की सुविधा प्रदान करता है । यह सुविधा वस्तुओं के स्कन्ध (Stock) की जमानत अथवा प्रतिज्ञा-पत्रों जिन पर दूसरे व्यक्ति के हस्ताक्षर भी होते हैं, की जमानत पर दी जाती है । इसमें ब्याज उसी राशि पर लगता है जो वास्तव में ग्राहक द्वारा अग्रिम बतौर निकाली है ।

(iii) **व्यापारिक बिलों की कटौती अथवा क्रय** (Discounting or Purchase of trade bills): विक्रेता व्यापारी द्वारा अपने ग्राहकों पर लिखे बिलों का उनकी देय तिथि से पूर्व वित्त की आवश्यकता होने पर या तो उनको बैंक से बट्टे पर भुनवा लिया जाता है अथवा उनका क्रय कर लिया जाता है ।

(iv) **साख-पत्रों का खोलना** (Opening of Letters of Credit): माल के आपूतिकर्ताओं की जोखिम के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से बैंक अपने ग्राहकों के पक्ष में साख-पत्र खोलते हैं । इस वित व्यवस्था के अन्तर्गत बैंक प्रत्यक्ष सहायता प्रदान करने के स्थान पर ग्राहकों की देनदारी का समादरण करने (चुकाने का) का उत्तरदायित्व अपने उपर लेता है ।

(v) **ऋण एवं अग्रिम** (Loans and Advances) : व्यापारिक बैंक अपने कोषों का एक भाग व्यावसायिक संस्थाओं को अल्पकालीन ऋण एवं अग्रिम के रूप में प्रदान करते हैं । इस वित्त व्यवस्था के अन्तर्गत ऋण की राशि व अवधि निश्चित होती है तथा यह पर्याप्त जमानत के आधार पर प्रदान की जाती है । बैंक द्वारा स्वीकृत ऋण की सम्पूर्ण राशि पर बैंक द्वारा ब्याज लिया जाता है । ब्याज दर ऋण के उद्देश्य, अवधि, राशि, ग्राहक की साख, व्यवसाय की प्रकृति तथा मूल उधार दर (PLR) पर निर्भर करती है ।

(vi) **गारण्टी सुविधा** (Guarantee Facility) : जब व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा अन्य स्रोतों से ऋण लिए जाते हैं अथवा कोई स्थायी सम्पत्ति उधार क्रय की जाती है, तो बैंक ऐसे ऋण अथवा सम्पत्ति की राशि के भुगतान की गारण्टी तृतीय पक्ष (जिसमें ऋण अथवा सम्पत्ति ली गयी हो) को दे देते हैं । बैंक गारण्टी प्रदान करने के बदले कुछ कमीशन लेते हैं । बैंक द्वारा प्रदान की जाने वाली गारण्टी अल्पकालीन वित्त का एक अप्रत्यक्ष तरीका है ।

(स) जन निक्षेप (public Deposits):

गैर-बैंकिंग तथा गैर-वित्तीय कम्पनियों, द्वारा जनता से सीधी राशि प्राप्त की जाती है । सर्वप्रथम भारत में अहमदाबाद, सूरत तथा मुम्बई की कपड़ा मिलों ने जन निक्षेप लेना प्रारम्भ किया, जो आगे चलकर बहुत अधिक लोकप्रिय हो गया । इस व्यवस्था के अनेक लाभ है, जो इस प्रकार हैं:

(i) यह एक सरल विधि है- विशेष औपचारिकताएं पूरी करने की आवश्यकता नहीं है ।

(ii) यह एक लोचपूर्ण व्यवस्था है ।

(iii) वित्त प्राप्ति के अन्य स्रोतों से कम खर्चीली है ।

(iv) इसमें जनता की अभिरूचि ब्याज दर अधिक मिलने के कारण अधिक रहती है ।

(v) जन निक्षेपों के नियमन के लिए केन्द्र सरकार से नियम बना रखे हैं जिनसे जमाकर्ताओं का धन सुरक्षित रहता है ।

जन निक्षेपों के लाभ के साथ-साथ कुछ दोष भी है, जो अग्रांकित हैं :

(i) जन निक्षेप केवल अच्छे समय के साथी (Fair weather friend) है । बुरे दिनों में इनका मिलना कठिन होता है ।

(ii) आवश्यकता से अधिक जन निक्षेप प्राप्त होने पर इनका उपयोग सट्टे के लिए किये जाने लगता है जिसमें सट्टे की गतिविधियों को प्रोत्साहन मिलता है ।

(iii) जन निक्षेप नई कम्पनियों को आसानी से नहीं मिलते, इस कारण से उनके लिए अनुपयुक्त है ।

(iv) जन निक्षेप पूंजी बाजार के स्वास्थ्य और विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं ।

(द) अन्तर-कम्पनी निक्षेप (Inter -Company Deposits):

एक कम्पनी द्वारा दूसरी कम्पनी अथवा कम्पनियों में जमा करायी गयी राशि (निक्षेप) अन्तर-कम्पनी निक्षेप कहलाते हैं । ये अल्पकालीन व सावधि दोनों प्रकार के हो सकते हैं । अल्पकालीन अन्तर-कम्पनी निक्षेप निम्नांकित प्रकार के हो सकते हैं

(i) याचना (आहवान) निक्षेप (Call Deposits): ये एक दिन की सूचना पर प्राप्त किये जा सकते हैं ।

(ii) **त्रैमासिक निक्षेप, तथा** (iii) **अर्धवार्षिक निक्षेप ।**

अन्तर-कम्पनी निक्षेप बाजार के सरकारी नियत्रंणों से पूर्णतया मुक्त है, इसलिए कम्पनियों के मध्य स्वतंत्रतापूर्वक लिए व दिए जा सकते हैं ।

(य) ग्राहकों से अग्रिम (Advances from Customers)

अनेक बार कुछ उत्पादक / विक्रेता व्यवसायी माल की सम्पूर्ण राशि अथवा उसका एक भाग अपने ग्राहकों से अग्रिम के बतौर ले लेते हैं, जो उनके पास माल की आपूर्ति करने तक रहती है । प्राय: इस अग्रिम राशि पर कोई ब्याज नहीं दिया जाता है । यह अल्पकालीन वित्त प्राप्ति का सबसे सस्ता और अच्छा स्रोत है, किन्तु इसका उपयोग केवल प्रतिष्ठित व्यावसायिक संस्थान ही कर सकते हैं । जिन उद्योगों में एकाधिकारात्मक स्थिति होती है, वहीं इस विधि का उपयोग संभव है ।

(र) आन्तरिक स्रोत (Internal Sources)

अभी तक उपर्युक्त वर्णित सभी स्रोत अल्पकालीन ब्राह्य स्रोत (External sources) थे । व्यावसायिक संस्थानों के पास अपनी अल्पकालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वयं के अपने साधन

भी होते हैं, जिन्हें उनके आन्तरिक स्रोत कहा जाता है । उदाहरण के लिए एक व्यावसायिक संस्थान के हास कोष, लाभों का पुनर्विनियोजन आदि-आदि । एक व्यावसायिक संगठन द्वारा अनेक बार हास कोष का प्रयोग कार्यशील पूंजी के रूप में तब तक किया जाता है जब तक कि इनका उपयोग सम्पत्तियों के प्रतिस्थापन के लिए नहीं किया जाता । व्यवसाय के लाभों के एक भाग का पुनर्विनियोजन भी बहुधा अल्पकालिक वित्त व्यवस्था के लिए किया जाता है ।

(ल) कुछ नवीन साधन (Some New Sources)

विगत कुछ वर्षो में अल्पकालीन वित्त के क्षेत्र (मुद्रा बाजार) में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं जिनके कारण कुछ नवीन अल्पकालिक वित्त के स्रोत उभर कर सामने आयें है । इनका संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार हैं

(i) व्यापारिक विनिमय-पत्रों की सरल एवं कम दर पर कटौती एवं पुनर्बट्टाकरण को सरल बनाने के लिए 'एवजी मुद्दती रूक्का' (Usance Promissory Note]) प्रारम्भ किया गया है ।

(ii) अप्रेल, 1989 से बड़ी कम्पनियों को मुद्रा बाजार से सीधे धन एकत्रित करने के लिए 'व्यापारिक पत्र' (Commercial paper) निर्गमित करने की अनुमति प्रदान की गयी है । ये व्यापारिक पत्र न्यूनतम 15 दिन अथवा अधिकतम 1 वर्ष के लिए जारी किये जा सकते है और इनकी न्यूनतम राशि 25 लाख रू. है ।

(iii) बैंक व वित्तीय संस्थाओं द्वारा न्यूनतम 15 दिन एवं अधिकतम 1 वर्ष के लिए एक वाहक कटौती उपकरण निर्गमित किया जा सकता है, जिसे 'जमा प्रमाण-पत्र' (Certificate of Deposite) कहा जाता है । इसकी न्यूनतम राशि 5 लाख रू. है ।

(iv) अनेक बैंक एवं वित्तीय संस्थाओं ने मुद्रा बाजार में 'परस्पर निधि' (Mutual Funds) प्रारम्भ कर रखे हैं, जिनकी न्यूनतम अवधि 15 दिन है । निधि धारकों को चैक बुक की सुविधा भी प्रदान की जाती है ।

10.4 व्यवसाय वित्त के दीर्घकालीन स्रोत (Long - term Source of Business Finace)

एक व्यावसायिक संस्थान को अल्पकालिक वित्त के साथ-साथ दीर्घकालिक वित की भी आवश्यकता होती है, इसलिए उसे व्यवसाय वित्त के दीर्घकालीन स्रोतों का भी पता होना चाहिए । दीर्घकालीन वित्त की आवश्यकता स्थायी सम्पत्तियों में पूंजी विनियोजन के लिए होती है जिसे अंश पूंजी अथवा ऋण पूंजी दोनो के एक निश्चित अनुपात के द्वारा पूरा किया जा सकता है ।एक कम्पनी दीर्घकालीन वित्त अंश पूंजी, दीर्घकालीन ऋण पूजी तथा प्रतिधारित लाभों से प्राप्त करती है । नयी स्थापित कम्पनी के पास प्रतिधारित लाभ नहीं होते हैं । इसलिए उसे प्रथम दो विकल्पों (अंश पूंजी तथा ऋण पूंजी) से ही दीर्घकालीन वित्त जुटाना पड़ता है । दीर्घकालीन वित्त के इन विभिन्न साधनों अथवा स्रोतों का अध्ययन हम अब यहां करने जा रहे हैं ।

(अ) अंश पूंजी (Share Capital)

संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों की स्वामित्व पूंजी अंशों में विभक्त होती है । कम्पनी अपनी स्वामित्व पूंजी सममूल्य के अंशों के निर्गमन द्वारा प्राप्त करती है । पूंजी का वह आनुपातिक भाग

जिसका प्रत्येक सदस्य अधिक होता है, उसका अंश कहलाता है । विभिन्न पूर्णदत्त अंशों की इकट्ठी रकम को स्कन्ध की संज्ञा दी जाती हे । इस प्रकार अंश स्वामित्व की एक इकाई है, जिसका धारक कम्पनी का आशिक स्वामी होता है । स्वामित्व का प्रतिनिधित्व अंश प्रमाण-पत्र होता है । अंश प्रमाण-पत्र में अंशधारी द्वारा धारित अंशों की संख्या, उनके क्रमांक तथा उनका अंकित मूल्य लिखा होता है ।

अंश पूंजी की विशेषताएं (Characteristics of Share Capital) :

अंश पूंजी की प्रमुख विशेषताएं अग्रांकित है :

1. अंशों के निर्गमन से कम्पनी को स्थायी पूंजी प्राप्त होती है जिसे लौटाने की चिन्ता नहीं होती है ।
2. अंश पूंजी पर प्रति वर्ष ऋण पूंजी की तरह एक निश्चित दर से ब्याज चुकाने की आवश्यकता नहीं है । कम्पनी को अपने लाभ को अंशधारियों में वितरित करना आवश्यक नहीं है ।
3. अंश पूंजी प्राप्त करने के लिए कम्पनी को अपनी सम्पत्ति पर प्रभार अथवा बन्धक रखने की आवश्यकता नहीं है ।
4. अंश पूंजी से प्राप्त राशि को कम्पनी के समापन की स्थिति में तब लौटाया जाता है जब कम्पनी की समस्त देनदारियों के पश्चात् भी धन शेष बचा रह गया हो ।
5. कम्पनी के अंशधारियों को अपनी इच्छानुसार अपने अंशों को बेचने का अधिकार होता है ।
6. कम्पनी के अंशधारी उसके स्वामी होते हैं इसलिए वे कम्पनी के प्रबन्ध में अपने प्रतिनिधि के रूप में संचालक नियुक्त करने का अधिकार रखते हैं ।
7. प्रत्येक अंशधारी का दायित्व उसके द्वारा क्रय किये गये अंशों के अंकित मूल्य (Face value) तक सीमित रहता है । इस कारण अंशधारी असीमित उत्तरदायित्व से उत्पन्न जोखिम से मुक्त रहते हैं ।

अंशों के प्रकार (Types of Share) :

एक कम्पनी के अंश निम्नांकित प्रकार के हो सकते हैं:

(1) समता अंश, (2) पूर्वाधिकारी अंश, तथा (3) स्थगित अंश । भारतीय कम्पनी अधिनियम, 1956 के अनुसार कम्पनियों द्वारा केवल समता अंश तथा पूर्वाधिकारी अंशों का ही निर्गमन किया जा सकता है । इस अधिनियम के लागू होने रवे पूर्व तक कम्पनियां स्थगित अंशों का भी निर्गमन कर सकती थी ।

(i) समता अंश (Equity Share)

कम्पनी के वित्तीय ढांचे में समता (सामान्य) अंश पूंजी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान होता है । समता अंशों से प्राप्त पूंजी ही व्यापार की आधारशिला है । भारतीय कम्पनी अधिनियम, 1956 के अनुसार सामान्य अंश वे हैं जो पूर्वाधिकारी अंश नहीं है । सामान्य अंशधारी अन्तिम जोखिम धारक तथा अवशिष्ट आय व सम्पत्ति को बांटने वाले होते हैं । समता अंशों की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं :

1. समता अंशधारी कम्पनी के समापन के पश्चात् ही अपनी अंशपूंजी को वापस प्राप्त कर सकते हैं । यह कम्पनी की स्थायी पूंजी होती है जो कभी भी देय नहीं होती है ।

2. समता अंशधारी कम्पनी की अवशिष्ट आय के स्वामी होते हैं, इसलिए इनका आय पर अधिकारी कम्पनी की समस्त देनदारियों के चुकाने के पश्चात् ही होता है ।
3. कम्पनी को सम्पत्तियों पर अन्तिम अधिकार समता अंशधारियों का होता है । कम्पनी समापन की स्थिति में समस्त देनदारियों का भुगतान करने के पश्चात् शेष सम्पत्तियों पर समता अंशधारियों का अधिकार होता है ।
4. कम्पनी के व्यवसाय के नियंत्रण एवं प्रबंध का अधिकार समता अंशधारियों के हाथ में ही होता है । यह अधिकार उन्हें मताधिकार के द्वारा संचालकों की नियुक्ति तथा नीतिगत निर्णयों के अनुमोदन हेतु प्राप्त होता है ।
5. समता अंशधारियों को कम्पनी द्वारा निर्गमित पूंजी में से अंश निर्गमित करने की स्थिति में अंशों के क्रय का पूर्वाधिकार प्राप्त होता है जिसे 'अंशों का पूर्वाधिकार' (Right of Pre-emition) कहते हैं ।

समता अंशों के कम्पनी को लाभ (Advangages of Equity Shares to the Company):

समता अंशों से कम्पनी को निम्नांकित लाभ प्राप्त होते हैं:

1. कम्पनी को स्थायी पूंजी प्राप्त हो जाती है जिसे उसे अपने जीवनकाल में लौटाने की आवश्यकता नहीं होती है ।
2. समता अंशों से कम्पनी पर लाभांश का स्थायी भार नहीं पड़ता है क्योंकि कम्पनी इन अंशों पर लाभ वितरित करने के लिए बाध्य नहीं है ।
3. समता अंशों से कम्पनी की ऋण लेने की क्षमता में वृद्धि होती है क्योंकि इनसे कम्पनी की सम्पत्तियों पर किसी भी प्रकार का प्रभार उत्पन्न नहीं होता है ।
4. समता अंशधारी कम्पनी के लिए संकट के समय सुरक्षा दीवार का काम करते हैं, क्योंकि ये व्यवसाय की जोखिम उठाते हैं । इसलिए समता अंशपूंजी को व्यवसाय की जोखिम पूंजी कहा जाता है ।
5. समता अंश कम्पनी के लिए धन जुटाने के लिए सरल एवं सस्ता साधन है ।

समता अंशों के कम्पनी की दृष्टि से दोष (Disadvantes of Equity Shares to the Company):

कम्पनी की दृष्टि से समता अंशपूंजी के निम्नांकित अवगुण है :

1. कुछ सम्पन्न और चालाक व्यक्ति समता अंशों का अधिक क्रय कर कम्पनी का प्रबन्ध एवं नियंत्रण अपने हाथ में ले लेते हैं । जिससे कम्पनी का प्रबन्ध एवं नियंत्रण कुछ ही हाथों में केन्द्रित हो जाता है ।
2. अति पूंजीकरण (Over Capitalisation) की स्थिति के उपचार के लिए लगता अंशों के मूल्य तथा उनकी संख्या में कमी करना अत्यन्त कठिन होता है ।
3. समता अंशों में अत्यधिक सट्टा होने के कारण इनके मूल्यों में अनावश्यक रूप रवे भारी उतार-चढ़ाव होता रहता है ।
4. यदि एक कम्पनी अपनी अधिकांश पूंजी समता अंशों से एकत्रित करती है, तो अंशधारियों को समता पर व्यापार का लाभ नहीं मिल पाता है ।

5. समता अंशों का आसानी से क्रय-विक्रय किया जा सकता है, जिसके फलस्वरूप कम्पनी के अंशधारी (स्वामी) बदलते रहते हैं । अंशधारियों के बदलने से अनेक बार कम्पनी का प्रबन्ध भी बदल सकता है जिससे कम्पनी की नीतियों में परिवर्तन हो सकता है । इस परिवर्तन से अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती है ।

(ii) पूर्वाधिकारी अंश (Preference Shares)

पूर्वाधिकारी अंश जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है कि ये वे अंश होते हैं जिनके धारकों को कुछ पूर्वाधिकार प्राप्त होते हैं । ये वे अंश होते हैं जिनके स्वामियों को लाभांश प्राप्त करने तथा कम्पनी के समापन के समय सम्पत्तियों के वितरण में समता अंशधारियों की अपेक्षा पूर्वाधिकार प्राप्त होता है । पूर्वाधिकारी अंशों में अग्रलिखित विशेषताएं होती है:

1. समता अंशों की भांति पूर्वाधिकारी अंशों रो प्राप्त पूंजी को लौटाने के लिए कम्पनी बाध्य नहीं होती है । यदि ये अंश 'शोध्य पूर्वाधिकारी अंश' है, तो इनकी राशि को कम्पनी द्वारा स्वेच्छा से अथवा स्वत: एक नियत तिथि पर अथवा कम्पनी द्वारा किसी सूचना के बाद लौटाना संभव होता है । शोध्य पूर्वाधिकारी अंशों के निर्गमन के समय ही कम्पनी द्वारा उनके शोधन (भुगतान) का प्रावधान कर दिया जाता है ।
   कुछ कम्पनियां कभी-कभी पूर्वाधिकारी अंशों के स्वामियों को यह अधिकार दे देती है कि वे अपनी इच्छानुसार कुछ समय पश्चात् पूर्वाधिकारी अंशों को समता अंशों में बदल सकते हैं । जब पूर्वाधिकारी अंशों को समता अंशों में परिवर्तन की छूट होती है, तो ऐसे अंशों को 'परिवर्तनशील पूर्वाधिकारी अंशों' कहते हैं ।
2. कम्पनी के समस्त खर्चो का भुगतान करने के पश्चात् जो आय शेष बचती है, उस पर सर्वप्रथम पूर्वाधिकारी अंशधारियों का अधिकार होता है अर्थात् पूर्वाधिकारी अंशों पर लाभांश दिये बिना कम्पनी द्वारा समता अंशों पर लाभांश नहीं बांटा जा सकता है ।
3. पूर्वाधिकारी अंशधारियों को कम्पनी की सम्पत्तियों के वितरण में भी लाभांश की भांति पूर्वाधिकार प्राप्त होता है । कम्पनी के समापन की दशा में समस्त देनदारियों को भुगतान करने के पश्चात् यदि सम्पत्तियां शेष रहती है तो उन्हें सबसे पहले पूर्वाधिकारी अंशधारियों में वितरित किया जाता है ।
4. सामान्यतया पूर्वाधिकारी को समता अंशधारियों की तरह कम्पनी के प्रबन्ध एवं नियंत्रण का अधिक नहीं होता है । इन्हें कम्पनी के संचालक चुनने तथा अन्य नीतिगत मामलों में मत देने का अधिकार प्राप्त होता है । हां इन्हें ऐसे मामलों में मत देने का अधिकार अवश्य होता है जो उनके पूर्वाधिकार को प्रभावित करते हों ।

पूर्वाधिकारी अंशों के प्रकार (Types of Preference Share)

ये प्राप्त पूर्वाधिकारों के आधार पर निम्नांकित प्रकार के हो सकते हैं :

(1) असंचयी एवं संचयी पूर्वाधिकारी अंश (Non - cumulative and Cumulative Preference Shares): असंचयी पूर्वाधिकारी अंश वे अंश होते हैं जिन पर घोषित व वितरित लाभांश कम्पनी के वार्षिक लाभों की पर्याप्तता पर निर्भर करता है । इन अंशों पर कम्पनी द्वारा लाभ न होने अथवा अपर्याप्त लाभ होने की स्थिति में लाभांश घोषित नहीं किया जाता है।

संचयी पूर्वाधिकारी अंश वे अंश होते हैं जिन पर किसी वर्ष विशेष में कम्पनी को लाभ न होने अथवा अपर्याप्त लाभ होने पर लाभांश प्राप्त करने का अधिकार समाप्त नहीं होता । ऐसे अंशधारियों को भविष्य में पर्याप्त लाभ होने पर उनको पिछला 'अदत्त लाभांश' (Unpaid dividend) भी प्राप्त करने का अधिकार रहता है । जब तक पूर्वाधिकारी अंशों पर कुछ नहीं लिखा जाता, तब तक उन्हें संचयी पूर्वाधिकारी अंश ही माना जाता है ।

(2) शोध्य एवं अशोध्य पूर्वाधिकारी अंश (Redeemable and Irredeemable Preference Shares): जब पूर्वाधिकारी अंशों को कम्पनी के जीवन काल में शोधन नहीं किया जा सकता (भुगतान प्राप्त नहीं किया जा सकता) तो उन्हें अशोध्य पूर्वाधिकारी अंश कहते हैं । सामान्यतया पूर्वाधिकारी अंश भी समता अंशों की तरह अशोध्य होते हैं । कम्पनी अपने जीवन काल में अशोध्य पूर्वाधिकारी अंशों की राशि लौटाने के लिए बाध्य नहीं होती है ।

परन्तु कभी-कभी कम्पनी स्वयं पूर्वाधिकारी अंशों के निर्गमन के समय ही इनके शोधन की शर्त जोड़ देती है, तो ऐसे अंश शोध्य पूर्वाधिकारी अंश कहलाते हैं । ऐसे पूर्वाधिकारी अंशों की राशि कम्पनी स्वेच्छा से अथवा एक नियत तिथि पर इनके स्वामियों को लौटा सकती है ।

(3) भागयुक्त एवं अभागयुक्त पूर्वाधिकारी अंश (Participating and Non - Participating Preference Shares): जब कभी पूर्वाधिकारी अंशधारियों को कम्पनी के लाभ में अपने निर्धारित लाभांश के अतिरिक्त शेष बचे लाभ में से साधारण अंशधारियों के साथ पूर्ण अथवा प्रतिबंधित रूप से भाग लेने पर अधिकार होता है, तो ऐसे अंशों का **'भागयुक्त पूर्वाधिकारी अंश** कहा जाता है । जब कभी पूर्वाधिकारी अंशों को कम्पनी के लाभों में केवल पूर्व निर्धारित दर से ही लाभांश प्राप्त करने का अधिकार होता है तथा अतिरिक्त लाभों में भाग लेने पर अधिकार नहीं होता है, तो ऐसे अंशों को 'अभागयुक्त पूर्वाधिकारी अंश' कहते हैं ।

(4) परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील पूर्वाधिकारी अंश (Convertible and Non - Convertible Preference Shares): ऐसे पूर्वाधिकारी अंश जिनके धारकों को कम्पनी द्वारा एक निर्धारित तिथि के पश्चात् एक निर्धारित अवधि में समता अंशों में बदलवाने का अधिकार प्रदान किया जाता है, उन्हें 'परिवर्तनशील पूर्वाधिकारी अंश' कहते हैं ।

ऐसे पूर्वाधिकारी अंश समता अंशों में परिवर्तित नहीं करवाया जा सकता है, उन्हें 'अपरिवर्तनशील पूर्वाधिकारी अंश' कहते हैं ।

(5) प्रत्याभूतित एवं अप्रत्याभूतित पूर्वाधिकारी अंश (Guaranteed and -Guaranteed Preference Shares): ऐसे पूर्वाधिकारी अंश जिनके संबंध में निर्धारित लाभांश की गारण्टी दी जाती है, 'प्रत्याभूतित पूर्वाधिकारी अंश' कहते हैं ।

ऐसे पूर्वाधिकारी अंश जिनको लाभांश देन की गारण्टी नहीं दी जाती है, 'अप्रत्याभूतित पूर्वाधिकारी अंश' कहते हैं ।

पूर्वाधिकारी अंशों के लाभ (Advantages of Preference Shares) : कम्पनी को पूर्वाधिकारी अंशों में निम्नांकित लाभ प्राप्त होते हैं :

1. कम्पनी को अंशों को बेचने के लिए सरलता से बाजार प्राप्त हो जाता है, क्योंकि भीरू स्वभाव के विनियोक्ता इनकी तरफ से आसानी से आकर्षित हो जाते है ।
2. पूर्वाधिकारी अंशों के प्रबन्ध एवं नियंत्रण में हस्तक्षेप के बिना कम्पनी पूंजी प्राप्त कर लेती है ।
3. इन अंशों से कम्पनी अपनी सम्पत्ति को बन्ध एवं गिरवी रखे बिना पूंजी प्राप्त कर सकती है अर्थात् प्रभार रहित पूंजी प्राप्त कर सकती है ।
4. पूर्वाधिकारी अंशों का निर्गमन व्यय अत्यन्त कम होने से इनका अर्थ प्रबन्ध मितव्ययी होता है ।
5. इनके निर्गमन से कम्पनी का पूंजी ढांचा लोचदार बना रहता है क्योंकि कम्पनी शोध्य अंशों का निर्गमन कर सकती है।
6. कम्पनी शोध्य अंशों पर निर्गमन कर अतिपूंजीकरण के विरूद्ध सुरक्षा प्राप्त कर सकती है ।

पूर्वाधिकारी अंशों की हानि (Disadvantages of Preferences Shares) : पूर्वाधिकारी अंशों रो कम्पनी को निम्नलिखित हानियां होती है :

1. पूर्वाधिकारी अंश २चामित्वों का कम्पनी के लाभ के पूर्वाधिकारी होने के कारण समता अंशधारियों को मिलने वाला लाभ कम हो जाता है ।
2. पूर्वाधिकारी अंशों पर निश्चित दर से लाभांश दिये जाने के कारण कम्पनी पर स्थायी भार उत्पन्न हो जाता है ।
3. इन अंशों पर देय लाभांश कर के लिए स्वीकृत व्यय नहीं माना जाता है, अत: इस साधन से पूंजी प्राप्त करने की लागत ऋण पत्रों की तुलना में अधिक आती है ।
4. यदि कम्पनी के अन्तर्नियमों में यह व्यवस्था है कि अतिरिक्त पूर्वाधिकारी अंशों या ऋण-पत्रों के निर्गमन से पूर्व विद्यमान अंशधारियों की सहमति लेना आवश्यक है तो ऐसी स्थिति में कम्पनी के लिए अतिरिक्त पूंजी प्राप्त करने में कठिनाई आती है ।

(iii) कभी-कभी कम्पनियां 'स्थगित अंशों (Deferred Shares) तथा 'सम-मूल्य रहित अंशों' (No-Par Value shares) का भी निर्गमन करती है । स्थगित अंश कम्पनी के प्रवर्तकों एवं संस्थापकों को उनकी सेवाओं के बदले लिये जाते हैं । सम-मूल्य रहित अंश का तात्पर्य यह नहीं है कि इनका कोई मूल्य नहीं होता है । वास्तव में ये ऐसे अंश होते हैं, जिनका कोई सम मूल्य अथवा अंकित मूल्य नहीं होता है ।

ऋण पूंजी (Debt Capital)

व्यावसायिक उपक्रमों के विस्तार के साथ-साथ उनकी वित्तीय आवश्यकताएं भी बढ़ जाती है जिनकी पूर्ति केवल 'स्वामित्व पूंजी' (Owners Capital) के द्वारा नहीं की जा सकती । इसलिए उन्हें ऋण पूंजी लेने की आवश्यकता पड़ती है । यह पूंजी ऋणदाताओं के द्वारा प्रदान किये जाने के कारण ऋण पूंजी कहलाती है । ऋण पूंजी के द्वारा व्यावसायिक उपक्रमों की अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन

दोनों प्रकार की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है । जिस ऋण पूंजी के लिए किसी प्रकार की प्रतिभूतियां निर्गमित नहीं की जाती है, उसे '**अनिधित ऋण**'(Unfunded debt) कहते हैं । इस प्रकार ऋण व्यापारिक बैंकों, साहूकारों तथा संचालकों से प्राप्त किया जा सकता है और यह अल्पकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करता है । दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कम्पनियों द्वारा **'ऋण-पत्र**'(Debentures) अथवा **'बन्धक-पत्र'** (bond) जारी किया जाता हे । ऋण पूंजी की खास बात यह है कि इस पर एक निश्चित दर से ब्याज चुकाने तथा परिपक्व अवधि पर शोधन का दायित्व (दायित्व चुकाने का बोध) उत्पन्न हो जाता है । आज सभी व्यावसायिक प्रतिष्ठान अपनी कुल पूंजी का एक भाग ऋण से प्राप्त करते हैं । हम यहां दीर्घकालीन वित्तीय साधन के रूप में ऋण पूंजी (ऋण-पत्र एवं बाण्डों) का अध्ययन करेंगे ।

(ब) ऋण-पत्र (Debentures)

व्यावसायिक उपक्रमों के लिए दीर्घकालीन पूंजी प्राप्त करने के लिए बाह्य साधनों में से ऋण-पत्रों एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है । एक कम्पनी पार्षद सीमा नियम द्वारा अधिकार दिये जाने पर ऋण-पत्रों का निर्गम कर दीर्घकालीन वित्त प्राप्त कर सकती है । एक ऋण-पत्र कम्पनी की सार्वमुद्रा के अन्तर्गत निर्गमित ऋण की स्वीकृति का प्रमाण-पत्र होता है जिसमें ऋण की राशि, उस पर देय ब्याज तथा अन्य शर्तें अंकित होती है । नायडू एवं दत्ता के अनुसार, 'ऋण-पत्र कम्पनी की सार्वमुद्रा के अधीन निर्गमित ऐसा प्रपत्र है जो ऋण की स्वीकृति देता है और उन शर्तो का उल्लेख करता है जिनके अधीन वे निर्गमित किये गये हैं और उनका शोधन होना है ।"

ऋण-पत्रों के प्रकार (Types of Debentures) : ऋण-पत्रों को अनेक आधारों पर वर्गीकृत किया जाता है, जो अग्रांकित है :

1. **सुरक्षा के आधार पर** (On the Basis of Security): जब कम्पनी द्वारा ऋण-पत्रों के निर्गमन के समय अपनी सम्पत्ति बन्धक रख दी जाती है, तो ऐसे ऋण-पत्र **'सुरक्षित ऋण पत्र'** (Second debentures) कहलाते हैं । यदि ऋण-पत्र बिना किसी सम्पत्ति की जमानत के निर्गमित किये जाते हैं, तो ऐसी स्थिति में उन्हें **'असुरक्षित ऋण पत्र'** (Unsecured debentures) अथवा सामान्य /नग्न ऋण-पत्र कहते हैं ।
2. **परिवर्तनशीलता के आधार पर** (On the Basis of Convertivility): ऋण-पत्रों के निर्गमन के समय यदि कम्पनी ऋण-पत्र धारकों को यह विकल्प देती है कि वे अपने ऋण पत्रों को एक निर्धारित अवधि में समता अंशों में परिवर्तन करवा सकते हैं, तो उनको **'परिवर्तनशील ऋण-पत्र'** (convertible debentures) कहते हैं । लेकिन यदि ऋण-पत्र धारकों को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता है, तो ऐसी स्थिति में ऋण-पत्र **'अपरिवर्तनशील ऋण-पत्र**' (Non -Convertible debentures) कहलायेंगे।
3. **हस्तांतरण के आधार पर** (On the Basis of transferability): यदि ऋण-पत्रों के स्वामित्व का हस्तान्तरण केवल उनकी सुपुर्दगी द्वारा ही हो जाता है, तो उन्हें 'वाहक ऋण पत्र (Bearer debentures) कहते हैं और यदि ऋण-पत्रों के स्वामित्व का हस्तान्तरण के लिए कम्पनी कार्यालय में पुराने ऋण-पत्र धारक के स्थान पर नये ऋण-पत्र

धारक का नाम, पता, व्यवसाय आदि की सूचना देना अनिवार्य हो, तो उन्हें **'पंजीकृत ऋण-पत्र'** (Regisrtered debentures) कहा जाता है ।

4. **परिशोधन के आधार पर** (On the Basis of redemption): जब ऋण-पत्र की परिपक्वता अवधि समाप्त हो जाने के पूर्व ही उसकी राशि का भुगतान कम्पनी की इच्छानुसार किया जा सकता है, ऐसे ऋण-पत्र 'शीध्य ऋण-पत्र (Redeemable debentures) कहलाते हैं । यदि उक्त प्रकार के भुगतान के अधिकार के बिना ऋण-पत्र निर्गमित किये जाते हैं, तो फिर उन्हें 'अशोध्य ऋण-पत्र' (Irredeemable debentures) कहा जायेगा ।
5. **प्राथमिकता के आधार पर** (On the Basis of Preference): कम्पनी के समापन की स्थिति में जिन ऋण-पत्रों की राशि लौटाने में प्राथमिकता दी जाती है, उनकों 'पूर्वाधिकारी ऋण-पत्र (Preference debentures) कहते हैं । जिन ऋण-पत्रों को इस प्रकार प्राथमिकता प्राप्त नहीं होती, उन्हें **'सामान्य ऋण-पत्र**' (Ordinary debentures) की संज्ञा दी जाती है ।

ऋण-पत्रों की कम्पनी को लाभ (Advantages of debentures to the Company): ऋण-पत्रों के निर्गमन से कम्पनी को निम्नांकित लाभ प्राप्त होते हैं :

1. ऋण-पत्रों पर प्रदत्त ब्याज दर सामान्यतया समता अंशों पर घोषित लाभांश दर से कम होती है और इसे व्यावसायिक व्यय भी माना जाता है ।
2. ऋण-पत्रों के माध्यम से कम्पनी ऋणदाताओं को प्रबन्ध एवं नियंत्रण में भागीदार बनाये बिना ही पूंजी प्राप्त कर सकती है ।
3. इनका निर्गमन सुस्थापित एवं ख्याति प्राप्त कम्पनियों द्वारा किये जाने के कारण इनके द्वारा पूंजी एकत्र करने में निश्चितता बनी रहती है ।
4. ऋण-पत्रों के निर्गमन से कम्पनी के पूंजी ढांचे में लोच बनी रहती है ।
5. गन्दी काल में ऋण-पत्रों के द्वारा पूंजी प्राप्त करना आसान होता है ।
6. कम्पनी ऋण-पत्रों के शोधन (भुगतान) करके अतिपूंजीकरण की स्थिति से आसानी से बच सकती है ।
7. एक कम्पनी अपने ऋण-पत्रों को एक ऐसी श्रृंखला के रूप में निर्गमित कर सकती है कि उनके प्रत्येक अनुवर्ती निर्गमन से पूर्व निर्मित ऋण-पत्रों का भुगतान किया जा सके । ऐसा करने से कम्पनी पर ऋण-पत्रों के भुगतान का भार नहीं पडता है ।

(स) सावधि ऋण (Term Loan)

सावधि ऋण वे ऋण होते हैं जिनका भुगतान एक साल से अधिक के पश्चात् किया जाता है। इन ऋणों का प्रयोग स्थायी सम्पतियों को क्रय करने तथा कार्यशील पूंजी का सीमान्तर (Margin) प्रदान करने के लिए किया जाता है । सावधि ऋण अल्पकालीन ऋण से इस अर्थ में भिन्न होते हैं कि अल्पकालीन ऋण कार्यशील पूंजी की नियमित आवश्यकता की पूर्ति हेतु लिए जाते हैं तथा एक वर्ष की अवधि में स्वत: भुगतान योग्य होते हैं ।

सावधि ऋणों की प्रमुख विशेषताएँ (Main characteristics of Term Loans) : सावधि ऋणों की निम्नांकित प्रमुख विशेषताए होती है :

1. सामान्यतया सावधि ऋण सुरक्षित ऋण होते हैं, क्योंकि इनका निर्गमन सम्पत्तियों को कथक रखकर अथवा उन पर प्रभार उत्पन्न कर किया जाता है । ये ऋण सम्पत्तियों को जमानत के आधार पर दिये जाते हैं ।
2. सावधि ऋणों पर देय ब्याज व मूलधन का भुगतान एक निश्चित अवधि गे करना पड़ता है तथा निर्धारित समय से पूर्व भुगतान करने पर कुछ राशि की छूट प्रदान की जाती है । निर्धारित तिथि के पश्चात् भुगतान करने पर मूलधन व देय ब्याज पर एक निश्चित दर से हर्जाना चुकाना पड़ता है ।
3. सावधि ऋण प्रदान करने वाली वित्तीय संस्थाएं अपने हितों की सुरक्षा के लिए ऋण प्रसंविदों (Debt contracts) में अनेक प्रकार की शर्तें जोड देती है, तथा ऋण लेने वाली कम्पनी के संचालक मण्डल के गठन में हस्तक्षेप, उनकी स्वीकृति के बिना नई परियोजना में निवेश न करना, कम्पनी का विस्तार न करना आदि..... आदि ।
4. सावधि ऋण प्रदान करने वाली वित्तीय संस्थाएं विद्यमान सरकारी दिशा-निर्देशो के अनुरूप अपने विकल्प पर पूर्णतया अथवा आशिक रूप रो सावधि ऋणों को समता अंशों में परिवर्तित कर सकती है । दूसरे शब्दों में, सावधि ऋण समता अंशों गे परिवर्तनीय भी हो सकते हैं ।

दीर्धकालीन ऋण / ऋणपत्रों के शोधन के लिए कम्पनीयों द्वारा निम्नलिखित तीन विधियों का प्रयोग किया जाता है:

1. **परिवर्तन** (Conversion): इस विधि के अन्तर्गत कम्पनी ऋणपत्र धारकों को समता अंश अथवा पूर्वाधिकारी अंश प्रदान कर ऋणों के भुगतान से मुक्त हो जाती है ।
2. **पुर्ननिधिकरण** (Refunding): इस विधि के अन्तर्गत कम्पनी द्वारा विद्यमान ऋण-पत्रों के बदले नये ऋण प्रदान किये जाते हैं अर्थात् पुराने ऋण-पत्रों का स्थान नये ऋण-पत्र ले लेते हैं ।
3. **विमोचन** (Redemption): विमोचन के आशय ऋण-पत्रों के परिपक्व होने पर उनकी देय राशि के भुगतान करने से है । इस विधि के अन्तर्गत कम्पनी द्वारा ऋण-पत्रों की मूल राशि ओर उस पर देय ब्याज का भुगतान उनकी परिपक्वता की अवधि पर कर दिया जाता है । ऋण पत्रों के विमोचन के लिए प्राय: कम्पनियां कोष निर्मित करती है ।

10.5 सारांश (Summary):

व्यावसायिक वित्त की सही समय पर पर्याप्त उपलब्धि किसी भी व्यवसाय की सफलता की प्राथमिक शर्त है । एक व्यावसायिक उपक्रम को अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार के वित्त की आवश्यकता होती है । अल्पकालीन वित व्यवसाय की अल्पकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यक है, तो दीर्घकालीन वित्त व्यवसाय की दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु चाहिए । अल्पकालीन व्यावसायिक वित प्राप्ति के निम्नांकित स्रोत अथवा साधन है:

(1) व्यापारिक साख; (2) बैंक वित्त / साख; (3) जन-निक्षेप; (4) अन्तर-कम्पनी निक्षेप; (5) ग्राहकों से अग्रिम; (6) आन्तरिक स्रोत; तथा (7) कुछ नवीन साधन ।

एक व्यावसायिक उपक्रम निम्नांकित साधनों स्रोतों से दीर्घकालीन वित्त प्राप्त कर सकता है: (1) समता अंश; (2) पूर्वाधिकारी अंश, (3) ऋण-पत्र तथा (4) सावधि ऋण ।

10.6 शब्दावली (Key Words)

1. **व्यवसाय वित्त के अल्पकालीन साधन / स्रोत** (Sources of Short -term business Finance): व्यवसाय की अस्थायी आवश्यकताओं की पूर्ति जिन स्रोतों / साधनों से की जाती है, उन्हें व्यवसाय वित्त के अल्पकालीन साधन / स्रोत कहते हैं । दूसरे शब्दों में, अल्पकालीन वित्त की एक वर्ष की लेखावधि के लिए आवश्यकता होती है । यह कार्यशील पूंजी के लिए प्रयुक्त होता है ।
2. **व्यापारिक साख** (Trade Credit): यह वित्त प्राप्ति का तत्कालीन साधन माना जाता है । यह खुला खाता, विनिमय-विपत्र तथा प्रतिज्ञा-पत्र के रूप में प्रचलित है ।
3. **खुला खाता** (Open Account): यह संस्था के स्थायी ग्राहकों के लिए उपलब्ध सुविधा है जिसके अन्तर्गत उन्हें एक निश्चित राशि का माल एक निश्चित समयावधि के लिए उधार मिल जाता है ।
4. **विनिमय-विपत्र** (Bills of Exchange): यह एक ऐसा विपत्र है जो विक्रेता द्वारा क्रेता पर लिखा जाता है और क्रेता उसे स्वीकार कर एक निश्चित समयावधि बाद इसमें उल्लेखित राशि का भुगतान करता है ।
5. **प्रतिज्ञा-पत्र** (Promissory Note): यह एक ऐसा विलेख है जिसमें क्रेता द्वारा माल के विक्रेता को उधार क्रय किये गये माल की राशि का एक निश्चित तिथि पर भुगतान करने का वचन देता है ।
6. **अधिविकर्ष** (Overdraft): यह बैंक ग्राहक द्वारा उसके खाते में जमा राशि से अधिक राशि निकालने की सुविधा होती है ।
7. **नकद साख** (Cash Credit): जनता द्वारा कम्पनियों में सीधी जमा करायी जाने वाली राशि जन निक्षेप कहलाती है ।
8. **अन्तर-कम्पनी निक्षेप** (Inter Company Deposits): एक कम्पनी द्वारा दूसरी कम्पनियों में जमा करायी गयी राशि अन्तर-कम्पनी कहलाती है ।
9. **याचना निक्षेप** (Call deposits): जो निक्षेप एक दिन की सूचना पर प्राप्त किये जा सकते हों याचना निक्षेप कहलाते हैं।
10. **व्यावसायिक वित्त के दीर्घकालीन स्रोत** (Sources of Long -term Business Finance): व्यवसाय की स्थायी सम्पत्तियों में किया जाने वाला पूंजी विनियोजन दीर्घकालीन व्यावसायिक वित्त कहलाता है । यह प्राय: 5 वर्ष से अधिक अवधि के लिए होता है । अंश पूंजी, ऋण पूंजी इसके प्रमुख स्रोत/साधन है ।
11. **समता अंश** (Equity Shares): ये वे अंश है जो पूर्वाधिकारी अंश नहीं है । इनके धारक अन्तिम जोखिम धारक होते हैं और अवशिष्ट आय व सम्पत्ति बांटने वाले होते हैं ।

12. **पूर्वाधिकारी अंश** (Preference Shares): ये वे अंश होते हैं जिनके धारकों को लाभांश प्राप्त करने तथा व्यवसाय के समापन के समय कुछ पूर्वाधिकार प्राप्त होते हैं ।
13. **ऋण पत्र** (Debentures): ऋण-पत्र कम्पनी को सार्वमुद्रा के अधीन निर्गमित ऋण की स्वीकृति का प्रमाण-पत्र होता है जिसमें ऋण की राशि, उस पर देय ब्याज तथा अन्य शर्तें लिखी रहती है ।
14. **सावधि-ऋण** (Term Loan): ये वे ऋण होते हैं जिनका भुगतान एक वर्ष से अधिक अवधि के पश्चात् किया जाता है ।

10.7 स्व-परख प्रश्न Self Excercises)

लघुत्तरात्तमक प्रश्न (Short Answer Question)

1. व्यावसायिक वित्त प्राप्ति के अल्पकालीन साधन कौन-कौन से है?
2. जन-निक्षेप क्या होते हैं? इनके लाभ क्या हैं ?
3. अल्पकालीन वित्त के आन्तरिक स्रोतों पर प्रकाश डालिए ।
4. बैंक ऋण तथा अधिविकर्ष में अन्तर कीजिए ।
5. दीर्घकालीन वित्त का आशय स्पष्ट करते हुए इसके महत्व पर प्रकाश डालिए ।
6. व्यावसायिक वित्त के दीर्घकालीन स्रोतों / साधनों के नाम बताइये ।
7. समता अंशों के प्रमुख लाभ एवं हानि स्पष्ट कीजिए ।
8. पूर्वाधिकारी अंशों का अर्थ स्पष्ट कीजिए ।
9. ऋण-पत्रों से आप क्या समझते हैं तथा इनकी विशेषताऐं स्पष्ट कीजिए ।
10. अंश तथा ऋण पत्र में अन्तर स्पष्ट कीजिए ।
11. अल्पकालीन ऋण और सावधि क्या में क्या अंतर है?

निबन्धात्मक प्रश्न (EssayType Questions)

1. अल्पकालीन वित्त से आप क्या समझते हैं? इसके विभिन्न साधनों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए ।
2. व्यापारिक साख के गुण-दोषों पर प्रकाश डालते हुए इसके प्रचलित रूपों को स्पष्ट कीजिए।
3. बैंकों द्वारा अल्पकालीन वित्त किन-किन रूपों में प्रदान की जाती है?
4. दीर्घकालीन वित्त से आपका क्या आशय है? इसके विभिन्न साधनों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ।
5. एक कम्पनी के वित्तीय स्रोत के रूप में समता अंशों एवं पूर्वाधिकारी अंशों का तुलनात्मक विवेचन कीजिए ।
6. परिवर्तनशील ऋण-पत्रों से आप क्या समझते हैं? विनियोजकों में इनकी लोकप्रियता किन कारणों की वजह से है?
7. कम्पनी की दृष्टि से अंशों के गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए ।
8. कम्पनी की दृष्टि से ऋण पत्रों के गुण दोषों का विवेचन कीजिए ।

10.8 संदर्भ ग्रन्थ / कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. वित्तीय प्रबन्ध के तत्व : प्रो. एम.डी. अग्रवाल एवं प्रो.एन.पी. अग्रवाल रमेश बुक डिपो, जयपुर ।
2. व्यावसायिक वित्त एवं प्रबन्ध : जी.डी वर्मा, आर.के. शर्मा तथा शशि के गुप्ता, लेखांकन कल्याणी पब्लिशर्स, नई दिल्ली ।
3. वित्तीय प्रबन्ध : एम.आर. अग्रवाल, गरिमा प्रकाशन, जयपुर
4. वित्तीय प्रबन्ध : ओझा, डोसी, जैन, मेहता अजमेरा बुक कम्पनी, जयपुर ।
5. वित्तीय प्रबन्ध : टंडन, माथुर, जैन व गुप्ता शिवम बुक हाऊस, जयपुर ।

इकाई 11 बैंक एवं वित्तीय संस्थाएँ (Bank and Financial Institutions)

इकाई की रूपरेखा :-

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 बैंक का अर्थ एवं परिभाषा
11.3 आधुनिक बैंकों के कार्य
11.4 आर्थिक विकास में बैंकों की भूमिका
11.5 बैंकों के प्रकार:
(i) केन्द्रीय बैंक
(ii) व्यापारिक बैंक
(iii) विकास बैंक
(iv) विदेशी विनिमय बैंक
(v) सहकारी बैंक
(vi) औद्योगिक बैंक
(vii) निवेश बैंक
(viii) अन्य वित्तीय संस्थाएँ
11.6 सारांश
11.7 शब्दावली
11.8 स्व-परख प्रश्न
11.9 संदर्भ ग्रंथ/कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.0 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन से आप इस योग्य हो सकेंगे कि:
- बैंक का अर्थ बता सकें ।
- बैंकों के कार्यो को समझ सकें ।
- बैंकों के विभिन्न प्रकार जान सकें ।
- गैर-बैकिंग वित्तीय संस्थाओं के बारे में स्पष्ट समझ पैदा कर सकें ।

11.1 प्रस्तावना

किसी देश के आर्थिक विकास में बैंकों व वित्तीय संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । बैंक व अन्य वित्तीय संस्थाएँ मुद्रा एवं वित्त में व्यवहार करती हैं इसलिए इनका अध्ययन करना परमावश्यक है । हम इस इकाई में बैंक का अर्थ एवं उसके द्वारा किये जाने वाले कार्यो का अध्ययन

करेंगे और साथ में बैंकों के विभिन्न प्रकारों के बारे में जानकारी करेंगे । बैंकों के अलावा आधुनिक युग में विद्यमान अन्य वित्तीय संस्थाओं के बारे में भी इस इकाई में वर्णन किया जायेगा ।

11.2 बैंक का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Bank)

बैंक शब्द का उद्‌गम के बारे में दो मत प्रचलित हैं । प्रथम मतानुसार बैंक शब्द इटालियन शब्द बैंकों (Banko) से निकला है । इस मत के अनुसार प्राचीनकाल में इटली में बैंकों शब्द का अर्थ बैचों पर बैठकर मुद्रा बदलने से था । उस समय इटली के सर्राफ एवं सुनार बैंचों पर बैठकर मुद्रा परिवर्तन का कार्य करते थे । कालान्तर में बैंक शब्द का प्रयोग साख की व्यवस्था करने वाली संस्थाओं के रूप में किया जाने लगा । द्‌वितीय मतानुसार बैंक शब्द जर्मन भाषा के शब्द **'BANCK'** से बना है जिसका आश्य संयुक्त स्कन्धकोष से लगाया जाता है । इसके अनुसार सन् 1171 में वेनिस राज्य में उत्पन्न आर्थिक संकट से मुक्ति पाने के लिए वही के राजा ने जनता से ऋण लिया था जिसके लिए **'BANCK'** शब्द काम में लिया गया । बाद में चलकर यही शब्द Bancko, Banke तथा Bank बन गया । यहाँ नीचे बैंक की कुछ परिभाषाएँ दी जा रही हैं ।-

वेबस्टर शब्द कोष के अनुसार, "बैंक वह संस्था है जो मुद्रा में व्यवसाय करती हैं । यह एक प्रतिष्ठान है जहाँ धन का जमा, संरक्षण तथा निर्गमन होता है तथा जहाँ ऋण देने एवं कटौती की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं और एक स्थान से दूसरे स्थानपर धनराशि भेजने की व्यवस्था की जाती है ।"

भारतीय बैंकिग नियमन अधिनियम, 1949 के अनुसार, "बैंकिंग व्यवसाय से तात्पर्य ऋण देने अथवा विनियोजन के लिए जनता से मुद्रा के निक्षेपों को स्वीकार करना है, जो माँगने पर अथवा किसी अन्य प्रकार से लौटाये जा सकें तथा चैक, ड्राफ्ट, आदेश अथवा किसी अन्य प्रकार से निकाले जा सकें ।"

हार्ट (Hart) के अनुसार, "बैंकर वह व्यक्ति है जो अपने साधारण व्यवसाय के अन्तर्गत लोगों का धन जमा करता है तथा उन व्यक्तियों के चैकों का भुगतान करके चुकाता है, जिन्होनें इसे जमा कराया है अथवा जिनके खाते में धन जमा किया गया है ।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बैंक एक ऐसी संस्था है जो अपने ग्राहकों के लिए मुद्रा एवं साख का लेन-देन करती है ।

11.3 आधुनिक बैंकों के कार्य (Function of Mordern Banks)

आधुनिक व्यापारिक बैंकों के द्‌वारा अनेक कार्य सम्पादित किये जाते हैं जो अग्रांकित हैं:-

(अ) प्राथमिक या परम्परागत कार्य (Primary or Traditional Function)

1. **जमा स्वीकार करना (To Accept Deposits):** बैंकों का प्रथम मुख्य कार्य अपने ग्राहकों से प्राप्त जमा राशि को उनके खाते में जमा के रूप में स्वीकार करना है । बैंक व्यक्तियों और संस्थाओं की फालतू अतिरिक्त राशि को जमा करते हैं और उनके बदले ब्याज प्रदान करते हैं । व्यापारिक बैंकों द्‌वारा निम्नलिखित खाते खोलकर जमा स्वीकार की जाती है:-

   (i) स्थायी जमा खाता (Fixed Deposits Account) (ii) चालू खाता (Current Account) (iii) बचत बैंक खाता (Saving Bank Account) तथा (iv) अन्य ।

2. **ऋण प्रदान करना (To Grant Loan):** बैंकों का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य अपने ग्राहकों को धन उधार देना हैं । बैंक उद्योगपतियों, व्यापारियों, कृषकों, रच-रोजगार करने वाले व्यक्तियों तथा अन्य को ऋण प्रदान करते हैं । बैंक प्राय: निम्नांकित रूपों में ऋण प्रदान करते हैं:- (i) नकद साख (Cash Credit) (ii) ऋण एवं अग्रिम (Loans and Advances) (iii) अधिविकर्ष (Overdraft) तथा (iv) विनिमय विपत्रों की कटौती (Discounting of Bills of Exchange)

   बैंकों द्वारा उधार दी जाने वाली राशि पर ब्याज लिया जाता है, जो उनके द्वारा जमा राशि पर दिये जाने वाले ब्याज की दर से अधिक होता है । यही व्याज का सीमान्तर (Margin) बैंकों का लाभ होता है ।

(ब) अभिकर्ता या प्रतिनिधित्व सम्बन्धी कार्य (Agency or Representative Functions): बैक अपने ग्राहकों के अभिकर्त्ता के रूप में उन्हें अनेक सेवायें प्रदान करते हैं जिनके बदले वे निर्धारित शुल्क वसूल करते हैं । कुछ सेवायें बैंक नि: शुल्क भी प्रदान करते हैं । बैंक अभिकर्त्ता के रूप में निम्नलिखित कार्य करते है :-

(i) चैक, विनिमय बिल व अन्य साख-पत्रों के भुगतान का ग्राहकों के खातों में जमा करना,

(ii) ग्राहकों के चैक, विनिमय बिल व अन्य साख-पत्रों का भुगतान करना,

(iii) ग्राहकों के लिए किराया, ब्याज, ऋण की किस्त, बीमा प्रीमियम, कमीशन, लाभांश आदि का भुगतान करना,

(iv) ग्राहक के आदेशानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर धन का हस्तान्तरण करना,

(v) ग्राहकों के लिए उनके प्रतिनिधि के रूप में अंशों व अन्य प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करना

(vi) ग्राहकों के आदेश पर उसकी सम्पत्ति के विभाजन तथा उसके प्रबन्धन का कार्य करना तथा प्रन्यासी के रूप में ग्राहक की वसीयत को कार्यान्वित करना । न्यायालय द्वारा नियुक्त किये जाने पर अथवा सरकारी आदेशों की क्रियान्विति के लिए निष्पादक के रूप में कार्य करना

(vii) बड़े औद्योगिक एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों के लिए अंश एवं ऋण पत्रें के अभिगोपन (Underwriting) का कार्य करना, तथा

(viii) अपने ग्राहकों के आदेशानुसार उनके पासपोर्ट व विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्य करना ।

(स) सामान्य उपयोगो कार्य (General Utility Function): बैंक अपने ग्राहकों के लिए अनेक उपयोगी सेवायें प्रदान करते हैं जिनमें से प्रमुख अग्रलिखित हैं:-

(i) अपने ग्राहकों की बहुमूल्य वस्तुओं व दस्तावेजों जैसे आभूषण, सोना, चांदी,अंश व ऋण-पत्रों, जमा रसीदें, मकान व सम्पत्ति के दस्तावेज आदि की सुरक्षा हेतु लॉकर्स की सुविधा प्रदान करना।

(ii) अपने ग्राहकों के लिए यात्री चैक तथा अन्य साख-पत्र (डेबिट कार्ड, क्रेडिट कार्ड आदि) जारी करना तथा ग्राहकों की ओर से लिखे गये विनिमय-पत्रों को स्वीकार करना ।

(iii) अपने ग्राहकों को व्यक्तिगत साख पर उपभोक्ता ऋण प्रदान करना तथा उन्हें आर्थिक एवं वित्तीय मामलों में सलाह देना।

(iv) अपने ग्राहकों को देशी एवं विदेशी व्यापारियों की आर्थिक स्थिति की सही एवं प्रामाणिक सूना देना तथा

(v) देश की आर्थिक, वित्तीय एवं व्यापारिक स्थिति के बारे में समंक एकत्रित कर प्रकाशित करना

(द) विदेशी व्यापार का वित्त पोषण (Financing of Foreign Trade): बैंक अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन को सुविधाजनक बनाने में सहयोग करते हैं । बैंक आयातकों व निर्यातकों में पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करवाकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन प्रदान करते हैं ।

(य) साख निर्माण कार्य (Credit Creation Function) : बैंक केवल मुद्रा के व्यापारी ही नहीं, बल्कि उसके उत्पादक भी हैं । वे अपनें जमा धन को उधार देकर साख सृजन का कार्य भी करते हैं । वे प्राप्त जमा राशि का एक भाग अपने पास नकद रखकर शेष राशि उधार दे देते हैं । उधार दी गयी राशि को बैंक ऋणी के व्यक्तिगत खाते में जमा कर ऋण जमाओं के द्वारा साख-निर्माण का कार्य करते हैं । इसलिए लॉर्ड कीन्स ने सही कहा है कि "ऋण जमाओं की संतान हैं और जमा ऋणों की संतान हैं ।"

11.4 आर्थिक विकास में बैंकों की भूमिका (Role of Banks in Economic Development)

किसी देश के आर्थिक विकास में बैंकों की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका है । किसी देश के आर्थिक विकास में बैंकों का वही महत्व हैं जो मनुष्य के शरीर में रक्तवाहिनी नाड़ियों का है । देश के उत्पादन, व्यापार, उद्योग- धन्धे व अन्य सभी आर्थिक क्रियाओं का विकास बैंकिग विकास पर निर्भर करता है । आर्थिक विकास में बैंकों की भूमिका को निम्नांकित बिन्दुओं के माध्यम से रेखांकित किया जा सकता है-

1. बचतों को प्रोत्साहन (Encouragement to Savings): बैंक छोटी-छोटी बचतों को जमाओं के माध्यम से एकत्रित करते हैं और उन पर ब्याज देते हैं । इससे बचत की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है ।

2. पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन (Encouragement to Capital Formation): बैंक जमाओं के संग्रहण द्वारा बेकार पड़े एवं बिखरे हुए धन को एकत्रित कर उद्योग-धन्धो को निर्माण कार्य के लिए उधार देकर पूँजी निर्माण को प्रोत्साहित करते हैं ।

3. व्यावसायिक गतिविधियों के लिए वित्त पोषण (Financing to Business Activities): बैंक विभिन्न व्यावसायिक संस्थानों को उनकी गतिविधियों के लिए वित्त प्रदान करते हैं जिससे देश के उद्योग-धन्धों का जाल फैलता है और अर्थव्यवस्था का विकास होता है ।

4. पूँजी की गतिशीलता (Mobility of Capital): बैंकों के माध्यम से हस्तान्तरण द्वारा पूँजी को कम उत्पादक स्थानों कार्यो से हटाकर अधिक उत्पादक स्थानों / कार्यो में लगया जा सकता है । इससे पूँजी की उत्पादकता बढ़ती है और उचित प्रतिफल भी मिलता है ।

5. मुद्रा व्यवस्था में लोचशीलता एवं कीमत स्थायित्व (Flexibility in Monetary System & Price Stability): बैंक साख-निर्माण के द्वारा मुद्रा की पूर्ति में आवश्यकतानुसार

परिवर्तन कर उसे माँग के अनुसार समायोजित कर सकते हैं । इससे मुद्रा प्रणाली लोचशील बनी रहती है और कीमतों में भी स्थायित्व बना रहता है ।

6. धन हस्तान्तरण की सुविधा (Fund Transfer Facility): बैंक मुद्रा एवं धन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने की सुविधा सुलभ कराते हैं । इससे जोखिम व व्यय में कमी आती है ।

7. बैंकिग प्रवृत्ति का विकास (Development of Banking Habit): बैंकिग सुविधाओं के विस्तार के कारण लोगों में बैंकिग प्रवृत्ति का विकास हुआ है जिससे मुद्रा के स्थान पर साखपत्रों का चलन बढ़ा है ।

8. सरकारी ऋण प्रबन्धन (Public Debt Management): बैंक सरकारी ऋणों की व्यवस्था करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है । इसके अतिरिक्त बैंक सरकार को वित्तीय परामर्श एवं वित्तीय सहायता भी प्रदान करते हैं ।

9. प्रतिनिधि एवं परामर्शदात्री सेवाएँ (Agency and Advisory Services): बैंक अपने ग्राहकों विशेषकर उद्योगपतियों एवं व्यापारियों को अनेक प्रकार की प्रतिनिधि एवं परामर्शदात्री सेवाएँ प्रदान करते हैं जिससे उनके श्रम व समय की बचत होती है ।

10. रोजगार में वृद्धि (Increase in Employment): बैंकों व बैंकिंग क्रियाओं के विस्तार से विभिन्न प्रकार की आर्थिक गतिविधियों का तेजी से विकास एवं विस्तार हुआ है । इससे रोजगार के अवसरों में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से वृद्धि हुई है ।

11. प्रो. टामस ने बैंकों के महत्व के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि "बैंक साख-पत्रों के चलन तथा निर्गमन को संगठित एवं नियंत्रित करते हैं । वे उधार देय पूँजी के विनियोग को सुविधाजनक बनाते हैं तथा उसका सबसे लाभदायक उपयोग तथा वितरण संभव बनाते हैं । जब और जहाँ चलन मुद्रा की आवश्यकता होती है, उसकी पूर्ति करते हैं तथा कुछ क्षेत्रों में अत्यधिक चलन मुद्रा को कम पूर्ति वाले स्थानों पर रथानान्तरित करते हैं"

11.5 बैंकों के प्रकार (Types of Banks)

आधुनिक युग में बैंक व बैंकिंग क्रियाओं का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो चुका है । बैंकों का कार्य पहले की तुलना में काफी विविध एवं व्यापक हो गया है । इसलिए कार्यो की विशिष्टता के आधार पर बैंकों को भिन्न-भिन्न नाम दिये जाते हैं । ऋणों की प्रकृति, आकार, अवधि, कार्यक्षेत्र आदि के आधार पर बैंकों के विभिन्न प्रकार बन गये हैं । विशिष्टीकरण का तात्पर्य यह नहीं है कि बैंक विशेष केवल एक विशिष्ट कार्य ही करेगा । इसका तात्पर्य यह है कि बैंक विशेष उस विशेष कार्य पर मुख्य रूप से अपना ध्यान केन्द्रित करेगा । बैंकों को उनके कार्यो के आधार पर अग्रलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है :-

(i) केन्द्रीय बैंक (Central Bank): किसी भी देश की मुद्रा एवं बैंकिंग व्यवस्था को नियंत्रित करने के लिए एक शीर्ष बैंक होता है, उसे उस देश का केन्द्रीय बैंक कहा जाता है । उदाहरणार्थ, भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया देश का केन्द्रीय बैंक है । देश का केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों से काफी भिन्न होता है । इसका मुख्य कार्य देश की मौद्रिक एवं बैंकिंग व्यवस्था का देश हित में संचालित करना है । किसी भी देश के केन्द्रीय बैंक के प्रमुख कार्य निम्नांकित है:-

(i) नोट निर्गमन का एकाधिकार (ii) सरकार का बैंकर, अभिकर्त्ता एवं सलाहकार (iii) बैंकों का बैंक एवं अन्तिम ऋणदाता, (iv) साख नियंत्रण (v) आर्थिक समंकों का संग्रहण एवं प्रकाशन (vi) समाशोधन कार्य (vii) विदेशी विनिमय नियंत्रण (viii) बैंकिग प्रणाली का नियमन एवं नियंत्रण तथा (ix) अन्य कार्य ।

(ii) व्यापारिक बैंक (Commercial Bank): व्यापारिक बैंक उस बैंक को कहते है जो उद्योग एवं व्यवसाय जगत की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अल्पकालीन वित्त प्रदान करते हैं । वर्तमान में ये बैंक मध्यमकालीन वित्त भी प्रदान करने लगे हैं । व्यापारिक बैंक सामान्यत: कार्यशील पूँजी के लिए एक वर्ष की अवधि के लिए ऋण देते हैं । व्यापारिक बैंकों का मुख्य कार्य जमा स्वीकार करना तथा ऋण देना है । इसके अलावा ये बैंक अन्य अनेक उपयोगी कार्य भी करते हैं । व्यापारिक बैंकों के इन सभी कार्यो का वर्णन इसी अध्याय में आधुनिक बैंकों के कार्य शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है । व्यापारिक बैंक ढाँचा या तो इकाई बैंकिंग के रूप में होता है अथवा शाखा बैंकिंग के रूप में । भारत में व्यापारिक बैंकों का ढाँचा शाखा बैंकिंग पर आधारित है ।

(iii) विकास बैंक (Development Bank): विकास बैंक वे विशिष्ट वित्तीय संस्थाएँ हैं जो दीर्घकालीन विकास वित्त की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं । इनके इस प्रमुख कार्य के कारण ही इन्हें दीर्घकालीन ऋणदात्री संस्थाएँ भी कहा जाता है । विकास बैंकों की स्थापना द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् मूलत: विकास के तीन प्रमुख संघटक प्रदान करने के लिए की गयी । ये संघटक हैं:- (1) पूँजी, (2) ज्ञान तथा (3) उद्यमशीलता । इन बैंकों के प्रमुख कार्य अग्रलिखित हैं:

(अ) दीर्घकालीन ऋणों की स्वीकृति (Sanction of Long Term Loans): अधिकांश विकास बैंकों का महत्वपूर्ण कार्य औद्योगिक प्रतिष्ठानों को दीर्घकालीन ऋण / जोखिम पूँजी प्रदान करना है । ये बैंक मध्यावधि ऋण भी प्रदान करते हैं । इनके द्वारा विदेशी मुद्रा में भी ऋण प्रदान किया जाता है ।

(ब) ऋणों की गारण्टी (Guarantee of Loans): ये व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा अन्य स्रोतों से लिये गये ऋणों की गारण्टी भी देते हैं ।

(स) अभिगोपन (underwriting): विकास बैंक औद्योगिक संस्थाओं के अंशों, ऋण-पत्रों तथा बॉण्डों के अभिगोपन भी करते हैं ।

(द) अंशों तथा ऋण-पत्रों में निवेश (Investment in Shares and Debentures): ये बैंक औद्योगिक प्रतिष्ठानों के अंशों व ऋण-पत्रों में प्रत्यक्ष रूप से निवेश भी करते हैं ।

(य) विकास कार्य (Development Function): विकास बैंक निम्नलिखित विकासात्मक कार्य भी करते हैं:-

1. उद्यमशीलता को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से ये बैंक उद्यमियों को प्रशिक्षण एवं परामर्श देते हैं ।
2. औद्योगिक इकाइयों की संरचना एवं प्रबन्ध में सुधार करने में मदद करते हैं ।
3. परियोजनाओं के निर्माण में तकनीकी सहायता द्वारा नवीन उद्यमों को प्रोत्साहित करते हैं ।

4. तकनीकी एवं आर्थिक सर्वेक्षणों के द्वारा विशेषकर पिछड़े क्षेत्रों के विकास में मदद करते हैं ।
5. पूँजी बाजार के विकास को प्रोत्साहन देते हैं ।

विकास बैंकों की स्थापना विभिन्न क्षेत्रों की आवश्यकतानुसार की जाती है । उदाहरण के लिए भारत में बड़े व मझौले व छोटे उद्योगों को विकास वित्त प्रदान करने के लिए **'भारतीय औद्योगिक विकास बैंक"(IDBI),** कृषि क्षेत्र के लिए **'राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक" (NABARD)** लघु उद्योगों को विकास वित्त प्रदान करने के लिए **भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (SIDBI)** तथा विदेशी व्यापार के वित्त पोषण के लिए **"भारतीय निर्यात-आयात बैंक" (EXIM- Bank)** स्थापित किया गया है ।

(iv) विदेशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Bank): ये वे बैंक होते हैं जो विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का कार्य करते हैं और विदेशी व्यापार के लिए वित्त व्यवस्था करते हैं । ये विदेशी विनिमय बिलों के क्रय-विक्रय कर विदेशी व्यापार भुगतान को सुगम बनाते हैं । इनकी शाखायें अनेक देशों के माध्यम से अपना कार्य करती हैं । भारत में विदेशी विनिमय का कार्य, अलग से विदेशी विनिमय बैंक न होने के कारण, व्यापारिक बैंकों द्वारा किया जाता है । केन्द्रीय बैंक की अनुमति से ये बैंक साधारण बैंकिंग कार्य भी कर सकते हैं ।

(v) सहकारी बैंक (Co- operative Bank): सहकारी बैंक सहकारिता के सिद्धान्तों पर आधारित बैंकिंग संगठन हैं । इनकी स्थापना किसानो की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की जाती हैं । ये किसानों को सस्ती ब्याज दरपर अल्पकालीन व मध्यकालीन ऋण प्रदान करते हैं । भारत में सहकारी बैंकिंग ढाँचा त्रि-स्तरीय है । ग्रामीण स्तर पर प्राथमिक सहकारी साख समितियाँ हैं, जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा राज्य स्तर पर एक शीर्ष राज्य सहकारी बैंक है । सहकारी बैंक अब नगरीय क्षेत्रों में स्थापित होने लगे हैं जो व्यापारिक बैंकों के समस्त कार्य करते हैं ।

(vi) औद्योगिक बैंक (Industrial Bank): ये बैंक औद्योगिक इकाइयों की दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु क्या प्रदान करते हैं । ये बैंक औद्योगिक इकाइयों के अंश व ऋण-पत्रों में पूँजी विनियोजन करते हैं और उनके अभिगोपन (Underwriting) का भी कार्य करते हैं । ये औद्योगिक एवं व्यापारिक घरानों को तकनीकी एवं आर्थिक सलाह भी प्रदान करते हैं । इन्हें औद्योगिक विकास बैंक भी कहा जाता है । ये दीर्घकालीन जमाएँ भी स्वीकार करते हैं । **"भारतीय औद्योगिक वित्त निगम" (IFCI), "भारतीय औद्योगिक विकास बैंक" (IDBI)** हमारे देश में इनके सुन्दर उदाहरण हैं ।

(vii) निवेश बैंक (Investment Bank): ये वे बैंक होते हैं जो लोगों से जमाएँ स्वीकार करते हैं और उन्हें दीर्घकालीन क्या के रूप में उत्पादक कार्यो हेतु उद्योग-धन्धों को प्रदान करते हैं । ये अपने अतिरिक्त धन का विनियोजन प्रतिभूतियों में करते हैं तथा प्रतिभूतियों का अभिगोपन भी करते हैं । **"भारतीय जीवन बीमा निगम" (LIC) "भारतीय सामान्य बीमा निगम" (GICI)** तथा **'यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया" (UTI)** निवेश बैंक के कतिपय उदाहरण हैं । विकास बैंकों तथा निवेश बैंकों को बैंकेतर वित्तीय संस्थाओं की श्रेणी में रखा जाता हैं ।

(viii) अन्य बैंकेतर वित्तीय संस्थाएँ (Other Non -Banking Financial Institutions): विकास बैंको तथा निवेश बैंकों के अतिरिक्त भी अन्य बैंकेतर वित्तीय संस्थाएँ विद्यमान है । ये अग्रलिखित हैं-

1. अवक्रय वित्त कम्पनियाँ (Hire Purchase Finance Companies)
2. निवेश कम्पनियाँ (Investment Companies)
3. आवास वित्त कम्पनियाँ (Housing Finace Companies)
4. वित्त निगम (Finance Corportaions)
5. परस्पर लाभ वित्त कम्पनियाँ (Mutual Benefit Finance Companies)
6. चिटफण्ड कम्पनियाँ (Chit- Fund Companies)

ये बैंकेतर वित्तीय संस्थाएँ आशिक रूप से संगठित क्षेत्रों में है और आशिक रूप से असंगठित क्षेत्रों में हैं ।

11.6 सारांश (Summary)

बैंक मुद्रा का लेन-देन करने वाली एक संस्था है । यह धन जमा करने तथा उधार देने के अपने प्राथमिक कार्य के अतिरिक्त अभिकर्त्ता सम्बन्धी कार्य, सामान्य उपयोगी सेवायें, विदेशी व्यापार की वित्तीय एवं प्रबन्धकीय व्यवस्था तथा साख निर्माण का कार्य भी करता है । आर्थिक विकास में बैंकों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है । ये बचतों को एकत्रित कर पूँजी निर्माण करते हैं और उद्योग-धन्धों को ऋण प्रदान कर आर्थिक विकास और रोजगार में वृद्धि करते हैं । बैंकिंग विकास के माध्यम से ये न केवल लोगों में बैकिंग प्रवृत्ति का विकास करते हैं, वरन् एक स्थान से दूसरे स्थान पर धन के हस्तान्तरण की भी सुविधा प्रदान करते हैं । बैंक साख निर्माण के द्वारा देश की मुद्रा प्रणाली को लोचशील बनाये रखने में मददगार साबित होते हैं तथा कीमत स्थायित्व में सहयोग देते हैं । बैंक अपने कार्यो की विशिष्टता के आधार पर अनेक प्रकार के होते हैं । इन्हें मुख्य रूप से केन्द्रीय बैंक, व्यापारिक बैंक, विकास बैंक, विदेशी विनिमय बैंक, सहकार बैंक, औद्योगिक बैंक, निवेश बैंक के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है । वित्तीय संस्थाओं में बैंकों के अतिरिक्त अन्य बैंकेतर वित्तीय संस्थायें भी आती हैं।

11.7 शब्दावली (Key Words)

1. बैंक (Bank): बैंक मुद्रा का व्यवसाय करने वाली संस्था है जो मुख्य रूप से जमा स्वीकार करने और ऋण देने का कार्य करती है ।

2. स्थायी जमा खाता (Fixed Deposit Account): यह वह खाता जाता है जिसमें रकम एक निश्चित अवधि के लिए जमा की जाती है ।

3. चालू खाता (Current Account): इस खाते में ग्राहक को कितनी भी बार धन जमा कराने व निकालने की सुविधा होती है । इस खाते में जमा राशि पर ब्याज नहीं मिलता ।

4. बचत खाता (Saving Account): यह अल्प व मध्यम आय वर्ग के लोगों द्वारा अपनी छोटी-छोटी बचतों को जमा करने के लिए खोला जाता हैं ।

5. नकद साख (Cash Credit): इसके अन्तर्गत बैंक ऋणी को एक निश्चित नकद रकम निकालने की सुविधा प्रदान करता है । इसमें ब्याज केवल निकाली गयी रकम पर ही लगता है ।

6. अधिविकर्ष (overdraft): बैंक, द्वारा अपने ग्राहक को उसके खाते में जमा शेष रकम से अधिक राशि निकालने की सुविधा को अधिविकर्ष कहते हैं । इस पर बैंक ब्याज वसूल करता है ।

7. अभिगोपन (Underwriting): औद्योगिक संस्थाओं द्वारा जारी अंश व ऋण-पत्रों के पूँजी बाजार में न बिकने पर उनके क्रय की गारण्टी देना अभिगोपन कहलाता है ।

8. केन्द्रीय बैंक (Central Bank): यह देश का शीर्ष बैंक है जो देश की मुद्रा एवं बैंकिंग व्यवस्था पर देश हित में नियंत्रण रखता है ।

9. व्यापारिक बैंक (Commercial Bank): यह उद्योग व व्यापार जगत की अल्पकालीन एवं मध्यकालीन वित्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वित्तीय संस्था है । सामान्यतया बैंक का अर्थ व्यापारिक बैंक से ही लगाया जाता है । ये धन जमा कराने तथा उधार देने के अलावा अन्य अनेक कार्य करते हैं ।

10. विकास बैंक (Development Bank): विकास वित्त प्रदान करने वाली संस्थाओं को विकास बैंक कहा जाता है । ये दीर्घकालीन ऋण प्रदान करने के अलावा पूँजी बाजार का विकास, उद्यमशीलता को प्रोत्साहन, परियोजना निर्माण परामर्श आदि प्रवर्तन कार्य करते हैं ।

11. विदेशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Bank): ये बैंक विदेशी मुद्राओं के लेन-देन का कार्य करते हैं और विदेशी व्यापार के वित्त पोषण में मददगार होते हैं ।

12. सहकार बैंक (Co- operative Bank): ये बैंक सहकारिता के सिद्धान्त के आधार पर व्यक्तियों के एक समूह द्वारा सामूहिक लाभ के लिए बनाये जाते हैं । ये बैंक व्यापारिक बैंकों की भाँति सभी साधारण बैंकिंग कार्य करते हैं ।

13. औद्योगिक बैंक (Industrial Bank): ये बैंक औद्योगिक संस्थाओं की मध्यमकालीन एव दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु बनाये जाते हैं ।

14. निवेश बैंक (Investment Bank): ये बैंक जनता से जमा एकत्रित कर उत्पादक कार्यो के लिए उद्योग एवं व्यापार जगत को ऋण प्रदान करते हैं ।

15. बैंकेतर वित्तीय संस्थाएँ (Non- Banking Financial Institutions): ये वे वित्तीय संस्थाएँ होती है जो एक निश्चित अवधि के लिए जनता से जमा स्वीकार करती है और व्यावसायिक संस्थाओं को सावधि ऋण प्रदान करती हैं । ये व्यापारिक बैंकों की भाँति साधारण बैंकिंग सेवायें भी प्रदान करती हैं ।

16. इकाई बैंकिंग (Unit Banking): वह बैंकिंग प्रणाली जिसमें बैंकिंग क्रियाएँ केवल एक कार्यालय द्वारा की जाती है अर्थात् बैंक की कोई शाखा नहीं होती है ।

17. शाखा बैंकिंग (Branch Banking): वह बैंकिंग प्रणाली जिसमें एक स्वामित्व और प्रबन्ध के अन्तर्गत दो या अधिक बैंकिंग इकाइयाँ एक संस्था के रूप में कार्य करती हैं अर्थात् बैंक की दो या अधिक शाखाएँ होती हैं ।

11.8 स्व-परख प्रश्न (Self Excercises)

लघु उत्तरात्मक प्रश्न (Short Answer Questions)

1. बैंक की परिभाषा दीजिए ।
2. केन्द्रीय बैंक का अर्थ स्पष्ट कीजिए ।

3. व्यापारिक बैंक से आप क्या समझते हैं?
4. विकास बैंक से आपका क्या तात्पर्य हैं?
5. बैंकेतर वित्तीय संस्थाओं को परिभाषित कीजिए ।
6. बैंक के प्राथमिक कार्य स्पष्ट कीजिए ।
7. नकद साख से आप क्या समझते हैं?
8. अधिविकर्ष का अर्थ स्पष्ट कीजिए ।
9. शाखा बैकिंग से आप क्या समझते हैं?
10. इकाई बैकिंग को परिभाषित कीजिए ।
11. सहकारी बैंक को परिभाषित कीजिये ।

निबन्धात्मक प्रश्न (Essay Type Questions)

1. बैंक के विभिन्न कार्यो का वर्णन कीजिए ।
2. बैंकों की आर्थिक विकास में भूमिका का विवेचन कीजिए ।
3. विकास बैंक का अर्थ स्पष्ट करते हुए उनके कार्यो पर प्रकाश डालिए ।
4. केन्द्रीय बैंक की परिभाषा दीजिए और बताइये कि यह कौन-कौन से कार्य सम्पन्न करता हैं
5. बैंक का अर्थ स्पष्ट करते हुए बैंको के विभिन्न प्रकारों का संक्षेप में वर्णन कीजिए ।

11.9 सन्दर्भ ग्रंथ/कुछ उपयोगी पुस्तकें (Reference Books)

1. आधारित अर्थशास्त्र एवं व्यावसायिक वातावरण : एमडी. अग्रवाल, महावीर बुक डिपो, दिल्ली
2. मुद्रा, बैकिंग एवं राजस्व : सिंह व गुप्ता, रमेश बुक डिपो, जयपुर ।
3. मुद्रा, बैकिंग एवं राजस्व : एम.एल. सेठ
4. मुद्रा, बैकिंग एवं राजस्व : एम.सी. वैश्य
5. बैंकिंग एवं वित्त : टंडन व माथुर, शिवम् बुक हाऊस, जयपुर ।

इकाई-12 भारत में बैंकिंग संरचना (Structure of Banking in India)

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 भारत में बैंकिग संरचना
12.3 भारतीय रिजर्व बैंक
12.4 भारतीय स्टेट बैंक
12.5 भारत में वाणिज्यिक बैंक का राष्ट्रीयकरण
12.6 भारत में वाणिज्यिक बैंकिग की आधुनिक प्रवृतियॉ
12.7 शब्दावली
12.8 स्व-बोध प्रश्न
12.9 उपयोगी पुस्तके

12.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात आप इस योग्य हो सकेंगें कि :-

- भारतीय बैकिंग संरचना के बारे में बता सकें ।
- भारतीय बैंकिंग संरचना के संगठित एवं असंगठित भाग का वर्णन कर सकें ।
- भारतीय रिजर्व बैंक के कार्यो एवं योगदान पर प्रकाश डाल सकें ।
- भारतीय स्टेट बैंक की स्थापना के उद्देश्य, कार्यो व उसकी प्रगति को स्पष्ट कर सकें ।
- भारत में वाणिज्यिक / व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के कारणों को समझ सकें ।
- भारत में बैंको के राष्ट्रीयकरण के पश्चात हुए बैंकिग विकास / परिवर्तन तथा बैंकों की समस्याओं को समझकर उनका विवेचन कर सकें ।

12.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आपको भारतीय बैंकिंग संरचना का अध्ययन करना है । भारतीय बैंकिंग प्रणाली संगठित एवं असंगठित दो भागों में बेटी हुई है । संगठित भाग में एक तरफ बैंक है, तो दूसरी तरफ दीर्घकालीन वित्तीय संस्थाऐं है । बैंकों गे वाणिज्यिक बैंक, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक तथा सहकारी बैंक सम्मिलित हैं । वाणिज्यिक बैंको के अन्तर्गत हम मुख्यत: भारतीय स्टेट बैंक तथा राष्ट्रीयकृत बैंकों का अध्ययन करेंगे । दीर्घकालीन वित्तीय संस्थाओं के अन्तर्गत हम भारत के विभिन्न क्षेत्रों के स्थापित विकास बैंकों को सम्मिलित करते है । अन्त में हम वाणिज्यिक बैंकों की आधुनिक प्रवृतियों के बारे में जान सकेंगे ।

12.2 भारत में बैंकिग संरचना (Structure of Banking in India)

भारत में बैंकिंग संरचना को मोटे तौर पर सात श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है जो इस प्रकार है:

(1) केन्द्रीय बैंक (Central Bank): भारत का केन्द्रीय बैंक भारतीय रिजर्व बैंक (Reserve Bank of India) है ।

(2) विकास बैंकिंग (Development Banking): इसके अन्तर्गत विकास हेतु दीर्घकालीन वित्त प्रदान करने वाली संस्थाएं आती है जो कम्पनियों की अंश पूंजी व ऋण पूंजी में निवेश करती है तथा पूंजी निर्गमनों का अभिगोपन करती है । भारत में विकास बैंकों के अन्तर्गत भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (IFCI), भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI), भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (SIDBI), भारतीय औद्योगिक साख एवं निवेश निगम (ICICI) तथा राज्य वित्त निगम (SFCS) सम्मिलित किये जाते हैं ।

(3) वाणिज्यिक / व्यापारिक बैंकिग (Commercial Banking): वाणिज्यिक बैंकिंग के अन्तर्गत वे सभी बैंक आते है जो उद्योग, व्यापार, कृषि, सेवा क्षेत्र तथा विदेशी व्यापार हेतु अल्पकालीन ऋण प्रदान करते है । भारत में वाणिज्यिक बैंकों को मुख्यत: तीन क्षेत्रों में बांटा जाता है: (i) सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक (ii) निजी क्षेत्र के बैंक तथा (iii) विदेशी बैंक । सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में भारतीय स्टेट बैंक तथा इसके सात सहायक बैंक तथा उन्नीस (19) राष्ट्रीयकृत बैंक आते है । निजी क्षेत्र के बैंकों में वे स्वदेशी बैंक आते है जिनका राष्ट्रीयकरण नहीं किया गया है जैसे राजस्थान बैंक । विदेशी बैंक वे बैंक है जो किसी दूसरे देश में पंजीकृत है तथा जिन्होनें भारत में अपनी शाखाएं खोल रखी है, जैसे बैंक ऑफ अमेरिका, ग्रिण्डलेज बैंक आदि ।

(4) सहकारी बैंकिंग (Co- operative Banking): सहकारिता के सिद्धान्तों / नियमों पर आधारित बैंक सहकारी बैंक कहलाते है । ये व्यापारिक बैंकों की भांति सामान्य बैंकिंग कारोबार करते है । भारत में सहकारी बैंकिंग का त्रि-स्तरीय ढांचा (Three- Tier Structure) है । ग्राम स्तर पर प्राथमिक सहकारी बैंक, जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैंक (शीर्ष बैंक) होते है । इसके अलावा औद्योगिक सहकारी बैंक, भूमि विकास बैंक तथा महिला सहकारी बैंक भी कार्यरत है । अब सहकारी बैंक नगरों में खोले जाने लगे है ।

(5) ग्रामीण बैंकिग (Rural Banking): ग्रामीण बैंक कृषि एवं ग्रामीण विकास के लिए वित्त प्रदान करते है । कृषि एवं ग्रामीण विकास को प्रोत्साहन देने के लिए इस क्षेत्र की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु भारत सरकार ने 1975 में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों (Regional Rural Banks) की स्थापना की, जिनकी संख्या अब 196 है और इनकी शाखाओं की संख्या जून, 2004 में 14507 थी । इनमें से 11978 शाखाएँ (82.6 प्रतिशत) ग्रामीण क्षेत्रों में थी । 1982 में राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (National Bank for Agriculture and Rural Development) की स्थापना की गयी जो ग्रामीण बैंकिंग का शीर्ष बैंक हैं । यह बैंक वाणिज्यिक बैंकों तथा क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को पुनर्वित्त सुविधा प्रदान करता हैं ताकि वे आपने स्तर पर कृषि व ग्रामीण विकास के लिए प्रत्यक्ष ऋण प्रदान कर सकें ।

(6) विदेशी व्यापार बैंकिग (Foreign Trade Banking): इसके अन्तर्गत निर्यात-आयात बैंक आता हैं जो विदेशी व्यापार के लिए वित्त की व्यवस्था करता है । भारत में 1982 में भारतीय निर्यात-आयात बैंक (Export -Import Bank of India) की स्थापना की गयी जो व्यापारिक बैंको के जरिए निर्यातकों व आयतकों को वित्त प्रदान करता है ।

(7) आवास बैंकिंग (Housing Banking): ये बैंक मकान बनाने, मकान की मरम्मत करने तथा मकान हेतु जमींन खरीदने के लिए वित्त सुलभ कराते हैं । भारत में वाणिज्यिक बैंकों तथा अन्य एजेन्सियों के माध्यम से आवास वित्त प्रदान करने के लिए एक शीर्ष बैंक के रूप में राष्ट्रीय आवास बैंक (National Housing Bank) की स्थापना की गयी है ।

12.3 भारतीय रिजर्व बैंक (Reserve Bank of India)

स्थापना (Establishment) : भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना "रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट, 1934" के अधीन की गयी । भारतीय रिजर्व बैंक ने केन्द्रीय बैंक के रूप में अपना कार्य विधिवत रूप में 1 अप्रैल 1935 से प्रारम्भ कर दिया । भारतीय रिजर्व बैक की स्थापना के निम्नांकित उद्देश्य थे:-

(1) देश में मुद्रा तथा साख का समुचित प्रबन्ध करना, (2) रूपये के आन्तरिक एवं बाह्य मूल्य में स्थिरता लाना, (3) देश में सुव्यवस्थित एवं संतुलित रूप से बैंकिग का विकास करना, (4) सुसंगठित मुद्रा बाजार का विकास करना, (5) कृषि साख की समुचित व्यवस्था करना, (6) सार्वजनिक ऋणों की व्यवस्था करना, (7) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग स्थापित करना, तथा (8) व्यापारिक बैंकों के नगद कोषों का केन्द्रीकरण करना ।

पूँजी एवं स्वामित्व (Capital and Ownership): भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना अंशधारियों के बैक के रूप में की गयी थी । इसकी अधिकृत तथा निर्गमित पूंजी 5 करोड़ रू. थी जो 100-100 रूपये के 5 लाख अंशों में विभाजित थी । 1 जनवरी, 1949 को भारतीय रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया । इस प्रकार तभी रिजव बैंक की समस्त पूंजी और स्वामित्व भारत सरकार के हाथों में आ गया है ।

भारतीय रिजर्व बैक का संगठन एवं प्रबन्ध (Organisation & Management)रिजर्व बैंक का संगठन एवं प्रबन्ध निम्नांकित तीन भागों में वर्गीकृत किया जाता है :-

(1) केन्द्रीय संचालक मण्डल (Central Board of Directors):रिजर्व बैंक के संगठन एवं प्रबन्ध व्यवस्था में सर्वोच्च स्थान हैं यह रिजर्व बैंक के प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी है । इसमें 20 संचालक होते है । इसका गठन निम्नांकित प्रकार से होता है:

(अ) एक गवर्नर : यह बैंक का सर्वोच्च अधिकारी होता हैं जिसकी नियुक्ति भारत सरकार द्वारा 5 वर्ष के लिए की जाती है । गवर्नर संचालक मण्डल का अध्यक्ष और बैंक का मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता है ।

(ब) चार डिप्टी गवर्नर : इनकी नियुक्ति भी 5 वर्ष के लिए भारत सरकार द्वारा की जाती है ।

गवर्नर और डिप्टी गवर्नर की पुनर्नियुक्ति हो सकती है ।

(स) पन्द्रह संचालक : 1 गवर्नर और 4 डिप्टी गवर्नर के अलावा केन्द्रीय संचालक मण्डल में 15 अन्य संचालक होते हैं । इनमें से 4 संचालक भारतीय रिजर्व बैंक के चारों स्थानीय मण्डलों (प्रत्येक से एक) द्वारा मनोनीत किये जाते है । शेष 10 संचालक और 1 सरकारी अधिकारी भारत सरकार द्वारा अलग से मनोनीत किये जाते हैं ।

(2) स्थानीय मण्डल (Local Boards):रिजर्व बैंक द्वारा 4 स्थानीय मण्डल कोलकता, मुम्बई, चेन्नई तथा नई दिल्ली में स्थापित किये गये है । प्रत्येक स्थानीय मण्डल में पाँच सदस्य होते है जो भारत सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते है।

(3) रिजर्व बैंक के कार्यालय (Office of RBI): बैंक का प्रधान कार्यालय मुम्बई में है । कोलकता, मुम्बई, चेन्नई तथा नई दिल्ली में बैंक के स्थानीय मण्डलों के कार्यालय है । इसके अलावा देश के प्रमुख नगरों में बैंक की शाखाएं है । जहाँ रिजर्व बैक की शाखाएं नही हैं, वहाँ भारतीय स्टेट बैंक (SBI) इसके अभिकर्ता के रूप में कार्य करता है ।रिजर्व बैंक ने अहमदाबाद, बंगलौर, हैदराबाद, भयखला (मुम्बई), गोहाटी, कानपुर नागपुर, जयपुर, पटना तथा त्रिवेन्द्रम में अपनी शाखाएँ खोल रखी है ।

रिजर्व बैंक के कार्य (Functionds of RBI):रिजर्व बैक देश का केन्द्रीय बैंक होने के नाते वे सभी कार्य करता है जो किसी केन्द्रीय बैंक द्वारा किये जाने आवश्यक हैं । भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम 1934 की प्रस्तावना के अनुसार, "इस बैंक का मुख्य कार्य बैंक नोटों के निर्गमन का नियमन करना तथा भारत में मौद्रिक स्थायित्व रखने हेतु कोषों को रखना व चलन तथा साख व्यवस्था का सामान्य राष्ट्रीय हित में संचालन करना है ।रिजर्व बैंक अग्रलिखित कार्य सम्पन्न करता है: -

1. **नोटों का निर्गमन** (Issue of Notes): भारत में रिजर्व बैंक नोट निर्गमन का एकाधिकार प्राप्त है । एक रूपये के नोट तथा सिक्कों को छोड़कर बाकी सभी प्रकार की पत्र मुद्रा (नोट)रिजर्व बैंक द्वारा ही निर्गमित की जाती है । भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा 24 के अनुसार रिजर्व बैंक 2,5,10,20,50,100,500,1000,5,000 तथा 10,000 रू. के नोट निर्गमित कर सकता हैं । वर्तमान में 2,5,10,20,50,100,500 तथा 1000 रू. के नोट चलन में है । बैंक अब 2,5,5,000 तथा 10,000 रू. के नोटों का निर्गमन नहीं करता है । बैंक द्वारा अभी तक सभी प्रकार के नोटों का निर्गमन किया जा चुका है । एक रूपये का नोट और सभी प्रकार के सिक्के भारत का वित्त मंत्रालय निकालता है । वर्तमान में रिजर्व बैंक द्वारा बैंकिग सिद्धान्त पर आधारित 'न्यूनतम कोष प्रणाली' (Minimum Reserve System) के आधार पर नोटों का निर्गमन किया जाता है । इसके अन्तर्गत नोट निर्गमन हेतु न्यूनतम 200 करोड़ रू. का कोष प्रतिभूति के रूप में रखना अनिवार्य है, जिसमें से कम से कम 115 करोड रू. मूल्य का स्वर्ण रखा जाना आवश्यक है । शेष 85 करोड़ रू. की विदेशी प्रतिभूति रखी जा सकती है जिसे रिजर्व बैंक भारत सरकार की पूर्व अनुमति से किसी भी सीमा तक घटा सकता है ।

2. **सरकार का बैंकर, अभिकर्ता एवं सलाहकार** (Banker,Agent and Adviser to the Govt.):रिजर्व बैंक केन्द्र व राज्य सरकारों के बैंकर के रूप में कार्य करता हैं । यह सरकार की जमाओं को अपने पास रखता है, किन्तु उस पर कोई ब्याज नही देता । सरकार के आदेशानुसार उस पर देय सभी भुगतान करता है तथा सरकार के लिए विदेशी विनिमय, मुद्रा हस्तान्तरण तथा सार्वजनिक ऋणों की व्यवस्था करता है और इन सब कार्यो के बदले सरकार से कोई शुल्क नही लेता है ।रिजर्व बैक सरकार के अभिकर्ता के रूप में वे सभी कार्य करता हैं जो एक बैंक अपने ग्राहक के लिए करता है ।रिजर्व बैंक सरकार को समय समय पर आर्थिक एवं वित्तीय मामलों पर विशेषज्ञ की हैसियत से सलाह / परामर्श देता है ।
3. **बैंको का बैंक एवं अन्तिम ऋणदाता** (Banker's Bank and Lender of the Last Resort): देश का शीर्ष बैंक होने के नाते रिजर्व बैक बैकों का बैक एवं अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य करता है । संकट के समय अथवा आवयश्कता पड़ने पर यह बैंको को ऋण उपलब्ध कराता है तथा अनुसूचित बैंको की प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों की कटौती अथवा पुनर्कटौती कर उन्हे अल्पकालीन ऋण प्रदान करता है । बैक कोषों पर नियत्रंण हेतु रिजर्व बैक नकद कोषानुपात (Cash Reserve Ratio) के रूप में सभी अनुसूचित बैंको से उनकी कुल जमाओं का 3 से 15 प्रतिशत के बीच में नगद राशि जमा के रूप में लेता है ।
4. **समाशोधन कार्य** (Clearing House Function): बैंको के आपसी लेन-देन के निपटारे हेतु रिजर्व बैंक द्वारा समाशोधन गृहों का संचालन किया जाता है । देश के प्रमुख 14 केन्द्रों पर रिजर्व बैंक स्वंय समाशोधन गृहों का प्रबन्ध देखता है और शेष अन्य केन्द्रों पर यह कार्य भारतीय स्टेट बैंक तथा उसके सात सहायक बैंकों के माध्यम से सम्पन्न किया जाता है ।
5. **विदेशी विनिमय नियमन** (Regulation of Foreign Exchange):रिजर्व बैंक देश के विदेशी विनिमय कोषों तथा बहुमूल्य धातु कोषों को अपने पास सुरक्षित रखता है, विनिमय दर स्थिरता हेतु विदेशी मुद्रओं का क्रय विक्रय करता हैं तथा सरकार के लिए विदेशी विनिमय की व्यवस्था करता है । विदेशी विनिमय के नियमन एंव नियत्रंण हेतु रिजर्व बैंक ने पृथक से विनिमय नियत्रंण विभाग की स्थापना कर रखी है ।
6. **बैंकिग प्रणाली का नियमन** (Regulation of Banking System): देश में सुदृढ़ बैंकिंग प्रणाली का विकास करना रिजर्व बैंक का एक प्रमुख कर्तव्य है । भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम, 1934 तथा भारतीय बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 के अन्तर्गत रिजर्व बैंक विभिन्न बैंको के कार्यकलापों के नियमन हेतु व्यापक अधिकार प्रदान किये गये है । इनके अन्तर्गत बैंकों की स्थापना से लेकर उसके विलियन एवं अवसायन तक के समस्त अधिकार रिजर्व बैंक के पास है ।रिजर्व बैंक रवे लाइसेंस लेकर ही किसी बैक की स्थापना की जा सकती है । बैक का प्रबन्ध एवं पूंजी ढांचा भी उक्त अधिनियमों के प्रावधानों के

अनुसार ही होना चाहिए । बैंको द्वारा शाखा विस्तार तथा शाखा के स्थान में परिवर्तन के लिए रिजर्व बैंक रिजर्व अनुमति लेना आवश्यक है ।

7. **साख नियत्रंण** (Credit Control): अर्थव्यवस्था की आवश्यकतानुसार साख की मात्रा का नियमन एवं नियत्रंण करना केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य हैं ।रिजर्व बैंक साख नियंत्रण के लिए विभिन्न मात्रात्मक एवं गुणात्मक विधियों का प्रयोग करता है जिससे देश में यात्रा की उपलब्धि को उसकी मांग के अनुसार समायोजित किया जा सके ।

2. अन्य कार्य (Other Function)

(i) आर्थिक समंको का एकत्रीकरण एवं प्रकाशन करना ।

(ii) बैंकिग शिक्षा तथा प्रशिक्षण उपलब्ध कराना- इस हेतु रिजर्व बैंक ने मुम्बई में ' 'बैकर्स ट्रेनिंग कॉलेज'', पूना में ' 'कॉलेज ऑफ एग्रीकल्चरल बैंकिंग' ' तथा चेन्नई में 'रिजर्व बैंक स्टाफ स्टॉक ट्रेनिंग कॉलेज' ' की स्थापना की है ।

(iii) 1982 में नाबार्ड (NABARD) की स्थापना से पूर्व रिजर्व बैंक कृषि साख से सम्बन्धित सभी कार्य करता था । नाबार्ड की स्थापना में भी इसकी आधी अंश पूंजी रिजर्व बैंक ने दी है ।

(iv) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI) की स्थापना के पूर्व रिजर्व बैंक अपने दो कोषों की सहायता से उद्योगों को वित्त उपलब्ध करवाता था । आई.डी.बी.आई. की स्थापना भी रिज़र्व बैंक के सहायक बैंक के रूप में हुई । इसके अलावा भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (IFCI) तथा राज्य वित्त निगमों (SFCs) में भी रिजर्व बैंक ने अंश पूंजी का विनियोजन किया है।

(v) रिजर्व बैंक देश के सभी बैंको के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर मुद्रा हस्तान्तरण का कार्य भी करता है । इसके अलावा यह मुद्रा परिवर्तन का भी कार्य करता है ।

(vi) रिजर्व बैक केन्द्र व राज्य सरकारों, संस्थाओ व व्यक्तियों से बिना ब्याज के निक्षेप स्वीकार करता है ।

(vii) रिजर्व बैक बहुमूल्य धातुओं का क्रय विक्रय, अन्तराष्ट्रीय संस्थाओं पर लेने देन तथा विकास वित्त की पूर्ति का भी कार्य करता है ।

भारतीय रिजर्व बैंक का भारत के आर्थिक विकास में योगदान / भूमिका

(Role of RBI in Economic Developement of India)

रिजर्व बैंक का भारत के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है । यह देश की मौद्रिक बैंकिग एवं साख नीति का निर्माता एवं संचालक है रिजर्व बैंक इन नीतियों में समय समय पर परिवर्तन कर देश के आर्थिक विकास को समुचित गति और उचित दिशा प्रदान करता है । भारत के आर्थिक विकास में रिजर्व बैक के योगदान को निम्नलिखित बिन्दुओं से समझा जा सकता हैं ।

1. **पत्र मुद्रा का निर्गमन एवं नियंत्रण** (Issue and Control of Money): रिजर्व बैंक देश की अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुरूप नोट निर्गमन करता है और विकास के लिए आवश्यक मात्रा में वित्त सुलभ कराता है । नोट निर्गमन पर रिजर्व बैंक को

एकाधिकार प्राप्त है जिससे. यह मुद्रा एवं साख की मात्रा को नियंत्रित करने का महत्वपूर्ण कार्य भी करता है।

2. **बैंकिंग एवं वित्तीय संस्थाओं का विकास** (Development of Banking and Financial institutions): रिजर्व बैंक ने अनेक बैंक एवं वित्तीय संरथाओं की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है । भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (IFCI), भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI), भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (ISDBI), भारतीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (NABARD) आदि की स्थापना में रिजर्व बैंक की महत्वपूर्ण भूमिका रही हैं । सहकारी बैंक तथा क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों (RRBS) की स्थापना और विकास में रिजर्व बैंक का उल्लेखनीय योगदान रहा है । ग्रामीण क्षेत्रों में बैंक शाखाओं का विस्तार तथा सामाजिक बैंकिग नीति के माध्यम द्वारा ग्रामीण साख का फैलाव करने में रिजर्व बैंक ने प्रशंसनीय कार्य किया है ।
3. **पूंजी निर्माण को प्रोत्साहन** (Encouragement of Foreign to Capital Formation) :रिज़र्वबैंक ने विभिन्न प्रकार की वित्तीय संस्थाओ का गठन कर तथा बैंको के शाखा विस्तार के माध्यम से देश में बिखरी बचतों को एकत्र कर पूंजी निर्माण को प्रोत्साहन दिया हैं । इसके अलावा रिजर्व बैंक ने देश में पूंजी बाजार के विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान किया है।
4. **विदेशी विनिमय कोषो का प्रबन्धन** (Management of Foreign Exchange Reserves): रिजर्व बैंक ने देश के दुर्लभ विदेशी विनिमय कोषों का उचित प्रबन्ध कर देश को विदेशी विनिमय संकट से बचाने का सफल प्रयत्न किया है । ब्याज दरों तथा विदेशी विनिमय दर पर उचित निगरानी एवं नियंत्रण रखकर न केवल देश में विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षण किया, बल्कि देश की विनिमय दर को भी अनावश्यक उच्चावन से मुक्त किया रखा हैं ।रिजर्व बैंक के सद्प्रयत्नों के फलस्वरूप ही आज देश में विदेशी मुद्राओं का भण्डार अपने रिकॉर्ड स्तर पर है ।
5. **सार्वजनिक ऋणों का प्रबन्धन** (Management of Public Debt): रिजर्व बैंक सरकार की आवश्यकताओं के अनुसार सार्वजनिक ऋणों का कुशल प्रबन्ध करता हैं । आवश्यकता पडने पर यह सरकार को अति-अल्पकालीन ऋण (Ways and means advances) भी प्रदान करता है ।
6. **सरकारी संस्थाओं का विकास** (Development of Co-operative Institutions): रिजर्व बैंक ने देश मे सहकारी बैकिंग का त्रि-स्तरीय ढांचा खड़ा करने और उसके विकास में प्रशंसनीय योगदान किया है । सहकारी बैंकिग के विकास के कारण संस्थागत साख बढी है और ग्रामीण जनता को महाजन और साहुकारों के शोषण तंत्र से मुक्ति मिली है।
7. **साख पर नियंत्रण** (Control on Credit): रिजर्व बैंक अपनी साख नीति के माध्यम से विभिन्न परिणात्मक एवं गुणात्मक विधियों के द्वारा मुद्रा एवं साख की मात्रा का नियमन एवं नियंत्रण करता है । इससे आर्थिक स्थिरता तथा आर्थिक विकास के दोहरे लक्ष्य को प्राप्त करने में मदद मिलती है ।

8. **तीव्र एवं संतुलित आर्थिक विकास** (Rapid and Balance Economic Development): रिजर्व बैंक की नीति और दबाव के कारण ही बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी शाखाएं खोलनी पड़ी जिससे बैंको की जमाओं तथा ऋणों का विस्तार हुआ । रिजर्व बैंक की नीति के कारण ही बैंको को प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों (कृषि, लघु व्यवसाय तथा कमजोर वर्गो) को एक निश्चित सीमा तक ऋण देना पड़ रहा हैं । इससे पिछड़े क्षेत्रों के विकास को गति मिली है ।
9. **वित्तीय संस्थाओं पर नियंत्रण** (Control on Financial Insitutions): रिजर्व बैंक देश की समस्त बैंकिग एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं पर निगरानी एवं नियंत्रण रखता है ताकि देश की बैंकिग एवं वित्तीय प्रणाली सुदृढ बनी रह सके । रिजर्व बैंक ने देश की बैंकिग व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है और अनेक बैकों को डूबने से बचाया है ।
10. **आर्थिक समंको का संग्रहण एवं प्रकाशन** (Collection and Publication of Economic):रिज़र्व बैंक की अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित आर्थिक एंव वित्तीय आकडों का एकत्रण एवं प्रकाशन करता हैं । रिजर्व बैंक, ' रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन' (मासिक) 'वार्षिक रिपोर्ट' 'स्टाफ पेपर्स' आदि का प्रकाशन करता है । इसके अलावा यह बैंक आर्थिक एवं तकनीकी परामर्श भी प्रदान करता है ।

12.4 भारतीय स्टेट बैंक (State Bank of India)

27 जनवरी, 1921 को भारत के तीन प्रेसीडेंसी बैंको को मिलाकर इम्पीरियल बैंक की स्थापना की गयी थी । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात अनेक कारणों से इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण की मांग उठने लगी । 1949 में रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण तथा ग्रामीण बैंकिग जांच समिति (1949)ए की रिपोर्ट ने आग में घी का काम किया ।

तत्पश्चात् प्रो0 ए.डी.गोरवाला की अध्यक्षता में गठित ''ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति' की सिफारिशों के आधार पर 16 अप्रेल 1955 को **"स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया विधेयक"** संसद में रखा गया तथा इसके पारित हो जाने के पश्चात 1 जुलाई 1955 को भारतीय स्टेट बैंक की विधिवत स्थापना हो गयी । स्टेट बैंक की स्थापना इम्पीरियल बैक के राष्ट्रीयकरण करके तथा 8 अन्य बैंकों को इसके सहायक बैंक बनाकर की गयी । बाद में स्टेट बैंक ऑफ बीकानेर तथा स्टेट बैंक ऑफ जयपुर को मिलाकर स्टेट बैक ऑफ बीकानेर एण्ड जयपुर बनाने से सहायक बैंकों की संख्या घटकर 7 ही रह गयी । स्टेट बैंक के सहायक बैंक (Subsidiary Banks) अग्रांकित है (1) स्टेट बैंक ऑफ इन्दौर (2)स्टेट बैंक ऑफ हैदराबाद (3) स्टेट बैंक ऑफ मैसूर (4) स्टेट बैंक ऑफ पटियाला (5)स्टेट बैंक ऑफ सौराष्ट्र (6) स्टेट बैंक ऑफ ट्रावनकोर तथा (7) स्टेट बैंक ऑफ बीकानेर एण्ड जयपुर । 26 अगस्त, 1985 को भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक के निर्णयानुसार बैंक ऑफ कोचीन लिमिटेड का भी उसकी 108 शाखाओं सहित भारतीय स्टेट बैंक में विलय कर दिया गया है ।

भारतीय स्टेट बैंक की स्थापना के उद्देश्य (Objectives of the Establishment of S.B.I)

भारतीय स्टेट बैंक की स्थापना के निम्नांकित उद्देश्य थे :-

1. सार्वजनिक क्षेत्र में एक सुदृढ़ एवं शाक्तिशाली बैंक की स्थापना करना ।
2. देश के ग्रामीण क्षेत्रों में सस्ती एवं सुलभ कृषि साख की व्यवस्था करना ।
3. देश के ग्रामीण एवं अर्द्धनगरीय क्षेत्रों में बैंकिग सुविधाओं का तेजी से विस्तार करना ।
4. लघु एवं कुटीर उद्योगों को पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सहायता उपलब्ध कराना तथा उनके विकास में सहायता करना।
5. लघु व्यवसायियों तथा निर्यातकों को ऋण अथवा वित्तीय सहायता सुलभ कराना ।
6. ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग आदत तथा बचतों को प्रोत्साहित कर आर्थिक विकास के लिये गतिशील बनाना ।
7. सहकारी संस्थाओं के विकास एवं भण्डार गृहों के निर्माण में आर्थिक सहायता देना ।
8. बैंकिंग विकास हेतु सहकारी तथा अन्य बैंको को धनप्रेषण सुविधाएं उपलब्ध कराना तथा
9. अर्थव्यवस्था के निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु तथा मौद्रिक नीति को प्रभावी बनाने की दृष्टि से रिजर्व बैंक तथा भारत सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण में कार्य कर उन्हें सक्रिय सहयोग देना ।

भारतीय स्टेट बैंक के कार्य (Function of State Bank of India)

भारतीय स्टेट बैक के प्रमुख कार्य निम्नांकित है :-

I व्यापारिक बैंकिग कार्य (Commercial Banking Functions)

1. **जमाएं स्वीकार करना** (Acceptance of Deposits): स्टेट बैंक अन्य व्यापारिक बैंकों की भांति सामान्य जनता से विभिन्न प्रकार के खातों में जमाऐं स्वीकार करता है ।
2. **ऋण एवं अग्रिम प्रदान करना** (Granting Loans and Advance): अन्य व्यापारिक बैंको की भांति स्टेट बैंक कृषि, उद्योग एवं व्यापारिक गतिविधियों हेतु ऋण एवं अग्रिम प्रदान करता है । यह माल के अधिकार-पत्रों, सरकारी प्रतिभूतियों तथा अन्य स्वीकृत विनिमय-विपत्रों की जमानत पर भी ऋण देता है ।
3. **विनियोग करना** (Investment): आय कमाने की दृष्टि से स्टेट बैंक अपने अतिरिक्त कोषों को सरकारी प्रतिभूतियों, प्रथम श्रेणी की अन्य प्रतिभूतियों तथा कोषागार-बिलों में विनियोजित करता है ।
4. **ऐजेन्सी कार्य** (Agency Functions): स्टेट बैंक अन्य व्यापारिक बैंको की भांति अपने ग्राहको के लिये अनेक प्रकार के एजेन्सी कार्य करता है । यह ग्राहकों के एजेन्ट के रूप में उनकी ओर से भुगतान प्राप्त करने, विनिमय-विपत्रों को भुनाने एवं उनकी राशि एकत्रित करने, बिलों तथा हुण्डियों की कटौती करने, स्थायी आदेशों का पालनकरने यात्री चैक जारी करने, लॉकर्स की सुविधाएं उपलब्ध कराने, कमीशन एजेन्ट, प्रन्यासी के रूप मे कार्य करने, परामर्श आदि देने का कार्य भी करता है ।

II केन्द्रीय बैंकिग कार्य (Central Banking Functions):

स्टेट बैंक, रिजर्व बैंक का अधिकृत प्रतिनिधि है इसलिये यह उन स्थानों पर जहां रिजर्व बैंक के कार्यालय नहीं है, वहां देश के केन्द्रीय बैंक के प्रतिनिधि (Agent) के रूप में निम्नांकित कार्य करता है

1. **सरकारी बैंकर** (Govt. Banker): स्टेट बैंक सरकारी बैंकर के रूप में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की आय जमा करता है तथा उनके आदेशानुसार भुगतान भी करता है । यह सरकार के लिये ऋणों का प्रबन्धन भी करता है।
2. **बैंको का बैंक** (Banker's Bank): यह बैंक व्यापरिक बैंकों के बैंक के रूप में उनकी जमाएं स्वीकार करता है, उनके बिलों की पुन: कटौती कर आवश्यक वित्तीय सहायता प्रदान करता है तथा उन्हे धन प्रेषण की सस्ती सुविधा भी प्रदान करता है ।
3. **समाशोधन गृह कार्य** (Clearing House Function) स्टेट बैंक रिजर्व बैंक की तरफ से वित्तीय लेन-देनों के शीघ्र निपटारे हेतु समाशोधन गृहों की व्यवस्था करता है ।

III कृषि साख विस्तार (Expansion of Agriculture Credit): स्टेट बैंक का एक प्रमुख कार्य ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि साख की व्यवस्था एवं विस्तार करना हैं । बैंक यह कार्य प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष ऋण प्रदान करके करता है । स्टेट बैंक पर कृषि साख का दायित्व इसके आकार की विशालता तथा कार्यकुशलता को ध्यान में रखकर डाला गया है ।

IV अन्य कार्य (Other Functions)

1. स्वर्ण एवं रजत का क्रय-विक्रय करना ।
2. विदेशी मुद्राओं का लेन-देन करना ।
3. सभी प्रकार की देशी एवं विदेशी बिलों को स्वीकार करना (कृषि बिलों सहित)
4. अंश पूंजी एवं ऋण पूंजी के अभिगोपन का कार्य करना ।
5. पंजीकृत सहकारी बैंक के अभिकर्ता के रूप में कार्य करना ।
6. बैंकिंग कम्पनियों के निस्तारक के रूप में कार्य करना ।
7. ग्राहकों के लिये साख पत्र निर्गमित करना ।
8. अन्य कोई कार्य जिसे भारत सरकार, रिजर्व बैंक तथा बैंक का केन्द्रीय संचालक मण्डल करने की आज्ञा प्रदान करते है।

भारतीय स्टेंट बैंक की सफलताएं / उपलब्धियां (Success and Achievement of State Bank of India)

स्टेट बैंक की स्थापना को 50 वर्ष पूरे हो चुके है । बैंक ने अपनी इस लम्बी विकास यात्रा के दौरान अनेक उल्लेखनीय उपलब्धियां अर्जित की है । इसने अपनी सार्थकता इसके अधिकांश उद्देश्यों को पूरा करके सिद्ध की है । स्टेट बैंक की कुछ अति-महत्वपूर्ण उपलव्यियों का वर्णन इस प्रकार है:-

1. **एक शक्तिशाली एवं सुदृढ़ राष्ट्रीय बैंक** (A Strong National Bank): स्टेट बैंक की स्थापना का एक प्रमुख उद्देश्य देश में एक ऐसे शक्तिशाली एवं सुदृढ बैंक की स्थापना करना था जिसकी शाखाएं सम्पूर्ण देश में फैली हुई हो । स्टेट बैंक अपनी स्थापना के इस उद्देश्य को प्राप्त करने मे पूरी तरह सफल रहा है । स्टेट बैंक देश के सभी व्यापारिक बैंको की तुलना मे आज सबसे बडा, शक्तिशाली और सुदृढ़ सार्वजनिक क्षेत्र का बैंक है, जिसकी शाखाएं देश के कौन-कौने में फैली है । स्टेट बैंक जमा पूंजी तथा शाखाओं, दोनो ही दृष्टि से देश का सबसे बड़ा बैंक है ।

2. **शाखा विस्तार** (Branch Expansion): स्टेट बैंक की स्थापना का एक अन्य प्रमुख उद्देश्य देश के ग्रामीण एवं गैर-बैंक क्षेत्रों में अधिक से अधिक शाखा खोलकर ग्रामीण एवं अर्द्ध-नगरीय क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का विकास एवं विस्तार करना था । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये स्टेट बैंक अधिनियम की धारा-16 (5) में यह प्रावधान किया गया कि बैंक अपनी स्थापना के प्रथम पांच वर्षो में कम से कम 400 नई शाखाएं खोलेगा तथा इनमें से अधिकांश शाखाएं ग्रामीण क्षेत्रों में खोली जायेगी । बैंक ने इस लक्ष्य की पूर्ति निर्धारित अवधि से एक माह पूर्व ही 1 जून 1960 को 400वीं शाखा खोलकर कर ली थी ।

   शाखा विस्तार का दूसरा चरण **प्रो. कर्वे समिति** के सुझावों में परिवर्तन करके किया । इस चरण की अन्तिम तिथि 30 जून, 1965 तक स्टेट बैंक ने 114 तथा सहायक बैंको ने 119 शाखाएं खोली । इसके पश्चात् शाखा विस्तार का कार्यक्रम निरन्तर रूप से चल रहा है । शाखाओं की संख्या की दृष्टि से स्टेट बैक भारत का ही नहीं, विश्व का सबसे बड़ा बैंक है । 31 मार्च, 2005 तक स्टेट बैक की शाखाओं की कुल संख्या 9156 थी । स्टेट बैंक ने अपनी स्थापना से लेकर अब तक अपनी शाखाओं की संख्या में 20 गुणा से भी अधिक वृद्धि की है ।

   ग्रामीण एवं अर्द्ध-नगरीय शाखाएं (Rural and Semi-Urban Branches): स्टेट बैंक द्वारा अपनी अब तक खोली गयी शाखाओं का लगभग 78 प्रतिशत भाग ग्रामीण एवं अर्द्धनगरीय क्षेत्रों में है । बैंक की कुल शाखाओं का लगभग या प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रो में तथा 31 प्रतिशत अर्द्ध-नगरीय क्षेत्रों में है । इससे यह सुस्पष्ट है कि बैंक ने अपनी शाखा विस्तार नीति में ग्रामीण एवं अर्द्ध -नगरीय क्षेत्रों को प्राथमिकता प्रदान की हैं और इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग के विकास एवं विस्तार का महत्वपूर्ण उद्देश्य पूरा कर लिया है ।

3. **जमा राशि में वृद्धि** (Increase in Deposits): स्टेट बैंक तथा इसके सहयोगी बैंको के निक्षेपों में अप्रत्याशित एवं आशातीत वृद्धि हुई है । जहां 1955 में बैंक स्थापना के समय इसकी कुल जमा राशि मात्र 202 करोड़ रूपये थी, वह 31 मार्च, 1998 तक बढ़कर 131,091 करोड़ रूपये हो गयी अर्थात लगभग 500 गुना से अधिक वृद्धि हो गयी । यह अपने आप में अकल्पनीय है । 31 मार्च, 2005 को बैंक की कुल जमा राशि 367,048 करोड़ रूपये थी । स्टेट बैंक समूह की कुल जमा राशि देश के सभी अनुसूचित वाणिज्यिक बैंको की कुल जमा राशि का लगभग 29 प्रतिशत है । बैंक की जमाओं में वृद्धि का मुख्य कारण बैंक की शाखा विस्तार नीति, ग्रामीण एवं अर्द्ध-नगरीय क्षेत्रों में बैंकिंग विकास, सरकारी जमाएं तथा अनेक आकर्षक जमा योजनाएं रहा है ।

1. **ऋणों एवं अग्रिमों में वृद्धि** (Increase in Loans and Advances): स्टेट बैंक द्वारा दिये गये ऋणों एवं अग्रिमों की मात्रा में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है । जून 1955 में बैंक द्वारा प्रदत्त ऋणों एवं अग्रिमों की कुल राशि मात्र 110 करोड़ रूपये थी जो मार्च, 1997 में बढ़कर 55,023 करोड रूपये हो गयी अर्थात 42 वर्षो में बढ़कर लगभग 500 गुणा हो गयी । बैक की कुल ऋण राशि मार्च, 2005 में बढ़कर 20,2375 करोड रूपये हो गयी है । यहां यह स्पष्ट करना अत्यंत महत्वपूर्ण है कि बैंक के कुल ऋणों में लगभग 42 प्रतिशत ऋण प्राथमिकता प्राप्त बैंकों को प्रदान किये गये है । इसी प्रकार कृषि क्षेत्र को प्रदान किये गये ऋणों का हिस्सा

जो 1955 में बैंक के कुल ऋणों का मात्र 4 प्रतिशत था, वह अब बढ़कर लगभग 16 प्रतिशत हो गया है ।

12.5 भारत में वाणिज्यिक बैंक का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Commercial Banks in India) :

भारत में वाणिज्यिक बैंको के राष्ट्रीयकरण की मांग के चलते 1 जनवरी, 1969 को वाणिज्यिक बैंको पर सामाजिक नियंत्रण की योजना लागू की गयी और बाद में 19 जुलाई 1969 को उन 14 निजी वाणिज्यिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया जिनकी जमा राशि 50 करोड़ रूपये या इससे अधिक थी । यह बैंको के राष्ट्रीयकरण का प्रथम चरण था । 15 अप्रैल, 1980 को भारत सरकार ने एक अध्यादेश के द्वारा उन 6 निजी बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया जिनकी कुल जमा राशि 14 मार्च, 1980 को 200 करोड़ रूपये या इससे अधिक थी । यह बैंको के राष्ट्रीयकरण का द्वितीय चरण था । इस प्रकार राष्ट्रीयकरण के दोनो चरणों में कुल मिलाकर 20 बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया । न्यू बैंक आफ इण्डिया (जिसका राष्ट्रीयकरण दूसरे चरण में किया गया था) को बाद में चलकर उसकी कमजोर वित्तीय स्थिति के कारण पंजाब नेशनल बैक में मिला दिया गया । इस प्रकार वर्तमान में राष्ट्रीयकृत बैंको की संख्या घट कर 19 रह गयी है ।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के कारण (Reason for Nationalisation):

भारत में 14 बड़े निजी वाणिज्यिक बैंको का राष्ट्रीयकरण निम्नांकित कारणों की वजह से किया गया :-

1. बैंको की कार्य कुशलता में वृद्धि करना ।
2. बैंको के साधनों व लाभों का जनहित में उपयोग करना ।
3. बैंको की साख का व्यापक सामाजिक विकास में उपयोग करना ।
4. ग्रामीण तथा अर्द्ध-नगरीय क्षेत्रों में बैंकिंग का विकास करना ।
5. कृषि एवं लघु उद्योग क्षेत्र व अन्य व्यवसाय को आसान शर्तो पर साख उपलब्ध कराना तथा कमजोर एवं पिछडे वर्ग को साख सुविधा उपलब्ध कराना ।
6. आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना । तथा
7. समाजवादी समाज की स्थापना करना ।

12.6 भारत में वाणिज्यिक बैंकिग की आधुनिक प्रवृतियॉ (Recent Trends of Commercial Banks in India)

19 जुलाई, 1969 को 14 वाणिज्यिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के पश्चात भारतीय बैंकिंग परिदृश्य में व्यापक- एवं दूरगामी परिवर्तन हुये है । ये परिवर्तन न केवल बहुआयामी, संरचनात्मक एवं अवधारणात्मक है, वरन् संख्यात्मक एवं गुणात्मक भी है । इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप भारतीय बैंकिंग नगरोन्मुखी से ग्रामोन्मुखी, विशिष्ट वर्गोन्मुखी से सर्वजनोन्मुखी, हैसियतोन्मुखी से उद्देश्यन्मुखी, व्यापारोन्मुखी से समाजोन्मुखी तथा थोक बैंकिंग से फुटकर

बैंकिंग बन गयी है । वैश्वीकरण के वर्तमान युग में वाणिज्यिक और विकास बैंकिंग के अन्तर की दीवार ढ़ह गयी हैं और इन दोनों को मिलाकर एक नई बैंकिंग का जन्म हुआ है जिसे सार्वजनिक बैंकिंग (Universal Banking) के नाम से जाना जाता है । स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा आई.सी.आई.सी.आई. बैंक इसके ज्वलन्त उदाहरण है ।

बैंको के राष्ट्रीयकरण के पश्चात भारत की वाणिज्यिक बैंकिंग की प्रमुख अधुनातन प्रवृतियों का वर्णन निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :-

1. **सार्वजनिक क्षेत्र में बैंकिंग का विस्तार** (Expansion of Public) **:** स्वतंत्रता के पश्चात सर्वप्रथम 1948 में रिजर्व बैंक का तथा 1955 में इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण तथा 8 अन्य बैंको को मिलाकर स्टेट बैंक की स्थापना की गयी । तत्पश्चात 19 जुलाई, 1969 को 14 बड़े वाणिज्यिक बैंको का और 15 अप्रैल, 1980 को 6 अन्य बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया । वाणिज्यिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के कारण राष्ट्रीयकृत बैंको की संख्या 20 हो गयी । वर्तमान में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की संख्या 27 (19 राष्ट्रीयकृत बैंक, 1 स्टेट बैंक तथा 7 सहायक बैंक) है । इस प्रकार बैंको के राष्ट्रीयकरण के कारण देश में सार्वजनिक क्षेत्र की बैंकिंग का अभूतपूर्व विस्तार हुआ है ।1991 में अपनायी गयी नवीन आर्थिक नीति के पूर्व देश के कुल बैंकिग व्यवसाय का 90 प्रतिशत से अधिक भाग सार्वजनिक क्षेत्र की बैंकिंग परिधि में था ।
2. **बैंकों का निजीकरण तथा आर्थिक उदारीकरण** (Privatisation and Economic Liberalisation) : 1991 में अपनायी गयी उदारीकरण, निजीकरण तथा वैश्वीकरण की नीतियों के कारण भारत में निजी बैंकों की स्थापना, विदेशी बैंको की शाखाओं में वृद्धि तथा बैंकों की अंश पूंजी में निजी संस्थानों तथा जनता की सहभागिता की अनुमति का युगान्तकारी परिवर्तन हुआ है । ये परिवर्तन वित्तीय सुधारों की श्रेणी में रखे जाते है ।

   सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक अपनी अंश पूंजी निजी संस्थानों तथा जनता को बेचने लगें है जिसके कारण बैंको में निजीकरण की प्रवृति को बल मिला है । वर्तमान में देश में कुल 295 बैंक हैं जिनमें 32 बैंक निजी क्षेत्र में है तथा 36 विदेशी बैंक है ।
3. **शाखा विस्तार** (Branch Expansion) : 14 बड़े वाणिज्यिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के पश्चात बैंको के शाखा विस्तार में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है । बैंकों के राष्ट्रीयकरण के समय (जून,1969) जहां वाणिज्यिक बैंको की शाखाओं की कुल संख्या 8262 थी, वह जून, 2004 में बढ़कर 67,283 हो गयी । इससे यह सुस्पष्ट है कि विगत 35 वर्षो में 59,021 शाखाओं की वृद्धि हुई । इन शाखाओं में से 32,178 ग्रामीण शाखाएं है जो कुल बैंक शाखाओ का 47.8 प्रतिशत है । अब देश में बैंक शाखाओं की कुल संख्या 68,000 के आकड़े को पार कर गयी है । अभूतपूर्व शाखा विस्तार के परिणामस्वरूप जहां राष्ट्रीयकरण के समय प्रति 65,000 जनसंख्या पर एक बैंक शाखा थी, वहां अब देश में प्रति 15,000 जनसंख्या पर एक बैंक शाखा हो गयी है । बैकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात बैको की ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाओं का अनुपात काफी बढ़ा है । जून, 1969 में ग्रामीण क्षेत्रों में कुल शाखाओं अनुपात मात्र 224 प्रतिशत था, वह

जून, 2004 में बढकर 478 प्रतिशत हो गया है । इसके परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का काफी तेजी से विस्तार हुआ है ।

4. **निक्षेपों में वृद्धि** (Increase in Deposits) : बैंको के राष्ट्रीयकरण तथा उसके कारण शाखा विस्तार के फलस्वरूप वाणिज्यिक बैंकों के निक्षेपों में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है । जून, 1969 में इन बैंको की कुल जमा राशि जो मात्र 4645 करोड़ रूपये थी, वह दिसम्बर 2004 में बढ़कर 16,22,579 करोड़ रूपये हो गयी है । यह भारत में बैंकिंग के सुदृढ़ विकास का परिचायक है । वर्तमान में बैंक निक्षेप 20,00,000 करोड़ रूपये से भी अधिक होने का अनुमान है ।
5. **ऋणों एवं अग्रिमों में वृद्धि** (Increase in Loans and Advances) : बैंको की जमाओं में भारी वृद्धि तथा बैंको की साख नीति में परिवर्तन के फलस्वरूप इनके द्वारा प्रदत्त ऋणों एवं अग्रिमों की राशि में भारी वृद्धि हुई है । जून, 1969 में बैंको की कुल ऋण एवं अग्रिम राशि जो मात्र 3897 करोड़ रूपये थी, वह दिसम्बर, 2004 में बढ़कर 10,27,009 करोड़ रूपये हो गयी है । वर्तमान में यह राशि बढ़कर 15,00,000 करोड़ रूपये से अधिक होने का अनुमान है ।
6. **प्राथमिक एवं उपेक्षित क्षेत्रों को अधिक साख सुविधा** (Incresased Credit Facilities to Priority and Neglected Sectors) : बैंको के राष्ट्रीयकरण के पश्चात व्यापारिक बैंको की साख नीति मे आमूलचूल परिवर्तन हुआ हैं जिसके परिणामस्वरूप बैंको को अर्थव्यवस्था के प्राथमिक एवं उपेक्षित क्षेत्रों को पहले से कही अधिक ऋण प्रदान करना पड़ रहा है । भारत सरकार और रिजर्व बैंक के दिशा निर्देशानुसार अब प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपनी कुल ऋण राशि का कम से कम 40 प्रतिशत भाग प्राथमिक प्राप्त क्षेत्रों को देना आवश्यक है । इसी प्रकार बैंकों को अपने कुल अग्रिमों का कम से कम 18 प्रतिशत भाग कृषि क्षेत्र को देना बाध्यकारी है । 1969 में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के समय लघु उद्योंगों एवं कृषि को कुल ऋणों का क्रमश: मात्र 4 प्रतिशत तथा 0.2 प्रतिशत भाग ही प्राप्त होता था और निर्यात साख भी नाम मात्र की थी । लेकिन अब स्थिति में काफी सुधार हो गया है ।

   बैंक अपने निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के लिये निरंतर प्रयत्नशील है जिसके परिणामस्वरूप बैंको के कुल ऋणों में कृषि ऋणों का हिस्सा जो 1969 में मात्र 0.2 प्रतिशत था, वह अब बढ़कर लगभग 18 प्रतिशत हो गया है।

   इसी प्रकार बैंको द्वारा जहां जून, 1969 में अपनी कुल ऋण राशि में प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों को 14 प्रतिशत भाग ही ऋण के रूप में दिया जाता था, वह अब बढ़कर लगभग 42 प्रतिशत हो गया है । मार्च, 2003 मे अंत में कृषि, लघु उद्योग तथा अन्य प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों की बकाया ऋण राशि क्रमश: 73,507 करोड़ रूपये, 52,988 करोड़ रूपये 71,448 करोड़ रूपये (प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्र का कुल योग 1,97,943 करोड़ रूपये) थी जो बैंक के राष्ट्रीयकरण के समय की राशि से कई गुणा अधिक है । उक्त क्षेत्रों में प्रदत्त ऋण सुविधाओं का लाभ समाज के उन वर्गो को मिला है जो अब तक इस सुविधा से वंचित थे ।
7. **निक्षेपों की संरचना में परिवर्तन** (Change in the Structure of Deposits) राष्ट्रीयकरण के पश्चात न केवल बैंको के निक्षेपों में भारी वृद्धि हुई है, वरन् उनकी बनावट में भी भारी

परिवर्तन आया है । बैंको की मांग जमा (Demand Deposits) तथा समायावधि जमा में ब्याज दर अधिक मिलने के कारण अधिक अभिरूचि रखते है ।

8. **नवोन्मेष बैंकिग** (Innovative Banking): बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंको के सोच नीति-रीति तथा कार्यशैली में अभिनव एवं अनुपम परिवर्तन हु ये है, जिन्हें नवोन्मेष बैंकिग की संज्ञा दी जाती है । इस बैंकिग के अन्तर्गत समाज के शोषित, उपेक्षित, गरीब एवं दलित तबके के लोगो को आसान शर्तो पर साख सुविधा उपलब्ध करवाने के लिये नई-नई योजनाएं प्रारम्भ की जाती रही है । नवीन आर्थिक नीतियों के चलते अब तक इस प्रकार की बैंकिंग का प्रभाव कम होने लगा हैं । लेकिन बैंको ने अपने करोबार को आज के युग की मांग के सन्दर्भ में नया रूप देने का प्रयास किया है जिसके चलते ग्राहकों को अनेक नवीन सुविधाएं उपलब्ध होने लगी है । बैंक अब क्रेडिट कार्ड, डेबिट कार्ड, व्यक्तिगत ऋण, उपभोक्ता ऋण, ए.टी.एम. सुविधा, टेली बैंकिग, एनीव्हेयर बैंकिंग, मर्चेन्ट बैंकिग आदि की सुविधा उपलब्ध करवा रहे है । बैंक अब बीमा व्यवसाय के क्षेत्र में भी प्रवेश कर चुका है । रिटेल बैंकिग पर आज सभी बैंक विशेष ध्यान दे रहे है । बैंक अपनी सभी शाखाओं का कम्प्यूटीकरण तेजी के साथ कर रहे है ।

9. **अग्रणी बैक योजना** (Lead Bank Scheme): इस योजना का श्रीगणेश नरीमन समिति की अनुशंषा के आधार पर 1969 में किया गया । इसके अन्तर्गत प्रत्येक बैंक को एक या एक से अधिक जिलों में बैंकिग विकास तथा आर्थिक विकास एवं सुविधाओं का अग्रणी बैंक योजना के अन्तर्गत सम्मिलित किया जा चुका है । योजना के प्रारम्भ में देश के 335 जिलों को 17 बैंको के मध्य विभाजित कर उन्हें अग्रणी बैंक घोषित किया गया । अग्रणी बैंक योजना के अन्तर्गत लगभग 31,000 शाखाएं रहित क्षेत्रों में खाली गयी है, ताकि वहां समग्र विकास का मार्ग प्रशस्त हो सके ।

12.7 शब्दावली

1. **केन्द्रीय बैंक:** केन्द्रीय बैंक देश की बैंकिंग संरचना में शीर्ष बैंक होता है जो मुद्रा, साख एव बैंकिग व्यवस्था का नियामक एवं नीति निर्धारणकर्ता होता है ।
2. **विकास बैंकिंग:** इसके अन्तर्गत विकास हेतु दीर्घकालीन वित्त उपलब्ध करवाने वाली वित्तीय संस्थाओं को सम्मिलित किया जाता है । ये संस्थाएं कम्पनियों की अंश पूंजी व ऋण पूंजी में निवेश करने के अलावा उनका अभिगोपन कार्य भी करती है ।
3. **वाणिज्यिक बैंकिग:** इसके अन्तर्गत वे सभी बैंक आते है जो विभिन्न व्यापारिक एवं वाणिज्यिक कार्यो के लिये अल्पकालीन ऋण प्रदान करते है । इसके अलावा ये बैंक कृषि तथा अन्य कार्यो के लिये भी क्या प्रदान करते है ।
4. **सहकारी बैंकिग:** इसके अन्तर्गत उन बैंको को सम्मिलित किया जाता है जो सहकारी सिद्धान्तों के आधार पर संचालित होते है और सामान्य बैंकिग कारोबार करते है ।
5. **विदेश व्यापार बैंकिग:** इसके अन्तर्गत उन बैंको को सम्मिलित किया जाता है जो विदेशी व्यापार के लिये वित्त उपलब्ध करावाते है ।

6. **आवास बैंकिग:** इसके अन्तर्गत उन बैंको को सम्मिलित किया जाता है जो मुख्यत: आवास निर्माण हेतु ऋण सुलभ कराते है ।
7. **ग्रामीण बैंकिग:** इसके अन्तर्गत उन बैंको को सम्मिलित किया जाता है जो कृषि एवं ग्रामीण विकास हेतु ऋण प्रदान करते है ।
8. **अन्तिम ऋण दाता:** केन्द्रीय बैंक वाणिज्यिक बैंको को संकट के समय ऋण प्रदान करता है इसलिये इसे अंतिम ऋणदाता कहते है ।
9. **अग्रणी बैक योजना:** इस योजना के अन्तर्गत किसी बैंक को एक जिले का अग्रणी बैंक मनोनीत किया जाता हैं जिसका उत्तरदायित्व उस जिले में संतुलित बैंकिग विकास के साथ-साथ समग्र विकास को प्रोत्साहन देना होता है ।

12.8 स्व-बोध प्रश्न

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. केन्द्रीय बैंक की परिभाषा दीजिए ।
2. विकास बैंकिंग का अर्थ स्पष्ट कीजिए ।
3. वाणिज्यिक / व्यापारिक बैंकिंग को परिभाषित कीजिए ।
4. भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना क्यों की गयी?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में बैंकिंग संरचना पर प्रकाश डालिये ।
2. भारतीय रिजर्व बैंक के कार्यो का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए ।
3. देश के आर्थिक विकास में रिजर्व बैंक की भूमिका का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए ।
4. भारतीय स्टेट बैंक पर एक विस्तृत टिप्पणी लिखिये ।
5. भारत में बैंकिंग की आधुनिक प्रवृतियों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालिये ।

12.9 उपयोगी पुस्तके

1. मुद्रा, बैंकिंग एवं राजस्व : सिंह व गुप्ता, रमेश बुक डिपो, जयपुर ।
2. मुद्रा, बैंकिंग एवं राजस्व : एम.एल. सेठ
3. मुद्रा, बैंकिंग एवं राजस्व : एम.सी. वैश्य
4. बैंकिंग एवं वित्त : टंडन व माथुर, शिवम् बुक हाउस, जयपुर ।

इकाई 13 बीमा : एक समान्य अध्ययन

प्रस्तावना एव उद्देश्य -

बीमा आधुनिक जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है । आधुनिक समाज का प्रत्येक विवेकशील प्राणी जीवन की अनिश्चितताओं एवं जोखिमों का सामना करने के लिये बीमा को एक आवश्यक एवं प्रभावी उपाय समझता है । बीमा मनुष्य का सच्चा हितैषी है । यह मनुष्य के गर्भ में आने से लेकर जीवन पर्यन्त एवं मृत्यु पश्चात भी मनुष्य की सच्चे सेवक की भॉन्ति सेवा करता है । इसी आधार पर भारतीय जीवन बीमा निगम ने अपना मूल मंत्र "जीवन के साथ भी तथा जीवन के बाद भी" को बनाया है । प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य विद्यार्थियो को बीमा के बारे मे सामान्य जानकारी प्रदान कर बीमा की अवधारणाओं से अवगत करवाना है ।

संरचना

1. बीमा का अर्थ एवं परिभाषाएँ
2. बीमा की प्रकृति एव विशेषताएँ
3. बीमा के कार्य
   - 3.1 प्राकृतिक या आधारभूत कार्य
   - 3.2 सहायक या गौणकार्य
   - 3.3 अप्रत्यक्ष कार्य
4. बीमा के प्रकार
5. बीमा का प्रादुर्भाव एवं विकास
6. बीमा की उपादेयता अथवा महत्व
   - 6.1 व्यक्ति या पारिवारिक दृष्टि से उपादेयता
   - 6.2 आर्थिक या व्यावसायिक दृष्टि से उपादेयता
   - 6.3 सामाजिक महत्व अथवा उपादेयता
   - 6.4 बीमा की राष्ट्र के लिये उपादेयता एवं महत्व
7. बीमा की सीमाएं

मानव जीवन अनिश्चितताओं एवं जोखिमों से घिरा हुआ है । आधुनिक युग में यह जोखिम एवं अनिश्चितता और अधिक बढ़ गयी है । विवेकशील प्राणी होने के कारण मानव इन जोखिमों एवं अनिश्चितताओं से सुरक्षा चाहता है तथा इसके लिए सदैव रवे प्रयत्नशील रहा है । इन जोखिमों एवं अनिश्चितताओं रवे सुरक्षा प्राप्त करने के लिए ही मानव ने उपाय खोजा है । जिसे बीमा कहते है ।

13.1 बीमा का अर्थ एवं परिभाषाएँ-

बीमा एक अत्यन्त व्यापक शब्द है, जिसको अलग अलग विद्वानों ने अलग अलग तरह से परिभाषित किया है, जनसामान्य तथा समाजशास्त्रियों ने बीमा को "जोखिम से सुरक्षा प्राप्त करने" के उपाय के रूप में परिभाषित किया है । अर्थशास्त्रियों एवं व्यवसायियों ने बीमा शब्द की परिभाषा "बीमा के अर्थशास्त्र" को ध्यान में रखकर व्यावसायिक या आर्थिक आधार पर

की है । कानून विदों ने बीमा को एक अनुबन्ध के रूप में परिभाषित किया है, बीमा की कुछेक प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित है -

सर विलियम बेवरिज (Sir William Beveridge) के अनुसार "जोखिमों को सामूहिक रूप से वहन करना ही बीमा है।"

जॉन एच मैगी के अनुसार "बीमा एक योजना है जिसमें एक बड़ी संख्या में व्यक्ति अपना संघ बनाकर एकाकी व्यक्तियों की जोखिमों को अपने ऊपर ले लेते है ।"

प्रो० हॉपकिन्स के अनुसार "बीमा आर्थिक हानि के विरूद्ध सुरक्षा है जो जोखिमों को दूसरों के साथ बॉटने से उपलब्ध होती है ।"

प्रसिद्ध विद्वान थामस के अनुसार "बीमा एक व्यवस्था है जो एक बुद्धिमान व्यक्ति आकस्मिक अथवा असम्भावी घटनाओं हानियों एवं दायित्वों के विरूद्ध करता है, यह जोखिम को फैलाने की एक विधि है ।

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन एवं विश्लेषण से स्पष्ट है कि बीमा जोखिमों एवं अनिश्चितताओं से सुरक्षा प्राप्त करने का एक उपाय है इसके अन्तर्गत एकांकी व्यक्तियों की जोखिमों को जिन्हे वे एकाकी रूप से वहन करने में सक्षम नहीं है, अनेक व्यक्तियों में बॉट अथवा फैला दिया जाता है ।

अनेक कानूनविदों ने बीमा को एक अनुबन्ध मानकर इस अनुबन्ध के रूप में परिभाषित किया है इनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार है -

न्यायाधीश टिन्डा के अनुसार "बीमा एक अनुबन्ध है जिसके अन्तर्गत बीमित बीमाकर्ता को एक निश्चत धनराशि एक निश्चत घटना के घटित होने की जोखिम उठाने के प्रतिफल में देता है ।"

रीगल एवं मिलर के अनुसार "वैधानिक दृष्टि से यह एक अनुबन्ध है जिसमें बीमाकर्ता बीमित को अनुबन्ध के क्षेत्र के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाली वित्तीय हानि को पूरा करने का ठहराव करता है तथा बीमित इसके बदले प्रतिफल (प्रीमियम) चुकाने का ठहराव करता है ।"

स्पष्ट है कि बीमा बीमित एवं बीमाकर्ता के मध्य उत्पन्न एक अनुबन्ध है जिसमें बीमाकर्ता एक निश्चित प्रतिफल (प्रीमियम) के बदले बीमित को बीमा अनुबन्ध के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली आर्थिक हानियों से बचाने का वचन देता है ।

13.2 बीमा की प्रकृति एवं विशेषताएँ -

बीमा शब्द को ठीक तरह से समझने के लिए हमें बीमा की प्रकृति एवं विशेषताओं को भली भाँति समझ लेना चाहिए जो निम्नांकित है-

1. बीमा जोखिम के विरूद्ध सुरक्षा प्राप्त करने का उपाय है ।
2. यह एकाकी जोखिम को अनेक व्यक्तियों फैलाने या वितरण करने का तरीका है ।
3. बीमा जोखिमों के हस्तान्तरण की विधि है जिसमें बीमित निश्चित प्रिमियम भुगतान के बदले अपने जोखिम बीमाकर्ता को हस्तान्तरित करता है ।
4. बीमा भविष्य की अनिश्चित एवं एक बड़ी जोखिम को एक छोटी एवं निश्चित राशि तक निश्चित तथा सोभित करने का उपाय हैं ।

5. बीमा एक सहकारी व्यवस्था है जो 'सहकारिता के सिद्धान्त' 'एक सबके लिए तथा सब एक के लिए' पर आधारित है ।
6. बीमा कुछ निश्चित सिद्धान्तों जैसे- सम्भावितों का सिद्धान्त परम सद्भावना का सिद्धान्त, बीमा योग्य हित का सिद्धान्त, क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त, अशंदान का सिद्धान्त, आदि पर आधारित है ।
7. बीमा में एक निश्चित एवं पूर्व निर्धारित घटना के घटित होने पर ही बीमित को राशि का भुगतान किया जाता है ।
8. इसमें बीमित को भुगतान की जाने वाली राशि उसके द्वारा उठायी गई वास्तविक क्षति की राशि के बराबर तक सीमित होती है जो किसी भी दशा में बीमित राशि से अधिक नहीं हो सकती ।
9. जीवनबीमा की दशाओं में जीवन की क्षति से उत्पन्न वास्तविक नुकसान का सही मूल्याकंन नही किया जा सकता । अत: जीवन बीमा की स्थिति में बीमित की मृत्यु की दशा में उसके आश्रितों को सम्पूर्ण बीमा राशि का भुगतान कर दिया जाता है ।
10. केवल शुद्ध जोखिमों का ही बीमा करवाया जा सकता है । परिकल्पी जोखिमों का बीमा नहीं करवाया जा सकता । शुद्ध जोखिमों से तात्पर्य यही ऐसी जोखिमों से है जिसमें केवल हानि की ही सम्भावना रहती है लाभ की नहीं, जबकि परिकल्पी जोखिम से तात्पर्य ऐसी जोखिम से है जिसमें लाभ एवं हानि दोनों की सम्भावना विद्यमान रहती है ।
11. बीमा जुआ नही है- क्योकि बीमा में बीमित का बीमा योग्य हित होता हे ।
12. बीमादान भी नही होता क्योंकि दान में कोई प्रतिफल नही होता, जबकि बीमा में मूल्याकंन प्रतिफल होता है।
13. बीमा एक अनुबन्ध है, जिसमें बीमाकर्ता बीमित को एक निश्चित प्रतिफल (प्रीमियम) के बदले कुछ निश्चित हानियों से बचाने का वचन देता है ।
14. आधुनिक युग में बीमा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है । आज प्रत्येक प्रकार यथा जीवन, अग्नि, सामुहिक, पशुधन, फसल, दुर्घटना, वैधानिक दायित्व लाभ की क्षति आदि का बीमा करवाया जा सकता है ।

13.3 बीमा के कार्य (Functions of Insurance)

बीमा अनेक महत्वपूर्ण कार्यो को सम्पादित करता है, जहाँ एक ओर यह जोखिमो एवं अनिश्चितताओं के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करता है वहाँ दूसरी ओर यह राष्ट्र के आर्थिक व सामाजिक विकास में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

प्रो. डिन्सडेलने बीमा के कार्यो का विभाजन निम्नाकित तीन प्रमुख वर्गो में किया है -

3.1 प्राथमिक या आधारभूत कार्य (Primary Function)

इस श्रेणी में उन समस्त कार्यो को सम्मलित किया गया है जिनके लिए बीमा का प्रमुख रूप से उद्गम एवं विकास हुआ है । ये कार्य निम्नलिखित है ।

1. जोखिमों के विरूद्ध निश्चितता प्रदान करना -

आज के वातावरण में मानव अनेक प्रकार के जोखिमों एवं अनिश्चितताओं से घिरा हुआ है जो उनकी कार्य क्षमता पर विपरीत प्रभाव डालती है । बीमा मानव को इन सभी अनिश्चितताओं के

विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करता है । प्रो0 मेगी ने ठीक ही लिखा है कि "बीमा का कार्य निश्चितता प्रदान करना है ।" इसी तरह बीमा क्षेत्र के प्रसिद्ध विद्वान रीगल तथा मिलर का भी मानना है कि " बीमा का प्राथमिक कार्य घटनाओं की अनिश्चितताओं को कम करना है ।

2. हानियों के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करना-

बीमा व्यक्तियों को आर्थिक हानियों के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करता है । बीमा के माध्यम से एक व्यक्ति एक छोटी सी राशि का प्रीमियम के रूप में भुगतान करके भविष्य में उत्पन्न होने वाली आर्थिक हानियों के प्रति सुरक्षा प्राप्त कर सकता है । प्रो0 हापकिन्स व सह लेखकों ने ठीक ही लिखा है कि बीमा आर्थिक हानि के विरूद्ध सुरक्षा हैं।

3. जोखिम का विभाजन या वितरण करना -

बीमा का एक अन्य प्रमुख कार्य यह है कि यह एकाकी व्यक्तियों की जोखिम को समूह में बाँट देता है जिससे समूह के प्रत्येक सदस्य के हिस्से में इतनी कम जोखिम आती है कि वह उसे आसानी से वहन कर सकता है । समान जोखिम से घिरे व्यक्ति एक सामान्य कोष में अंशदान (प्रीमियम के रूप में) करते है इस सामान्य को व का उपयोग सदस्यों की जोखिम वहन करने के लिए किया जाता है । प्रो0 थॉमस ठीक ही लिखते है कि "बीमा जोखिम को फैलाने का तरीका है । " इसी तरह प्रसिद्ध विद्वान सर विलियम वेवरिज का मत है कि जोखिमों का सामूहिक वहन ही बीमा है ।

4. जोखिमों का मूल्यांकन करना-

बीमा का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य जोखिम का मूल्यांकन करना है । बीमा जोखिम का मूल्यांकन कर तदनुरूप ही प्रिमियम की राशि का निर्धारण करता है । जितनी अधिक जोखिम समाहित होती है, प्रिमियम भी उतनी ही अधिक निर्धारित की जाती है ।

5. बाजार अनुसंधान करना-

बीमा का एक अन्य प्रमुख कार्य यह भी है कि यह बाजार सर्वेक्षण आयोजित कर बीमितो की बदलती आवश्यकताओं, प्राथमिकताओं अधिमानो रूचियों आदतों क्रय प्रेरणाओं आदि का पता लगाता है ताकि अपनी नीतियों कार्यक्रमों व योजनाओं में तदनुरूप परिवर्तन कर सके तथा ऐसी बीमा योजनाओं का विकास कर सकें जो लोगो की बदलती जरूरतों के अनुरूप हो ।

3.2 सहायक या गौंण कार्य: इस श्रेणी में निम्नाकिंत कार्यो को सम्मलित किया जाता है।

6. वृहतस्तरीय उपक्रमों के विकास में सहायक-

ऐसे उपक्रमों के विकास में अधिक जोखिम निहित होती है तथा अत्यधिक मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है । बीमा उद्योगपतियों तथा ऐसे उपक्रमों के संगठनकर्ताओं को जोखिम से सुरक्षा प्रदान कर उन्हें ऐसे उपक्रमों के विकास की प्रेरणा प्रदान करता है । साथ ही ऐसे उपक्रमों अंशो, ऋणपत्रों तथा अन्य प्रतिभूतियों को क्रय करके तथा उनको अभिगोपित करके उनके लिए पूँजी का प्रबन्ध करता है ।

7. सुरक्षा प्राप्ति हेतु अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता से मुक्ति प्रदान करना-

यदि बीमा का उद्भव नही होता तो व्यक्तियों को हानियों के विरूद्ध सुरक्षा प्राप्त करने के लिए स्वयं पूँजी कोष का निर्माण करना होता जबकि बीमा के कारण वह एक छोटी राशि प्रिमियम के रूप में चुकाकर यह सुरक्षा प्राप्त कर सकते है । स्वयं प्रो0 डिन्सडेल लिखते है कि "बीमा उद्योगपतियों

एवं अन्य व्यक्तियों को सुरक्षा के लिए पूँजी विनियोजन की आवश्यकता से मुक्त कर देता है । वे थोड़ी सी प्रिमियम का भुगतान करके बहुत बडी जोखिम को सीमित कर सकते है ।'

8. हानियों के विरूद्ध सुरक्षा के प्रति सतर्क करना-

बीमा "उपचार से रोकथाम बेहतर है' के दर्शन पर कार्य करता है । यह बीमितो तथा सामान्य जनता को लगातार प्रचार माध्यमों का उपभोग कर हानियों के प्रति सतर्क करता है । बीमा लगातार बीमितों को सुरक्षा अपनाने के लिए प्रेरित करता है जो बीमित सुरक्षा उपाय अपनाने के लिए सहमति व्यक्त करते है यह उनकी प्रिमियम की राशि भी कम कर देता है । इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए भारत में बीमाकर्ताओं ने एक Loss Prevention Association of India नामक संस्था का भी गठन किया है ।

3.3 अप्रत्यक्ष कार्य

बीमा के परिणाम स्वरूप कुछ कार्य स्वत: ही होने लगते है । ऐसे कार्यो को बीमा के अप्रत्यक्ष कार्यो की श्रेणी में रखते है । ऐसे कार्य निम्नांकित है ।

9. सरकार एवं उद्योगों की सहायता करना-

बीमा व्यवसाय के द्वारा बीमाकर्ताओ द्वारा भारी मात्रा में कोषों का निर्माण किया जाता है। बीमाकर्ता अपने इन कोषों का उपयोग सरकारी तथा औद्योगिक परियोजनाओं की वित्तीय आवश्यकताओं की शुतझ हेतु करते है । जिससे इन परियोजनाओं का सफल क्रियान्वयन एवं संचालन सम्भव बन पाता है ।

10. विदेशी व्यापार को बढ़ावा-

विदेशी व्यापार में अनेक प्रकार की एवं अत्यधिक जोखिम निहित होती है । बीमा इन जोखिम के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान कर विदेशी व्यापार को बढावा देने में सहायक होता है ।

11. विदेशी विनियम की प्राप्ति-

बीमा मूल्याकंन विदेशी मुद्रा की प्राप्ति में सहायक होता है । आजकल बीमा व्यवसाय अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किया जाता है, तथा विदेशों में किये गये बीमा व्यवसाय की प्रिमियम विदेशी मुद्रा में प्राप्त होती है जिससे देश के विदेशी भण्डारों में वृद्धि होती है ।

12. बचत का माध्यम

जीवन बीमा बचत करने का एक कारगर माध्यम सिद्ध हुआ है । इसकी प्रिमियम का भुगतान करने हेतु बीमितो को अपनी आय में अनिवार्य रूप से बचत करनी होती है । जिससे उनमें बचत की आदत को प्रोतनाहन मिलता है ।

13. विनियोग का साधन-

आधुनिक युग में बीमा एवं विशेषत: जीवन बीमा विनियोग का एक महत्वपूर्ण एवं सुरक्षित स्त्रोत साबित हुआ है क्योंकि इसमें प्रिमियम के रूप में चुकाया गया धन बीमा पत्र की परिपक्वता या बीमित की मृत्यु जो भी पहले हो, होने पर सलाभ वापिस मिल जाता है ।

14. सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध कराना-

बीमा अनेक सामाजिक सुरक्षा योजनाओं के माध्यम से सामाजिक सुरक्षा जैसे वृद्धावस्था, बेकारी, बीमारी गर्भावस्था, दुर्घटना आदि के विरूद्ध सुरक्षा उपलब्ध करावाकर समाज की महत्वपूर्ण रूप से सेवा करता है ।

15. ग्रामीण उत्थान कायक्रमों में योगदान-

बीमा अपने कोषों का विनियोग ग्राम उत्थान योजनाओं यथा अपने ग्रामीण पेयजल योजना यथा ग्रामीण पेयजल योजना ग्रामीण शिक्षा योजना, ग्राम सडक योजना, ग्राम स्वच्छता योजना, ग्रामीण विद्युतीकरण योजना ग्रामीण स्वास्थ्य योजना में कर ग्राम सर्वागीण विकास के लक्ष्य की प्राप्ति में योगदान देना है ।

13.4 बीमा के प्रकार (Kinds or Types of Insureance)

आधुनिक युग में बीमा का क्षेत्र एवं स्वरूप अत्यन्त व्यापक हो गया है । आज मानव जीवन को छूने वाली कोई ही ऐसी गतिविधि होगी जिसका बीमा न करवाया जा सकता हो । मनुष्य की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु बीमाकर्ताओं ने विविध प्रकार के बीमों का विकास किया है । वर्तमान में प्रचलित प्रमुख प्रकार के बीमा निम्नलिखित है-

(1) जीवन बीमा (Life Insurance)

जीवनबीमा व्यक्ति के जीवन का बीमा है यह एक ऐसा बीमा है जिसके अन्तर्गत बीमाकर्ता एक निश्चित प्रतिफल (प्रिमियम) के बदले निश्चित अवधि के पश्चात् बीमित को अथवा निश्चित अवधि पूर्ण होने के पहले ही बीमित की मृत्यु की दशा में बीमित के नामांकित उत्तराधिकारी या आश्रितों को एक निश्चित धन राशि का भुगतान करने का वचन देता है ।

(2) अग्नि बीमा (Fire Insurance)

यह बीमा बीमित की सम्पत्तियों को आग से होने वाली सम्भावित हानि के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करता है । इस बीमा के अन्तर्गत बीमाकर्ता एक निश्चित प्रीमियम के बदले बीमित को वचन देता है कि यदि बीमित अवधि में बीमित की सम्पत्ति को अग्नि से नुकसान होता है तो बीमाकर्ता बीमित की वास्तविक हानि जो अधिकतम बीमित राशि के बराबर हो सकती है, की क्षतिपूर्ति करेगा । यह बीमा क्षतिपूर्ति अनुकध की प्रकृति का है जो बीमित वास्तविक क्षति के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करता है ।

(3) सामुद्रिक बीमा (Marine Insurance)

यह बीमा सामुहिक हानियों के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करता है । यह एक ऐसा बीमा है जिसमें बीमाकर्ता बीमित को एक निश्चित प्रिमियम के बदले एक निश्चित अवधि में उसे कुछ निश्चित सामुहिक हानियों या संकटों से बचाने का वचन देता है यह बीमा भी क्षतिपूर्ति अनुबन्ध की प्रकृति का है । जिसमें बीमाकर्ता द्वारा बीमित राशि की सीमा में बीमित के केवल वास्तविक नुकसान की पूर्ति की जाती है।

(4) सामाजिक बीमा (Social insurance)

यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें श्रमिकों, सेवायोजकों, व सरकार के सहयोग से बीमारी, दुर्घटना, मृत्यु आदि जोखिमों के विरूद्ध बीमा करवाया जाता है । ताकि बीमित को इन जोखिमों से उत्पन्न सकंटों से बचाया जा सकें तथा जोखिम उत्पन्न होने पर भी बीमित अपना तथा अपने परिवार के सामाजिक स्तर को बनाये रख सकें तथा उसे विघटन से बचा सकें । यह सामान्यत: अशंदान से उत्पन्न होता है । सामाजिक बीमा में प्राय निम्न प्रकार के बीमा सम्मलित होते है-

(क) बीमारी बीमा - इसके अन्तर्गत बीमित के बीमार ग्रस्त होने पर चिकित्सा सुविधा, दवाइयों का मूल्य तथा बीमारी काल में वेतन की क्षतिपूर्ति की व्यवस्था की जाती है ।

(ख) मृत्यु बीमा - इसमें बीमित की कार्य के कारण एवं कार्य के दौरान मृत्यु की दशा में आश्रितो के लिए राशि भुगतान की व्यवस्था की जाती है ।

(ग) असक्षमता बीमा - इसके अन्तर्गत बीमित के कार्य के कारण एवं कार्य के दौरान दुर्घटना होने पर स्थायी अथवा अस्थायी पूर्ण अथवा आंशिक असक्षमता की दशा में क्षतिपूर्ति की व्यवस्था की जाती है ।

(घ) बेरोजगारी बीमा - कुछ विशिष्ट कारणों से बीमित के रोजगार खोने की दशा में उसे पुन: रोजगार मिलने तक की अवधि के लिए आर्थिक सहायता की व्यवस्था की जाती है ।

(ङ)वृद्धावस्था बीमा - इसके अन्तर्गत बीमित या उसके आश्रितों को एक निश्चित आयु के पश्चात् आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है ।

(5) विविध बीमें (Miscellancous Insurance)

उपर्युक्त के अतिरिक्त मनुष्य की अनेको अनेक जोखिमों के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करने के लिए विविध प्रकार के बीमों का विकास किया गया है जिसमें से प्रमुख निम्नलिखित है ।

(क) वाहन बीमा- यह सड़क पर चलने वाले स्वचालित वाहनों का दुर्घटना के विरूद्ध बीमा है।

(ख) व्यक्तिगत दुर्घटना बीमा- इस बीमें के अन्तर्गत बीमित की किसी दुर्घटना में मृत्यु अथवा पूर्ण या आशिक असक्षमता की स्थिति में क्षति की पूर्ति की जाती है ।

(ग) चोरी डकैती बीमा- इस प्रकार के बीमें में बीमित को चोरी, डकैती, सेधंमारी अथवा उठाईगिरी से उत्पन्न क्षति की पूर्ति की जाती है ।

(घ) वैद्यानिक दायित्व बीमा- यह बीमा बीमित को वैद्यानिक दायित्वों से सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से किया जाता है।

(ङ)विश्वसनीयता गारन्टी बीमा- इसमें बीमाकर्ता किसी संस्था को कर्मचारियों की ईमानदारी की गारन्टी देता है । तथा उनकी बेईमानी से उत्पन्न क्षति की पूर्ति करता है ।

(च) फसल बीमा- फसलों को विविध कारणों से पहुँचने वाली क्षति के विरूद्ध कृषको को सुरक्षा प्रदान करने के लिए यह बीमा चालू किया गया है ।

(छ) पशुधन बीमा- पशुओं की असामयिक मृत्यु से उत्पन्न हानि के विरूद्ध पशु मालिको के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करने के लिए यह बीमा चालू किया गया है ।

(ज) अपराध बीमा- विविध प्रकार के अपराधों से उत्पन्न होने वाली हानि के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करने के लिए यह बीमा जारी किया गया है ।

(झ) अभियान्त्रिकी बीमा- यह बीमा कारखानों में उत्पन्न यांत्रिक खराबियों से उत्पन्न होने वाली हानि के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करने के लिए यह बीमा प्रारम्भ किया गया है ।

(ट)अन्य बीमें- उपयुक्त के अतिरिक्त अन्य सभी बीमें जैसे साईकिल बीमा, साईकिल रिक्शा बीमा आभूषण बीमा, यात्री सामान बीमा, वायु यात्रा बीमा, सुन्दरता बीमा, सम्पूर्ण घरेलू बीमा, आदि।

13.5 बीमा का उद्भव एवं विकास (Orgin and Development of Insurance)

बीमा का ऊद्भभव कब, कैसे, क्यो एवं कहाँ हुआ यह प्रश्न आज भी अनिर्णित है । ही इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बीमा का उद्भव एवं विकास का इतिहास मानव विकास के इतिहास से निकट एवं गहरे से जुडा हुआ है । इस बात के प्रलेखीय साक्ष्य उपलब्ध है कि बेवीसोनिया तथा भारत जैसी सभ्यताओं में मानव ने सुरक्षा प्राप्ति की दृष्टि से बीमा जैसी ही कोई व्यवस्था कर रखी थी । भारत के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों, जैसे ऋगवेद मनुस्मृति, आदि में 'योगक्षेम' शब्द का उल्लेख मिलता है जो इस बात का प्रमाण है कि भारतीय प्राचीनकाल से ही बीमा शब्द से परिचित थे । आगे की पक्तियों में बीमा के उद्भव एवं विकास के इतिहास का लेखाजोखा करने का प्रयत्न किया गया है

समुद्री बीमा का उद्भव एव विकास

ऐसा माना जाता है कि प्राचीन काल में अधिकांश व्यापार समुद्री मार्ग से ही होता था । समुद्री मार्ग से व्यापार में जोखिम अत्यधिक सन्निहित होने के कारण जोखिम से सुरक्षा प्राप्ति हेतु समुद्री बीमा के उद्भव की अटकले लगायी जाती है ।

समझा जाता है कि आज से लगभग 3000 वर्ष पूर्व “राड्स” तथा “फोनोशिया” में सामुहिक बीमा प्रचलन में था । इसी तरह प्राचीन ग्रीस में भी समुद्री बीमा के प्रचलन के प्रमाण मिलते है । समुद्री मार्ग से होने वाले व्यवसाय में जोखिम को कम करने के लिए प्रचलित 'बाटमीर (Bottomery) तथा रेसपोनुन्लिया (Respondentia) बान्ड्स भी इसी बात का प्रमाण देते है ।

मेयर सन नामक विद्वान अपनी पुस्तक में लिखता है कि 13वीं शताब्दी के अन्त अथवा 14वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इटली में समुद्री बीमें का प्रारम्भ हुआ था । इसी तरह प्रो0 डिन्सडेल ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि ''बीमा का प्रथम अनुबन्ध जिसे 'योजिला कहा जाता है सन् 1300 ई. के आसपास इटली में किया गया । सन् 1310 मे बेल्जियन में एक चैमबर ऑफ इन्श्योरेन्स की स्थापना की गयी । धीरे-धीरे समुद्री बीमा का तेजी से प्रचलन प्रारम्भ हुआ तथा फ्रान्स, हालैण्ड, जर्मनी, इंगलैण्ड, स्पेन आदि यूरोपीय देशों में यह विकसित होने लगा । सन् 1575 में इंगलैण्ड में समुद्री बीमा का पंजीयन प्रारम्भ हुआ । सन् 1601 में वहां विवादों के निपटारे हेतु पंचनिर्णय न्यायालय की स्थापना की गई । सन् 1774 मे लन्दन में लॉयड्स संस्था की स्थापना की गई एवं तत्पश्चात् बीमें का नियमित एवं नियन्त्रित विकास हेतु अनेक अधिनियम पारित किये गये ।

अग्नि बीमा का उद्भव एवं विकास-

ऐसा माना जाता है कि समुद्री बीमा के बाद अग्नि बीमा का ही विकास हुआ था । वर्तमान स्वरूप में अग्नि बीमा का प्रादुर्भाव 16वीं शताब्दी के लगभग जर्मनी में हुआ माना जाता है । इंगलैण्ड में सन् 1666 में भीषण अग्निकाण्ड घटित हुआ जिसमें करीब 85 प्रतिशत मकान जलकर स्वाहा हो गये तथा इस अग्निकाण्ड से क्षति का अनुमान लगभग 10 करोड़ पोण्ड लगाया गया इस विभिषिका के बाद इंगलैण्ड में अग्नि बीमा का प्रचार बढ़ा । सन् 1681 में वहां अग्निबीमा नामक संस्था की स्थापना की गई । तत्पश्चात सम्पूर्ण विश्व में अग्नि बीमा का प्रचलन हो गया ।

जीवन बीमा का प्रादुर्भाव एवं विकास-

यद्यपि जीवन बीमा के उद्भव के लक्षण ईसा पूर्वकाल में पाये जाते है, विद्वानों का गत है कि ईसा के लगभग 400 वर्ष पूर्व भी 'आलपियन तथा 'रोम' के निवासी जीवन बीमा से परिचित थे । परन्तु आधुनिक स्वरूप में जीवन बीमा का प्रारम्भ 18 जून 1583 को ही हुआ जबकि लन्दन के श्री विलियम गिब्सन ने जीवन का एक वर्ष का बीमा किया गया । लन्दन में सन् 1699 में म्यूच्युअल इन्श्योरेंस कं की स्थापना के साथ ही जीवन बीमा के प्रचार ने गति पकडी इसके पश्चात् धीरे-धीरे सम्पूर्ण विश्व में जीवन बीमा की लोकप्रियता बढ़ने लगी ।

विविध बीमा का उद्गम एवं विकास-

मनुष्यों की बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप अनेक प्रकार की बीमा प्रणालियों का भी विकास हुआ है । आद्यौगिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप उद्योगों में दुर्घटनाऐं बढने की जोखिम भी बढ गई है । जिसके फलस्वरूप दुर्घटना बीमा का प्रादुर्भाव हुआ । रोजगार में रखने के लिए विश्वसनीयता का विश्वास दिलाने के लिए बीमा का सहारा लिया गया । साख चौरी, डकैती, फसल क्षति, पशुधन क्षति आदि जोखिमों से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए भी बीमा का सहारा लिया गया । आज मानव जीवन का ऐसा कोई पहलू अछूता नही है, जिसका बीमा न किया जा सकता हो ।

13.6 बीमा की उपादेयता अथवा महत्व (Significance of Insurrance)

आधुनिक युग में बीमा का महत्व दिन दुगना रात चौगुना बढ़ता जा रहा है । जैसे-जैसे समाज में जोखिम का दायरा बढ़ता जा रहा है बीमा की अधिकाधिक आवश्यकता महसूस की जा रही है । आज की इस व्यस्त व तनावग्रस्त जीवनचर्या में समाज के सभी वर्गो के लिए बीमा की सामाजिक एवं आर्थिक उपयोगिता है । संक्षेप में बीमा की उपादेयता का अध्ययन इसे निम्न शीर्षकों में विभाजित करके किया जा सकता है-

6.1 व्यैक्तिक या पारिवारिक दृष्टि से उपादेयता या महत्व-

इस आधार पर बीमा के महत्व को निम्न बिन्दुओ की सहायता से भली भाँति समझा जा सकता है ।

1. **सुरक्षा का साधन-** बीमा का सबसे ने बड़ा लाभ यह है कि यह अनिश्चितताओं के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करता है । प्रसिद्ध विद्वान एन्जेल ने लिखा है कि "बीमा अनिश्चित हानियों से सुरक्षा का स्थायी आधार है ।"
2. **परिवार के विघटन पर रोक -** बीमा परिवार को टूट एवं विघटन से बचाता है । परिवार के लिए आजीविका अर्जन करने वाले व्यक्ति के जीवन की क्षति की दशा में परिवार को सामयिक आर्थिक सहायता उपलब्ध करवाकर बीमा परिवार को विघटन से बचाता है ।
3. **मानसिक शान्ति प्रदान करना-** अनिश्चितता एवं जोखिम का भय मानसिक चिन्ताओं को जन्म देती है । बीमा व्यक्तियों को इन चिन्ताओं से मुक्ति प्रदान करता है । प्रो0 एन्जेल ने लिखा है कि "बीमा बीमितों को अपनी वस्तुओं के नष्ट होने के निरन्तर भय से मुक्ति प्रदान करता है ।"
4. **कार्य क्षमता में वृद्धि-** अनिश्चितता एवं जोखिम के भय से मुक्ति का सुखद परिणाम कार्यक्षमता में वृद्धि के रूप मे सामने आता है । एन्जेल के शब्दों में "जिस व्यक्ति को भविष्य के बारे में कम चिन्ताएं होती है वह अधिक अच्छा कार्यकर्ता होता है । "

5. **आर्थिक आत्म निर्भरता की प्राप्ति-** परिवार के लिए रोजी रोटी कमाने वाले व्यक्ति की असामयिक मृत्यु से परिवार की आर्थिक आत्म निर्भरता समाप्त हो जाती है ।

ऐसे समय में बीमा परिवार को आर्थिक आत्मनिर्भरता को बनाये रखने के कारगर साबित होता है । प्रो0 मेगी (Magee) के शब्दों में "उपयुक्त ढंग से करवाया गया बीमा आर्थिक आत्मनिर्भरता बनाये रखने में योगदान देता हैं ।

6. **स्वास्थ्य रक्षा के प्रति जागरूकता-** बीमा सदैव बीमितों को सचेत के प्रति सचेत करता है । उन्हे नियमित रूप रवे चिकित्सा जाँच के लिए प्रेरित करता है । तथा इस हेतु प्रिमियम में कमी का प्रलोभन देता है । जिससे बीमितों के स्वास्थ्य की रक्षा होती है ।
7. **बचत का साधन-** बीमा लोगो में बचत की भावना एवं आदत को प्रोत्साहित करता है बीमा का लाभ लेने के लिए नियमित रूप से प्रीमियम का भुगतान करना होता है । जिससे बचत करना अनिवार्य हो जाता है ।
8. **विनियोग का स्त्रोत-** आधुनिक युग में बीमा न केवल सुरक्षा का वरन् विनियोग का एक सुरक्षित एवं लाभप्रद माध्यम साबित हुआ है । प्रिमियम के रूप में जमा कराया गया धन बीमित या उसके आश्रितों को सलाम वापिस मिल जाता है ।
9. **भावी जीवन की आवश्यकताओं का नियोजन-** बीमा के माध्यम से व्यक्ति अपनी भविष्य की आवश्यकताओं का नियोजन कर सकता है तथा तद्नुरूप बीमा पत्र क्रय कर सकता है । प्रो0 एन्जेल के अनुसार " बीमा भविष्य की आवश्यकताओं के नियोजन को प्रोत्साहित करता है ।"
10. **घरेलू सम्पत्तियों की सुरक्षा-** घरेलू सामान बीमा पत्र खरीदकर बीमित अपने परिवार की सम्पत्तियों को सुरक्षा प्रदान कर सकता है ।
11. **वैद्यानिक दायित्वों से सुरक्षा-** बीमा कराकर बीमित अपने वैद्यानिक दायित्वों का भार बीमाकर्ता पर डाल सकता है ।
12. **साख में वृद्धि-** बीमा समाज में व्यक्ति की प्रतिष्ठा में वृद्धि कर उसकी साख सुविधायें बढ़ाता है, साथ ही बीमाकर्ता भी अपने बीमितों को साख व उपलब्ध कराता है ।
13. **अर्जन क्षमता का पूँजीकरण-** व्यक्ति भविष्य में होने वाली आय का अनुमान लगाकर इतनी राशि का बीमा करवा सकता है कि उसकी मृत्यु की दशा में अथवा अर्जन क्षमता खोने पर भी उसे बीमाकर्ता से अपनी भावी आय के बराबर राशि नियमित रूप से मिलती है ।
14. बीमा के रूप मे चुकाई गई प्रिमियम की राशि से आयकर में छूट का लाभ मिलता है ।

6.2 बीमा की आर्थिक अथवा व्यावसायिक दृष्टि से उपादेयता-

बीमा न केवल व्यक्ति या परिवारिक दृष्टि से ही उपयोगी है वरन् यह आर्थिक तथा व्यावसायिक दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित हुआ है । बीमा ने व्यवसाय को जोखिमों के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान कर उसकी सीमाओं का विकास एवं विस्तार दिया है । प्रसिद्ध प्रबन्ध वैज्ञानिक पीटर ड्रकर ने लिखा है कि 'यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नही है कि बीमा के बिना औद्योगिक अर्थ व्यवस्था का कोई भी कार्य नही कर सकती है । ' बीमा के आर्थिक एवं व्यावसायिक महत्व को निम्न बिन्दुओ की सहायता से भली भाँति समझा जा सकता है-

1. **व्यावसायिक जोखिमों से सुरक्षा-** आधुनिक व्यवसाय कई प्रकार की जोखिगो से घिरा रहता है । वस्तुत: बिना जोखिम के व्यवसाय किया ही नही जा सकता । प्रो0 हैने ने ठीक ही लिखा है कि 'व्यवसाय जोखिम का खेल है' बीमा व्यवसाय को इस सभी जोखिमों के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान कर व्यवसायीयों को निर्भय होकर व्यवसाय करने की प्रेरणा प्रदान करता है ।
2. **साख सुविधाओं का विस्तार-** जो व्यवसायी अपना बीमा करवाते है उनकी साख (क्रेडिट) वित्तीय एवं ऋणदात्री संस्थाओं की दृष्टि से बढ़ जाती हैं तथा ये ऐसे व्यवसाय कोण एव साख सुविधा उपलब्ध करवाने के लिए सदैव तत्पर रहते है । इससे व्यवसाय की साख सुविधाओं का विस्तार होता है।
3. **कार्यक्षमता में वृद्धि-** बीमित व्यावसायिक संस्थाओं के स्वामी एवं प्रबन्धक अधिक निश्चितता एवं भयमुक्त वातावरण में कार्य करते है, जिससे उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि होती है ।
4. **दुर्घटनाओं की लागत निश्चित करना-** बीमा करवाकर व्यवसाय किसी भी दुर्घटना यथा आग लगना, चौरी-चकारी, डकैती, बाढ़, तूफान, भूकम्प आदि उत्पन्न हानि अथवा लागत को निश्चित कर लेता है । जो किसी भी स्थिति में इनके लिए चुकाई गई प्रिमियम की राशि के बराबर होती है ।
5. **लागतो में कमी-** बीमा एक व्यवस्था है जो एक बड़ी किन्तु अज्ञात हानि को एक छोटी एवं ज्ञात हानि (प्रिमियम की राशि) से प्रतिस्थापित कर देता है । अत: बीमा दुर्घटनाओं से उत्पन्न होने वाली बड़ी हानियों को प्रिमियम की राशि के बराबर तक घटाकर लागतों में कमी लाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता है ।
6. **बड़े-बडे व्यवसायों के विकास को प्रोत्साहन-** बड़े-बडे व्यवसाय के साथ बड़ी मात्रा में जोखिम जुड़ी होती है । बीमा व्यवसाय को इन जोखिमों से मुक्त कर इसकी स्थापना एवं विकास का मार्ग प्रसस्त करता है । साथ ही बड़े व्यवसायों की स्थापना एव संचालन के लिए बड़ी मात्रा में पूंजी कोषों की आवश्यकता होती हैं । बीमा व्यवसायियों को आवश्यक पूँजी उपलब्ध करवाकर बड़े व्यवसाय एवं उद्योग धन्धों की स्थापना के लिए उन्हें प्रेरित करता है ।
7. **आधारभूत ढाँचे के विकास में सहायक -** किसी भी देश की औद्योगिक विकास वहाँ विकसित होने वाले आधारभूत संरचनात्मक उद्योगों के विकास पर निर्भर करता हैं । ऐसी औद्योगिक ईकाइयों की स्थापना में भारी जोखिम सन्निहित होती है तथा अत्यधिक मात्रा में पूँजी संसाधनों की आवश्यकता होती है । बीमा इनकी जोखिमों को समाप्त कर तथा इनके लिए आवश्यक पूँजी का प्रबन्ध कर इन औद्योगिक इकाईयों की स्थापना को बढ़ावा देता है । जिससे देश में औद्योगिकीकरण का मार्ग प्रशस्त होता है ।
8. **अनुसंधान एवं नवकरणों को प्रोत्साहन-** बिना अनुसंधान एवं नवकरण के व्यवसाय आधुनिक प्रतिस्पर्धात्मक युग में अपना अस्तित्व बनाकर नही रख सकता । किन्तु अनुसंधान एक जोखिम भरा कार्य हैं । बीमा इन जोखिमों को समाप्त या कम करके अनुसंधान एवं नवकरण को प्रेषित करता है ।
9. **विदेशी व्यापार को बढ़ावा-** विदेशी व्यापार अनेक जोखिमों से भरा हुआ होता है । अत: सामान्य व्यापारी जोखिमों से डरकर विदेशी व्यापार नहीं करते हैं । बीमा उनको जोखिमों के विरूद्ध सुरक्षा प्रदानकर विदेशी व्यापार के लिए प्रेरित करता है।
10. **लघु उद्योगो एवं व्यवसायों को बढ़ावा-** बड़े व्यवसाय तो फिर भी अपने वृहत् संसाधनों के बल पर अपनी जोखिमों को स्वयं वहन करने की स्थिति में होते है । किन्तु छोटे उद्योंगों एव व्यवसायों

के पास संसाधन इतने कम होते है कि वे अपनी जोखिम स्वयं नही उठा सकतें । ऐसे में बीमा उनकी जोखिमों को अपने ऊपर लेकर उनकी स्थापना एवं विकास का मार्ग सुगम बनाता है ।

11. **कर्मचारी कल्याण योजनाओं का संचालन-** आधुनिक युग में वैद्यानिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु, श्रम संगठनों के दबाव के कारण तथा कर्मचारियां का विश्वास जीतने एवं उनमें निष्ठा पैदा करने हेतु अनेक कल्याण योजनाओ, यथा आवासियों व बस्तियों का निर्माण, आवास ऋण उपलब्ध करवाना, परिवहन व्यवस्था, शिक्षा का प्रबन्ध, पेयजल सुविधा आदि का संचालन करना होता है । किन्तु कई संस्थाएं धनाभाव के कारण इनका संचालन नही कर पाती । बीमा इन कल्याण कार्यक्रमों के संचालन के लिए व्यावसायिक संस्थाओं को आसान शर्तो पर ऋण उपलब्ध करवाकर इनके संचालन को सम्भव बनाता है ।
12. **कर्मचारी हितों की रक्षा-** जब व्यवसाय को विपरीत परिस्थितियों का सामना करना होता है तो इसका सर्वाधिक नुकसान कर्मचारियों को ही उठाना होता है । व्यावसायिक संस्थायें ऐसे मे उनके वेतन, भलों में कटौती कर देती है तथा उनको मिलने वाले सेवानिवृति लाभों से भी वंचित कर दिया जाता है । व्यवसायी ऐसे में बीमा करवाकर सेवानिवृति लाभों को सुरक्षित कर सकते है ।
13. **प्रमुख व्यक्तियों की हानि से सुरक्षा-** किसी भी व्यवसायिक संस्था की सफलता कुछ प्रमुख व्यक्तियों को निरन्तर मिलने वाली सेवाओं पर निर्भर करती है । इन व्यक्तियों की मृत्यु अथवा संस्था को छोड़कर चले जाने पर व्यावसायिक संस्था का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है । ऐसे में व्यवसाय इन प्रमुख व्यक्तियों का जीवन बीमा करवा लेता है । जिससे इन व्यक्तियों की मृत्यु की स्थिति में बीमा के द्वारा क्षतिपूर्ति के रूप में भारी राशि प्राप्त हो जाती है । जिससे ये संस्थाये उतने योग्य दूसरे व्यक्तियों को नियुक्त कर सकती हे

1. बीमा व्यवसायियों को हानियों के प्रति सदैव सचेत करवाता रहता है तथा उन्हे सुरक्षा उपाय अपनाने के लिए प्रेरित करता है ।
2. बीमा सार्वजनिक उपयोगिता प्रदान करने वाले एवं सेवा उपक्रमों में योगदान देता है ।
3. बीमा व्यवसाय एवं उद्योग में कार्यरत कर्मचारियों की सामाजिक सुरक्षा योजना की व्यवस्था को सम्भव बनाता है ।
4. बीमा व्यवसाय में कार्यरत मानव संसाधन के विकास एवं सदुपयोग को सम्भव बनाता है ।

6.3 बीमा का सामाजिक महत्व

बीमा समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी व्यवस्था है यह सम्पूर्ण समाजों को लाभान्वित करता है । सामाजिक दृष्टि से बीमा के प्रमुख लाभ निम्नलिखित है:

1. **सामाजिक बुराईयों की रोकथाम-** बीमा परिवार की आर्थिक आत्मनिर्भरता को बढ़ाता है जिससे सामाजिक बुराईयों यथा चोरी, भीख मांगना, शराब खोरी, नशावृति वैश्यावृति आदि पर कारगर रोक लगाना सम्भव होता है ।
2. **रोजगार के अवसरों का सृजन-** बीमा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से बड़ी मात्रा में रोजगार के अवसरो का सृजन कर समाज को बेरोजगारी की समस्या से छुटकारा दिलाता है ।
3. **गरीबी एवं पिछड़ेपन का अन्त-** बीमा देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास में सहायता उपलब्ध करता है । जिससे गरीबी एवं सामाजिक पिछड़ेपन की समस्या से छुटकारा मिल जाता है ।

4. **सामाजिक सभ्यता का प्रतीक-** बीमा सभ्य समाज की निशानी है जिस समाज में बीमा का अधिक प्रचलन होता है वह समाज सभ्य एवं इसके विपरीत समाज पिछड़ा हुआ माना जाता है ।
5. **जीवन स्तर को ऊँचा उठाना-** बीमा लोगो को बचत एवं विनियोग की सुविधा उपलब्ध कराता है जिससे समाज को जीवन स्तर ऊँचा उठाने मे योगदान मिलता है ।
6. **सामाजिक समस्याओं का समाधान-** बीमा अनेक जटिल सामाजिक समस्याओं जैसे-बेरोजगारी, अज्ञानता, अशिक्षा, पिछड़ापन, बीमारी आदि का समाधान करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता हैं । मेंहरे एवं केमैक नामक विद्वानों ने भी लिखा है कि "बीमा जटिल सामाजिक समस्याओं के समाधान में उपयोगी उपाय है । "
7. **शिक्षा के प्रसार में योगदान-** बीमाकर्ताओं द्वारा बच्चों की शिक्षा के लिए बीमापत्र जारी किया जाता है जिसे क्रय करके माता-पिता अपने बच्चों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध कर सकतें है । इसके अतिरिक्त बीमाकर्ताओ द्वारा प्रतिभावान एवं जरूरतमन्द छात्रों के लिए छात्रवृतियो की व्यवस्था की जाती है । बीमाकर्ता शिक्षा के लिए धन की व्यवस्था हेतु ऋण भी उपलब्ध कराते है ।
8. **सामाजिक सुरक्षा योजनाओं का क्रियान्वयन-** बीमा समाज के गरीब एवं पिछड़े वर्ग के लिए सामाजिक सुरक्षा योजनाओं के क्रियान्वयन का माध्यम है । भारत मे भारतीय जीवन बीमा निगम तथा साधारण जीवन बीमा निगम विगत कई वर्षो से सामाजिक सहायता की समूह बीमा योजनाएं तथा जनता दुर्घटना बीमा योजनाएं संचालित कर रहे है ।
9. **सामाजिक कल्याण कार्यो में योगदान-** बीमा समाज कल्याण के कार्यो के संचालन में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता है । भारत मे भारतीय जीवन बीमा निगम तथा साधारण जीवन बीमा निगम, भूतपूर्व सैनिकों असक्षम व्यक्तियों, अनुसूचित जातियों एवं जन जातियों के सदस्यो को रोजगार उपलब्ध करवाकर सामाजिक कार्यो के संचालन में अपनी भागीदारी निभाते है । समाज के कमजोर वर्गो के लिए भारतीय जीवन बीमा निगम ने 'जनता बीमा योजना' तथा साधारण जीवन बीमा निगम ने 'जनता व्यक्तिगत दुर्घटना' योजना प्रारम्भ की है । जिसमें बहुत कम प्रीमियम का भुगतान कर बीमा की सुरक्षा का लाभ उठाया जा सकता है ।
10. **सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति में सहायक-** बीमा की सहायता से पति-पत्नी एक दूसरे के प्रति, माँ-बाप अपने बच्चो के प्रति, सेवा योजक अपने कर्मचारियों के प्रति, उत्पादक अपने उपभोक्ताओं के प्रति अपने दायित्वों का भलीभाँति निर्वाह कर सकते हैं ।
11. **समाज मे आत्मनिर्भरता को बढ़ावा-** बीमा के माध्यम से लोग छोटी-छोटी राशि बचाकर तथा बड़ी जोखिमों का विभाजन कर आर्थिक आत्मनिर्भरता को प्राप्तकर सकते है । जिससे समाज में आत्मनिर्भरता को प्रोत्साहन मिलता है ।
12. **जन उपयोगी सुविधाओं के विकास में योगदान-** बीमा जन उपयोगी सेवायें यथा जल, विद्युत, आवास, यातायात, स्वच्छता, सन्देशवाहन आदि प्रदान करने वाले उपक्रमों की स्थापना एवं विकास के लिए पूँजी का प्रबन्ध कर तथा उनकी जोखिम के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान कर उनके विकास मे अपनी महत्ती भूमिका निभाते है जिससे समाज को इन सेवाओं के उपयोग का लाभ मिलता है तथा सामाजिक जीवन स्तर ऊँचा उठता है ।

13. **सामाजिक परिवर्तन का माध्यम-** बीमा समाज के सोचने के ढ़ंग, जीवन स्तर, जीवन की किस्म रहन सहन, शिक्षा के स्तर आदि में परिवर्तन लाकर सामाजिक परिवर्तन का सूत्रपात करता है । इसके अतिरिक्त भी बीमा द्वारा अन्य कई समाज उपयोगी सेवायें प्रदान की जाती है जिनमें से कुछेक प्रमुख निम्नलिखित है ।
14. बीमा अन्य कई परोपकारी कामों के संचालन में योगदान देकर समग्र सामाजिक कल्याण में वृद्धि करता हे
15. बीमा निरन्तर लोगों को स्वास्थ्य रक्षा के प्रति सचेत करता है जिससे समाज के स्वास्थ्य की रक्षा होती है ।
16. बीमा प्रचार माध्यमों के प्रयोग से लोगो को हानियों से बचाव के लिए सर्तक करता है जिससे सामाजिक सम्पत्तियों की सुरक्षा सुनिश्चित होती है ।
17. बीमा आवश्यकता के समय सहायता उपलब्ध करवाकर परिवार के विघटन को रोकता है जिससे सामाजिक समरसता तथा सामाजिक संरचना की रक्षा होती है ।

6.4 बीमा की राष्ट्र के लिए उपादेयता या महत्व

1. **राष्ट्रीय आय में वृद्धि -** बीमा के माध्यम से नागरिक बचत एवं विनियोग करते है । जिससे राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है ।
2. **देश में विदेशी विनिमय कोष में योगदान -** विदेशों में बीमा व्यवसाय करके बीमाकर्ता विदेशी मुद्रा का अर्जन करते है । जिससे देश के विदेश विनिमय भण्डार में वृद्धि होती है ।
3. **प्राथमिक अंश पूजी बाजार के विकास में सहायक -** बीमा नव स्थापित एव सुस्थापित कम्पनियों द्वार जारी अंशों, ऋणपत्रों व अन्य प्रतिभूतियों का क्रय एवं अभिगोपन करते है जिससे देश में संगठित प्राथमिक अंश पूँजी बाजार के विकास को बल मिलता है ।
4. **द्वितीयक पूँजी बाजार के विकास में योगदान -** बीमाकर्ता अपने विशाल संचित कोषों एवं प्रीमियम की राशि का उपयोग अंश विनिमय केन्द्रों के माध्यम से प्रतिभूतियों में विनियोग करते है जिससे इन केन्द्रों के सुव्यवस्था विकास को योगदान मिलता है ।
5. **मुद्रा प्रसार पर नियंत्रण -** बीमा पत्र को क्रय करने पर बीमित जो प्रीमियम के रूप में धन बचाकर बीमाकर्ता के पास जगा करवाते है वह बाजार में जाने से रूक जाता है जिससे मुद्रा प्रसार पर नियंत्रण में सहायता मिलती है ।
6. **बेरोजगारी की समस्या के हल में सहायक -** बीमा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप मे बड़ी मात्रा में रोजगार के अवसर उत्पन्न करता है जिससे बेरोजगारी की समस्या के हल में मदद मिलती है ।
7. **राष्ट्रीय समस्याओं के हल में सहायक-** बीमा अनेक राष्ट्रीय समस्याओं यथा बेकारी, बीमारी निर्धनता, अशिक्षा, अवासीय स्वच्छता, पिछड़ापन आदि के हल में अपना महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है ।
8. **विकास कार्यक्रमों के लिए पूँजी की उपलब्धता -** कल्याणकारी सरकार होने के कारण सरकार जनता के हित के लिए अनेक विकास कार्यक्रमों का संचालन करती है । जिनके सफल क्रियान्वयन के लिए बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है । बीमाकर्ता अपने विशाल संचित कोषो का एक

बड़ा भाग इन कार्यक्रमों मे विनियोजित करते है । जिससे इनकी सफल क्रियान्विति सुनिश्चित होती है ।

9. **राष्ट्रीय महत्व के उपक्रमों मे विनियोजन -** देश के कुछ उपक्रमों का विकास राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी होता है । इन उपक्रमों का विकास अत्यन्त जोखिमपूर्ण होता हैं तथा इनमें भारी मात्रा में पूँजी विनियोजनक की आवश्यकता होती है । बीमा इनमें सन्निहित जोखिमों के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करके तथा इनमें पूँजी विनियोजन करके इनकी स्थापना एवं विकास को सम्भव बनाता है ।
10. **उद्योग धन्धों के विकास में सहायक -** बीमा उद्योगों मे आवश्यक पूँजी का विनियोजन कर तथा उन्हे जोखिम के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान कर देश में औद्योगिकीकरण का मार्ग प्रशस्त कर्ता है ।
11. बीमा राष्ट्र के समग्र विकास को सम्भव बनाता है ।
12. बीमा विदेशी व्यापार की जोखिमों के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान कर देश का विदेशी व्यापार बढ़ाता है।
13. बीमा राष्ट्र के आधारभूत औद्योगिक ढाँचे के विकास मे अपना योगदान देता हैं ।
14. बीमा जन उपयोगी सेवाओं के विकास में योगदान प्रदान कर राष्ट्र के जीवन को समुन्नत करता है ।
15. बीमा देश के नागरिक के विचारों एवं चिन्तन के ढंग में परिवर्तन लाकर उन्हे जागरूक नागरिक बनता है।
16. बीमा हानियों के प्रति सतर्कता पैदाकर राष्ट्र की सम्पतियों को विनाश से बचाता है ।

13.7 बीमा की सीमायें (Limitations of Insurance)

आधुनिक युग में बीमा समाज के लिए अपरिहार्य सा हो गया है । जैसे ऊपर बताया जा चुका है कि बीमा से व्यक्ति को, परिवार को, व्यवसाय को, समाज को तथा सम्पूर्ण राष्ट्र को अनेक लाभ मिलते है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि बीमा दोष रहित है, अथवा बीमा की कोई सीमाएं नही हैं । बीमा की अनेक सीमायें है । जिनमें से कुछेक प्रमुख निम्नलिखित है ।

1. **ऊँची प्रीमियम दरें -** भारत में बीमा प्रीमियम की दरें विश्व के अन्य प्रमुख देशों की तुलना में अत्यधिक ऊँची है ।
2. **ऊँची संचालन लागत -** भारत मे बीमाकर्ता प्राप्त प्रीमियम की राशि का लगभग 20 प्रतिशत भाग संचालन पर खर्च कर देते है । जिसके कारण प्रीमियम की दरें काफी बढ़ जाती है ।
3. **नैतिक संकट -** भारत में कई बीमाकर्ता इसलिए अधिक सफल नही होते है कि उन्हे बीमितों से नैतिक संकट का सामना करना पड़ता है । कई बीमित झूठे दावों के आधार पर बीमाकर्ताओ से बड़ी-बड़ी राशियां वसूल कर लेते है । जिसका नुकसान साधारण एवं ईमानदार बीमितों को ऊंची प्रीमियम के रूप में चुकाना होता है ।
4. **सभी जोखिमों का बीमा नही करवाया जा सकता -** बीमा केवल शुद्ध जोखिमों का ही होता है । परिकल्पी जोखिमों का बीमा नही करवाया जा सकता । जबकि हानि ऐसी जोखिमों के कारण भी होती है ।

5. **एकांकी व्यक्ति की जोखिम का बीमा सम्भव नहीं -** ऐसी जोखिमों के विरूद्ध ही बीमा करवाया जा सकता है । जिनमें एक ही साथ एक बढ़ी संख्या में लोग घिरे हुए है । ऐसी जोखिम जिनसे केवल एक या सीमित संख्या में व्यक्ति घिरे हों, का बीमा सम्भव नही होता ।
6. **वास्तविक हानि के माप की असम्भावना -** ऐसी हानियाँ जिनका मुद्रा में माप नहीं किया जा सकता उसका बीमा सम्भव नही है ।
7. **सभी मुद्रा जोखिमों का बीमा नहीं किया जाता -** कई ऐसी शुद्ध जोखिमें होती है, जिसमें हानि की सम्भावना बहुत अधिक होती है । ऐसी जोखिमों के प्रस्ताव को या तो स्वीकार ही नही किया जाता या फिर बहुत ऊँची प्रीम्यिम दर पर ऐसा किया जाता है । इस प्रकार समस्त शुद्ध जोखिमों का नही वरन् सुनी हुई शुद्ध जोखिमों का ही बीमा सम्भव है ।
8. **बीमा योग्यहित की उपस्थिति आवश्यक -** बीमा तभी सम्भव है जबकि बीमित का बीमित विषय वस्तु में बीमा योग्य हित हो अन्यथा नही ।
9. **विनियोग पर पर्याप्त प्रतिफल नही -** बीमितों की कठिन परिश्रम की कमाई में से बचाई गई राशि में से बीमा में किया गया विनियोग पर मिलने वाला प्रतिफल अत्यन्त कम होता है, जिससे लोगो में बीमा के प्रति कोई उत्साह नही रहता।

अभ्यास हेतु प्रश्न

1. बीमा को परिभाषित कीजिए?
2. बीमा की प्रकृति एवं विशेषताओं को समझाइये?
3. बीमा के आधारभूत कार्यो का वर्णन कीजिए?
4. बीमा के अप्रत्यक्ष कार्यो का विवेचन कीजिए ।
5. बीमा की व्यक्ति एवं परिवार के लिये उपयोगिता बतलाईये ।
6. बीमा की समाज के लिए उपादेयता का सविस्तार वर्णन कीजिए ।
7. बीमा के व्यावसायिक एवं आर्थिक महत्व पर प्रकाश डालिए ।
8. बीमा के राष्ट्र के लिए महत्व को समझाइये ।
9. बीमा की सीमाओं की विवेचना कीजिए ।
10. बीमा के विविध प्रकारों का संक्षेप में वर्णन कीजिए ।

इकाई 14 व्यावसायिक जोखिम एवं बीमा

इकाई की रूपरेखा :-

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 जोखिम का अर्थ एवं परिभाषा
14.3 जोखिमों का वर्गीकरण
14.4 जोखिम समाधान की विधियाँ
14.5 बीमा योग्य जोखिमों के लक्षण
14.6 जोखिम का प्रबन्ध
14.7 जोखिम एवं बीमा

14.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप-
जोखिम का अर्थ समझ सकेंगे ।
जोखिम कितनी प्रकार की होती है, उसे जान सकेंगे ।
जोखिम का समाधान कैसे किया जाय, उन विधियों का अध्ययन कर पायेंगे ।
बीमा योग्य जोखिमों में प्रमुख कौन-कौन से लक्षण होने चाहिये, उन्हें समझ सकेंगे ।
जोखिम का प्रबन्धन कैसे किया जाए, उसे जान सकेंगे ।
जोखिम और बीमा के बीच के सम्बन्ध को समझ सकेंगे ।

14.1 प्रस्तावना

आधुनिक समय में व्यक्ति एवं व्यवसाय के दैनिक जीवन में जोखिमों का आना एक सर्वमान्य सत्य हैं । विज्ञान एवं तकनीकी विकास ने एक ओर मनुष्य को विभिन्न उन्नत एवं आधुनिकतम साधनों के उपयोग का अवसर दिया है तो दूसरी ओर उसे आणविक प्रक्षेपास्त्रें के फैलते कुहरे में अगले ही पल जीवित हरने के प्रति संशकित बना दिया है । सभी आधुनिकतम साधनों ने सुविधाओं के साथ जोखिम भी बढ़ाई हैं । मनुष्य द्वारा निर्मित जोखिमों के अतिरिक्त अनेक प्राकृतिक जोखिमों यथा बाढ़, भूकम्प, आग, आँधी एवं तूफान जैसी आ पदायें भी मनुष्य को घेरे रहती हैं । वृद्धावस्था. विकलांगता, मृत्यु एवं दुर्घटना आदि भी मनुष्य जीवन के इर्द-गिर्द घूमने वाली जोखिमें हैं । बीमा की अवधारण ही मनुष्य के सामान्य एवं व्यावसायिक जीवन में आने वाली जोखिमों को कम करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है ।

14.2 जोखिम का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning & Definition of Risk)

सामान्य भाषा में जोखिम से आशय किसी आपदा (Peril) या संकट (Hazards) से उत्पन्न हानि की 'सम्भावना रो हैं । किन्तु बीमा का अध्ययन एवं अध्यापन करने वाले जोखिम से आशय 'हानि या क्षति की अनिश्चितता अथवा सम्भावना' के अर्थ में लेते हैं ।

वैबस्टर शब्दकोश के अनुसार, " किसी हानि, चोट, क्षति या विनाश की सम्भावना जोखिम हैं ।"

फ्रेंक नाइट के अनुसार, "जोखिम एक गणनायोग्य अनिश्चितता है ।" इस प्रकार जोखिम से आशय किसी प्रतिकूल घटना द्वारा हानि होने की सम्भावना एवं तत्सम्बन्धित अनिश्चितता से हैं ।

14.3 जोखिमों का वर्गीकरण (Classification of Risk)

सामान्यतया जोखिम को दो भागों में बाँटा जा सकता है- आर्थिक एवं अनार्थिक । अनार्थिक जोखिम जैसे-प्रेम, आदर, प्रतिष्ठा आदि से सम्बन्धित जोखिमें । बीमा के अन्तर्गत आर्थिक जोखिमों का ही स्थान होता हैं । अनार्थिक जोखिमों का बीमा नहीं किया जा सकता हैं ।

समस्त जोखिमों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है:

(क) शुद्ध जोखिम तथा (ख) परिकल्पी जोखिम ।

(क) शुद्ध जोखिम (Pure Risk): शुद्ध जोखिम से आशय ऐसी जोखिम से हैं जिसमें नुकसान या क्षति होने की ही सम्भावना रहती है, लाभ की नहीं । उदाहरण के लिए चोरी, दुर्घटना, अग्नि व अन्य दुर्भाग्य से उत्पन्न होने वाली जोखिम । इस प्रकार की जोखिम से हानि की सम्भावना बनती हैं, लाभ प्राप्ति की नहीं । बीमा शुद्ध जोखिम का ही होता हैं क्योंकि इसमें हानि की सुरक्षा का उद्देश्य रहता हैं । उसे लाभ प्राप्ति का साधन नहीं बनाया जा सकता हैं ।

शुद्ध जोखिम को हम तीन भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं-

(1) व्यक्ति सम्बन्धी जोखिम (Personal Risk): यह जोखिम जिसका सम्बन्ध व्यक्ति की मृत्यु, बीमारी, दुर्घटना, अपंगता, वृद्धावस्था आदि से हैं उसे व्यक्ति सम्बन्धी जोखिम कहते हैं ।

(2) सम्पत्ति सम्बन्धी जोखिम (Property Risk): ऐसी जोखिम जो सम्पत्ति या माल के क्षति या चोरी होने, अग्नि या प्राकृतिक आपदा के कारण नष्ट होने के कारण उत्पन्न होती है ।

(3) दायित्व सम्बन्धी जोखिम (Liability): ऐसी अनिश्चितता जिसके कारण तीसरे पक्ष के प्रति कोई दायित्व उत्पन्न होने की सम्भावना होती है उन्हें दायित्व सम्बन्धी जोखिम हैं । दुर्घटना में घायल होने वाले व्यक्ति की क्षतिपूर्ति करना इसका एक अच्छा उदाहरण हैं ।

यद्यपि शुद्ध जोखिमों में से कुछ जोखिमें मामूली हो सकती है तो कुछ काफी बड़ी । जोखिमे जो बहुत बड़ी हैं उनकी चिन्ताओं से मुक्त रहने के लिए व्यक्ति इनके विरूद्ध सुरक्षा प्राप्त करने का तरीका ढूंढता हैं । शुद्ध जोखिमों का सही प्रकार गणना कठिन होती हैं, किन्तु अधिकांश जोखिमों की गणना किया जाना संभव है । अत: शुद्ध जोखिम ही बीमा योग्य मानी जाती हैं ।

(ख) परिकल्पी जोखिम (Speculative Risk): यह वह जोखिम है जिसके अन्तर्गत लाभ एवं हानि होने की सम्भाविता समान पाई जाती है । एक व्यापारी वस्तुओं के मूल्यों में उतार-चढ़ाव द्वारा लाभ भी कमा सकता हैं और उसे हानि भी हो सकती हैं । परिकल्पी जोखिमों पर अनेक तत्वों का असर पडता है, जैसे नवाचार प्रतिस्पर्धा, सरकारी नीतियाँ,

आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दशाएँ प्रबन्धकीय नीतियाँ तकनीकी परिवर्तन एवं फैशन आदि ।

परिकल्पी जोखिमों का बीमा सम्भव नही होता हैं क्योंकि ऐसी जोखिमे सम्पूर्ण समाज के लिए हानिकारक नहीं कही जा सकती है । इनमें से कुछ व्यक्ति लाभ कमाते हैं तो कुछ हानि उठाते हैं । कई कारणों से ऐसी जोखिमों का बीमा सम्भव नहीं होता है, जैसे जोखिम की सही गणना न हो पाना, प्रिमियम निर्धारण में कठिनाई नैतिक सकट आदि । परिकल्पी जोखिमों को तीन भागों में बाँटा जा सकता हैं :

1. **प्रबन्धकीय जोखिम (Managerial Risk):** यह वह जोखिम है जो संस्था के विभिन्न साधनों के प्रबन्ध सम्बन्धित हैं उसे प्रबन्धकीय जोखिम कहते हैं । यह जोखिम बाजार, वित्त एवं उत्पादन सम्बन्धी हो सकती हैं ।
2. **राजनैतिक जोखिम (Polictical Risk):** ऐसी जोखिम जो राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक घटना चक्र के कारण उत्पन्न हो उसे राजनैतिक जोखिम कहते हैं । उदाहरण के लिए युद्ध छिड़ना, अन्य देशों से सम्बन्धों में गिरावट आना, एक दलीय सरकार का गठन नहीं होना आदि ।
3. **नवाचार सम्बन्धी जोखिम (Innovation Risk):** संस्थाओं गे नवीन उत्पादन विधि या तकनीक को अपनाना, नवीन उपक्रम की स्थापना करना, नये बाजारों में प्रवेश करना एवं नवीन उत्पादों का निर्माण आदि से सम्बन्धित जोखिम नवाचार जोखिम की श्रेणी गे आती हैं ।

14.4 जोखिम समाधान की विधियाँ (Methods of Handling Risk):

जोखिम के समाधान की प्रमुख विधियाँ निम्नानुसार है:

1. जोखिम से बचना, जोखिम को निवारण,
2. जोखिम को वहन करना
3. जोखिम का हस्तान्तरण तथा
4. जोखिम का बीमा ।

1. **जोखिम से बचना (Avoiding the Risk):** यह जोखिम के समाधान का सर्वाधिक प्राचीन एव सरल उपाय हैं । इस विधि में कोई व्यक्ति जोखिम से दूर रहकर जोखिम का समाधार कर सकता हैं । यह इस सिद्धान्त पर आधारित है कि जोखिम नहीं तो हानि नहीं । ऐसे व्यवसायी जो नये उत्पाद को विकसित करने तथा नवीन आविष्कार एवं तकनीक के प्रयोग की लागत को वहन करने के इच्छुक नहीं होते, हमेशा जोखिम से बचने का प्रयास करते हैं । किन्तु कई जोखिमों के समाधान के लिए यह विधि उपयुक्त नहीं हैं ।
2. **जोखिम का निवारण (Prevention Risk):** इस विधि में कुछ ऐसे उपाय किये जाते है जिससे जोखिम की रोकथाम की जा सकें । उदाहरण के लिए संस्थानों में अग्निशामक यन्त्र लगाना, डकैती या चोरी के लिए चौकीदार अथवा ताले की व्यवस्था करना तथा भवन निर्माण हेतु भूकम्परोधक एव अग्निरोधक सामग्री का इस्तेमाल करना आदि । इसी प्रकार

एक व्यक्ति अपने जीवन की सुरक्षा के लिए समुचित व्यवस्था एवं चिकित्सा सुविधाओं के अतिरिक्त उचित सावधानी अपनाकर जोखिम को कम करने का प्रयास कर सकता है ।

3. **जोखिम को वहन करना (Assuming the Risk):** जोखिम समाधान की इस विधि में व्यक्ति भविष्य की सम्भावित हानि से बचने के लिए अलग से संचय कोष बनाते हैं तथा हानि होने पर उसका उपयोग करते हैं । उदाहरण के लिए व्यावसायिक संस्था द्वारा मशीनों के क्षय के लिए बस कोष तथा व्यावसायिक क्षेत्र में डूबत ऋण कोष' का निर्माण एक प्रचलित रीति हैं । किन्तु, छोटी आकार की संस्थाओं एवं असाधारण जोखिमों के लिए यह विधि उपयुक्त नहीं हैं ।
4. **जोखिम का हस्तान्तरण (Transfer of Risk):** जोखिम की समस्या का समाधान इरा विधि में जोखिम का हस्तान्तरण किसी अन्य व्यक्ति या संस्था को कर दिया जाता हैं । उदाहरण के लिए स्टॉक एक्सचेंज मार्केट में सुरक्षात्मक (Hedging) सौदों द्वारा व्यापारी या दलाल या सदस्य अपनी जोखिम का हस्तान्तरण करते हैं । इसी प्रकार उप-ठेका या जमानत देना भी जोखिम हस्तान्तरण के तरीके हैं, परन्तु यह तरीका केवल परिकल्पी जोखिम में ही सम्भव हैं क्योकि शुद्ध जोखिम में हानि हस्तान्तरित नहीं की जा सकती हैं ।
5. **जोखिम का बीमा (Insurance of Risk):** समस्त जोखिमों को उपर्युक्त तरीकों द्वारा पूर्णत: नियन्त्रित नहीं किया जा सकता हैं । बीमा ही एक ऐसा तरीका है जो जोखिमों के विरूद्ध सुरक्षा तथा निश्चितता प्रदान करता हैं । इसके अन्तर्गत एक व्यक्ति या संस्था एक निश्चित प्रिमियम देकर अपनी जोखिम का हस्तान्तरण बीमा कम्पनी को कर देता हैं । यह जोखिम के विरूद्ध सुरक्षा का एक व्यापक एवं वैज्ञानिक आधार हैं । आज विज्ञान ने मानव जीवन में क्षति की सम्भावनाओं को बहुत बढ़ा दिया हैं, दुर्घटनाएँ व उपद्रव तो जीवन का अंग बन गये हैं । अत: इन तत्वों, जोखिमों, आपदाओं तथा अनिश्चितताओं ने बीमा को अत्यावश्यक बना दिया है ।

उपर्युक्त इन विभिन्न उपायों द्वारा जोखिम को कम किया जा सकता हैं, परन्तु इन उपायों से जोखिम सम्बन्धी हानि का पूर्ण समाधान सम्भव नहीं है ।

14.5 बीमा योग्य जोखिमों के लक्षण (Essentials of Insurance Risk):

सभी प्रकार की जोखिमों का बीमा नहीं करवाया जा सकता हैं । यह निश्चित करने के लिए उस जोखिम के प्रमुख लक्षणों अथवा विशेषताओं पर ध्यान देना आवश्यक है । बीमा योग्य जोखिमों में निम्नानुसार विशेषताएँ पाई जानी चाहिए :

1. **शुद्ध जोखिम :** शुद्ध जोखिम वह होती है जिसमें केवल हानि या क्षति की सम्भावना रहती है, लाभ होने की नहीं । केवल शुद्ध जोखिमें ही बीमा योग्य जोखिमें होती हैं । परिकल्पी जोखिमों का बीमा नहीं करवाया जा सकता हैं ।

2. **जोखिमों की आकस्मिक प्रकृति :** आकस्मिक प्रकृति की जोखिमों का ही बीमा करवाया जा सकता हैं । जोखिमों या किसी घटना का घटित होना निश्चित हो, उनका बीमा सम्भव नहीं होता है ।
3. **महत्वपूर्ण जोखिमें :** हल्की-फुल्की या नगण्य नहीं होनी चाहिए अन्यथा कोई भी बीमा नहीं करवायेगा । जोखिम इतनी महत्वपूर्ण या बड़े आर्थिक नुकसान की आशंका वाली होनी चाहिए ताकि इस हानि से सुरक्षित होने की आवश्यकता महसूस की जा सके ।
4. **गणना योग्य जोखिम :** जोखिम से उत्पन्न हानि गणना योग्य या मापनीय होनी चाहिए तब ही वह बीमा योग्य जोखिम कहलाती हैं । हानि की गणना ना किये जा सकने पर उसका प्रिमियम निर्धारित करना असम्भव एवं कठिन कार्य हो जाता हैं ।
5. **वैध जोखिम :** वैध जोखिमों का ही बीमा हो सकता हैं । अत: अवैध अथवा लोक नीति के प्रतिकूल जैसे जुए की जोखिम, अवैध हथियार या तस्करी की जोखिम आदि का बीमा कराना सम्भव नहीं हैं ।
6. **अनेक व्यक्तियों की जोखिमें :** जोखिम ऐसी होनी चाहिए जिससे अनेक व्यक्ति घिरे हुए हो । बीमितों की संख्या अधिक होने पर बीमा की लागत उचित प्रकार से अनुमानित की जा सकती हैं । कम व्यक्तियों की दशा में बीमा का प्रिमियत अधिक या हानि के बराबर आ सकता है । अत: बीमा कराना लाभप्रद नहीं होता है ।
7. **अत्यधिक विनाशकारी जोखिम न हो :** जिन घटनाओं में हानि की मात्र अत्यधिक होती है उनकी बीमा करवाने की लागत बहुत ऊँची होती है, अत: इनका बीमा कराना उचित नहीं होता है । जैसे बाढ़, तूफान, भूकम्प आदि की जोखिम का बीमा कराना लागत के दृष्टिकोण से बहुत मंहगा सिद्ध होगा । प्रीमियत दर अधिक आने के कारण इनमें बीमा करवाने वालों की संख्या भी कम पाई जाती हैं ।

14.6 जोखिम का प्रबन्ध (Management of Risk):

जोखिम जीवन एवं व्यवसाय में सर्वत्र व्याप्त हैं जिसे समाप्त तो नहीं किया जा सकता, लेकिन उसका प्रभावी प्रबन्ध अवश्य किया जा सकता हैं । अत: श्रेष्ठ प्रबन्ध व्यवस्था से जोखिम के भार में कमी लाने का प्रयास किया जा सकता है । जोखिम का प्रबन्ध एक गतिशील प्रक्रिया है जिसमें निम्नलिखित कदम सम्मिलित किये जाते हैं :

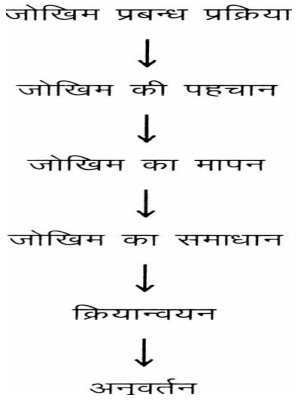

उपर्युक्त दर्शाई गई जोखिम प्रबन्ध प्रक्रिया का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है

1. जोखिम की पहचान (Identification of Risk): जोखिम प्रबन्ध प्रक्रिया में सर्वप्रथम जोखिम की पहचान करनी चाहिए । इस हेतू व्यवसायी को अपनी संस्था के सामने कौन-कौन रो संकट या आपदाएँ हैं जिनके कारण हानि या क्षति होने की सम्भावना हैं, का पता लगाना चाहिए । इसके अन्तर्गत सामान्य एवं असामान्य कारणों को सम्मिलित किया जा सकता हैं । उदाहरण के लिए संस्था की प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति, संगठन संरचना, संस्था के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं व्यावसायिक वातावरण आदि । पिछले अनुभव एवं वर्तमान की परिस्थितियों के आधार पर जोखिम के स्रोतों का पता लगाना बहुत आसान होगा ।

2. जोखिम का मापन (Measurement of Risk): जोखिम की पहचान के तत्पश्चात् जोखिम के मापन या मूल्यांकन का कार्य आता है । विभिन्न सांख्यिकीय एवं गणितीय विधियों की मदद से सम्भावित जोखिम की मात्र का पता लगाया जा सकता हैं । जब कुछ हानियाँ कम मात्रा वाली होती है तो उनकी सरलता से उपेक्षा की जा सकती हैं, लेकिन जो हानियाँ बड़े स्तर की हैं उसकी मात्रा का ज्ञान आवश्यक हैं जिससे की उनका बीमा कम्पनी से बीमा कराया जा सकें ।

3. जोखिम का समाधान (Dealing with the Risk): जोखिम की मात्रा का पता लग जाने के पश्चात् उसके समाधान या नियन्त्रण का कदम आता हैं । जोखिम समाधान के अनेक तरीके हैं- जोखिम को कम करना, जोखिम को स्वयं धारण करना, जोखिम से बचना तथा जोखिम का बीमा कराना आदि । जोखिम प्रबन्ध में इन तरीकों में से किसी एक या अधिक तरीकों का अपनी सुविधानुसार चुनाव करना पड़ता हैं ।

4. क्रियान्वयन (Execution): जोखिम समाधान के विभिन्न तरीकों का क्रियान्वयन कुशल तरीके से किया जा सकें, इसके लिए समुचित सतर्कता बरतनी होगी । प्रत्येक उपाय के सम्बन्ध में किये गये खर्च, उठाई गई हानि, प्राप्त क्षतिपूर्ति, प्रिमियम का भुगतान आदि तथ्यों का स्पष्ट लेखा-जोखा रखा जाना आवश्यक हैं । इन तथ्यों के आधार पर लागत एवं जोखिम की सुरक्षा का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकेगा ।

5. अनुवर्तन (Follow-up): जोखिम प्रबन्ध हेतु प्रयोग में ली गई प्रक्रिया हमेशा खरी उतरे, यह आवश्यक नहीं है । उसमें सुधार की आवश्यकता हो सकती है, अत: इसका निरन्तर मूल्यांकन एवं निरीक्षण करते रहना चाहिए । इससे एक तरफ गलतियाँ दूर करने में सहायता मिलेगी तथा दूसरी ओर यह भविष्य का मार्गदर्शक बन सकेगी ।

14.7 जोखिम एवं बीमा (Risk and Insurance):

जोखिम मनुष्य के जीवन एवं व्यवसाय का आवश्यक अंग हैं । भारत के पूर्व प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है कि "जोखिम सर्वव्यापी है, सभी वस्तुओं, सभी सजीवों में विद्यमान हैं, जो सभी के अस्तित्व में अन्तर्निहित हैं ।" इतिहास उठाकर देखे तो पता चलेगा कि मनुष्य सैकड़ों वर्षो से सुरक्षा के उपाय करता रहा है । उसने जोखिमों से सुरक्षा पाने तथा अनिश्चितताओं से मुक्ति पाने के लिए अनेक उपाय खोजें हैं । बीमा भी उन सभी उपायों में से एक उपाय हैं जिसके द्वारा एक व्यक्ति अपनी जोखिमों एवं अनिश्चितताओं को निश्चित कर सकता हैं ।

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने बीमा को अलग-अलग तरह से परिभाषित किया है, लेकिन कुछ समाजशास्त्रियों ने बीमा को 'जोखिम से सुरक्षा का उपाय (A device of protection against risks) "जोखिमों के विभाजन की सामाजिक विधि, 'दुर्भाग्य के विरूद्ध सुरक्षा', 'जोखिम के फैलाव का एक सहकारी उपाय' आदि माना हैं । सर विलियम बेवरिज के शब्दों में 'सामूहिक रूप से जोखिम उठाना ही बीमा हैं । अत: बीमा एक सामाजिक उपाय है, जिसके अन्तर्गत एक बहुत बड़ी संख्या में लोग एक संगठन के अन्तर्गत किन्हीं जोखिमों से सुरक्षा पाने के लिए अंशदान (प्रिमियम) देकर एक कोष का निर्माण करते हैं तथा उस कोष से उन जोखिमों से प्रभावित सदस्यों की क्षतिपूर्ति की जाती है ।

बीमा प्रत्येक व्यक्ति एवं व्यावसायिक संस्था को जोखिम से सुरक्षा प्रदान करता है । प्रत्येक व्यक्ति अपना बीमा करवाकर सुरक्षित हो सकता हैं । दुर्घटना बीमा करवाकर जीवन में सम्भावित दुर्घटनाओं की जोखिम को निश्चित सकता है । इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति माल या सम्पत्ति यथा मकान, फर्नीचर, मूल्यवान वस्तुओं धनराशि आदि का अग्नि, चोरी, डकैती का बीमा करवाकर सुरक्षित हो सकता है । व्यावसायी भी अपने माल मशीन, कर्मचारी आदि का बीमा करवा कर सुरक्षित हो सकता हैं । इस प्रकार बीमा सभी व्यक्तियों को हानियों या जोखिमों से सुरक्षा प्रदान कर सकता है ।

शब्दावली

जोखिम : हानि या क्षति की सम्भाविता जोखिम कहलाती है । यह परिणाम की अनिश्चितता पर निर्भर करती हैं ।

आपदा (Peril) : घटना जो कि हानि का कारण है स्वयं हानि की अनिश्चितता नहीं है, आपदा कहते हैं ।

संकट (Hazards) : जिस आकस्मिक घटना के होने से हानि बढ़ने की सम्भावना हो उसे संकट कहते हैं ।

हानि : मूल्य में हुई कमी को हानि के नाम से जाना जाता हैं । यह सम्पत्ति या माल का बस है ।

प्रिमियम : यह वह धनराशि है जो बीमाकृत द्वारा सुरक्षा प्राप्ति के बदले प्रतिफल के रूप में बीमाकृत को भुगतान की जाती है । यह बीमा अनुबन्ध का प्रतिफल है जो कि बीमा कराने वालों को अग्रिम देना पड़ता है ।

शुद्ध जोखिम : इस प्रकार की जोखिम जिससे नुकसान होने की ही सम्भावना रहती है, लाभ कमाने की नहीं ।.

परिकल्पी जोखिम (Speculative Risk) : यह वह जोखिम है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अथवा संस्था को लाभ या हानि की सम्भाविता समान पाई जाती हैं ।

बीमा (Insurance) : बीमा जोखिम के विरूद्ध वित्तीय क्षतिपूर्ति का एक सहकारी उपाय तथा एक अनुबन्धात्मक सम्बन्ध हैं ।

बीमाकर्त्ता (Insurer) : बीमाकर्त्ता वह व्यक्ति या संस्था है जो किसी दूसरे व्यक्ति को जोखिमों से होने वाली हानि की पूर्ति का वचन देता हैं ।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. डॉ. आर. एल. नौलखा बीमा के तत्व (जयपुर : रमेश बुक डिपो 2004-2005)

2. जी. एस. सुधा: बीमा (जयपुर : मलिक एण्ड कम्पनी (प्रकाशन) चौड़ा रास्ता, 2004)
3. बालचन्द श्री वास्तव बीमा के तत्व (आगरा: साहित्य भवन,1994)
4. डॉ. के. के. शर्मा एवं डॉ. आर. के. कोठारी बीमा के सिद्धान्त (जयपुर : शील राईट बैल (प्रा. लि.) 1996-1997)
5. जे.पी. सिंघल: बीमा (जयपुर अजमेरा बुक कम्पनी (1994-95))

सारांश

मनुष्य का व्यावसायिक एवं व्यक्तिगत जीवन जोखिमों से परिपूर्ण हैं । शायद ही ऐसा कार्य हो जिसमें जोखिम विद्यमान न हो । व्यक्ति इन्ही जोखिमों के विरूद्ध सुरक्षा प्राप्त करने के ध्येय से बीमा की आवश्यकता महसूस करता हैं । किसी आपदा या संकट से उत्पन्न होने वाली हानि की सम्भावना को ही जोखिम के नाम से पुकारते हैं । जोखिम दो प्रकार की हो सकती हैं । प्रथम- शुद्ध जोखिम जहाँ केवल नुकसान की ही सम्भावना होती है लाभ की नहीं, द्वितीय-परिकल्पी जोखिम जिसमें लाभ या हानि की सम्भावना समान पाई जाती हैं । बीमा केवल शुद्ध जोखिम का ही सम्भव हैं । जोखिम समाधान के अनेक तरीके या विधियाँ हैं-जोखिम से बचना, जोखिम को कम करना, जोखिम का हस्तान्तरण, जोखिम को स्वयं वहन करना तथा जोखिम का बीमा करना ।

बीमा योग्य जोखिमों की विशेषताएँ या लक्षण प्रमुख रूप से इस प्रकार हैं- शुद्ध जोखिम का होना जोखिम काल्पनिक न होकर वास्तविक होना, बड़ी जोखिम का होना, वैध जोखिम, अधिक लोगों की जोखिम एवं गणना योग्य जोखिम आदि । जोखिम को समाप्त तो नहीं किया जा सकता है केवल इसे प्रबन्धित किया जा सकता है । जोखिम की पहचान, जोखिम का मापन, जोखिम का समाधान, क्रियान्वयन तथा अनुवर्तन जोखिम- प्रबन्ध प्रक्रिया के महत्वपूर्ण कद,म हैं ।

बीमा व्यक्ति और संस्था को जोखिम से सुरक्षा प्रदान करने का साधन हैं । आधुनिक समय में प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन, गाल एवं सम्पत्ति को विभिन्न जोखिमों से सुरक्षित रखने के लिए बीमा का सहारा लेता हैं । इसी प्रकार संस्था का मालिक भी अपने भवन, मशीन, गोदाम एवं कर्मचारियों का बीमा कराकर सम्भावित जोखिम से बच सकता है ।

स्वपरख प्रश्न

1. जोखिम को परिभाषित कीजिए । जोखिम के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए ।
2. जोखिम समाधान की विभिन्न विधियों का विस्तृत वर्णन कीजिए ।
3. बीमा योग्य जोखिम की विशेषताओं की स्पष्ट विवेचना कीजिए तथा जोखिम प्रबन्धन प्रक्रिया को भी समझाइये।
4. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये-
   (क) परिकल्पी जोखिम
   (ख) प्रबन्धकीय जोखिम
5. बीमा जोखिमों के सामूहिक वहन को कहते हैं । " इस कथन को समझाइए तथा बीमा और जोखिम के बीच के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए ।

इकाई 15 परिवहन एवं परिवहन के साधन

इकाई की रूपरेखा :-

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 परिवहन का महत्व

15.2.1 आर्थिक रूप में

15.2.2 सामाजिक रूप में

15.2.3 राजनैतिक रूप में

15.3 परिवहन की विभिन्न प्रणालियाँ एवं उनका विकास

15.3.1 सड़क परिवहन

15.3.1.1 भारत में सड़कों का वर्गीकरण

15.3.1.2 पंचवर्षीय योजनाओं में सड़कों का विकास

15.3.1.3 भारत में सड़क परिवहन

15.3.2 रेल परिवहन

15.3.2.1 पंचवर्षीय योजनाओं में रेल विकास

15.3.2.2 रेल-सड़क परिवहन समन्वय

15.3.3 भारत में जल परिवहन

15.3.3.1 अन्तर्देशीय जल परिवहन

15.3.3.2 पंचवर्षीय योजनाओं में जल परिवहन का विकास

15.3.3.3 आन्तरिक जल परिवहन व अन्य साधनों में समन्वय की आवश्यकता

15.3.3.4 तटीय जहाजरानी

15.3.3.5 सामुद्रिक जहाजरानी एवं जहाज निर्माण

15.3.3.6 योजनाकाल में सामुद्रिक जहाजरानी व जहाज निर्माण की प्रगति

15.3.3.7 जहाज निर्माण उद्योग

15.3.3.8 जहाजरानी कम्पनियां

15.3.3.9 बन्दरगाहों का विकास

15.3.4 भारत में वायु परिवहन

15.3.4.1 भारत में वायु परिवहन का विकास

15.3.4.2 पंचवर्षीय योजनाओं में वायु परिवहन का विकास

15.4 परिवहन नियोजन के मुद्दे : आधुनिकीकरण व समन्वय

15.5 विभिन्न प्रणालियों में समन्वय

15.6 वर्तमान परिप्रेक्ष्य में परिवहन क्षेत्र के संदर्भ में नीतिगत उपाय

15.7 सारांश

15.8 बोध प्रश्न

15.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप-

- परिवहन का महत्व आधुनिक वैश्वीकरण अर्थव्यवस्थाओं एवं उनके आर्थिक विकास के संदर्भ में समझ सकेंगे।
- परिवहन के विभिन्न साधन तथा आर्थिक विकास में उनके सापेक्षिक महत्व की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- भारत में विभिन्न अवधियों में हुये सड़क, रेल, जल एवं वायु परिवहन के विकास का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगें ।
- आज के प्रतिस्पर्द्धी युग में परिवहन से जुड़ी विभिन्न समस्याओं से सम्बन्धित मुद्दे जैसे आधुनिकरण व समन्वय की जानकारी प्राप्त कर सकेंगें ।
- भारत में परिवहन विकास की आधुनिक व नवीनतम प्रवत्तियों की जानकारी हासिल कर सकेंगे और
- 21 वीं शताब्दी में परिवहन के क्षेत्र की प्रमुख चुनौतियों तथा इस क्षेत्र के संदर्भ में नीतिगत उपायों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

15.1 प्रस्तावना

देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास में परिवहन को रक्तवाहिनी माना जाता है । यह कहा जाय तो अतिश्योक्ति पूर्ण नहीं होगा कि परिवहन ही सभ्यता है । परिवहन न केवल आर्थिक एवं सामाजिक बल्कि मानवीय जीवन के प्रत्येक पहलू में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । परिवहन से आशय किसी भी भौतिक वस्तु मानव का किसी भी प्रकार से एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाने से होता है । आधुनिक युग में इसमें इस तथ्य को और सम्मलित कर लिया गया है कि यह कार्य कितनी शीघ्रता, सुरक्षा व मितव्ययता से किया जाता है । देश के तीव्र आर्थिक विकास में आधारभूत ढांचे के विकास को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है तथा आधारभूत ढ़ाचे के विकास में परिवहन एवं संचार के साधनों के विकास के साथ विद्युत उत्पादन की भूमिका अप्रश्नीय है । देश की समृद्धि के लिए कृषि, उद्योग, व्यापार बहुत महत्व रखते हैं परन्तु इन सभी का विकास बिना परिवहन के विकास के सम्भव नहीं है । यदि कृषि, उद्योग, व्यापार को अर्थव्यवस्था की काया समझा जाय तो परिवहन एवं संचार इसकी नसें है । इस प्रकार परिवहन अर्थव्यवस्था को सुद्रढ़ बनाये रखने की जीवन धारा है । इनके फलस्वरूप उत्पादन इकाइयों को संसाधनों तथा उपभोक्ताओं से दूर तथा विस्तृत क्षेत्र में अलग अलग स्थानों पर स्थापित किया जा सकता है ।

15.2 परिवहन का महत्व

परिवहन एवं संचार के क्षेत्र में हुई क्रांति की बदौलत दुनियां छोटी हो गई है । आज प्रत्येक मनुष्य शीघ्रताशीघ्र स्वयं तथा अपने सामान / वस्तुओं को विश्व के एक कोने रवे दूसरे कोने में पहुँचाना चाहता है । समय तथा स्थान संबंधी दूरी पर विजय प्राप्ति के लिए परिवहन की अपनी भूमिका है तथा इससे मानव जीवन का प्रत्येक क्षेत्र प्रभावित है । आज के प्रतिस्यर्द्धी युग में जहाँ देश का आर्थिक विकास

परिवहन पर निर्भर है, वही परिवहन का विकास भी आर्थिक विकास पर निर्भर है । हाल के वर्षो में देश के तीव्र एवं संतुलित क्षेत्रीय विकास की प्रक्रिया में परिवहन की बड़ी कमी महसूस की गई है । परिवहन के महत्व को स्पष्ट रूप से निम्नांकित बिंदुओं में अभिव्यक्त किया जा सकता है:

15.2.1 आर्थिक रूप में

विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं में आज भी कृषि क्षेत्र का महत्वपूर्ण योगदान है । सामान्यता कृषि के क्षेत्र एवं उसके विपणन के क्षेत्र अलग अलग स्थानों पर होते है । जहाँ कृषक को कृषि हेतु औजार, बीज, खाद आदि विभिन्न स्थानों से मंगाने होते है । उत्पादित कृषि जिन्सों का विक्रय दूरस्थ स्थानों पर करना लाभप्रद होता है । इस कार्य के लिए विकसित परिवहन के अवलम्बन की आवश्यकता होती है ।

औद्योगिक विकास में प्राकृतिक साधनों के समुचित विदोहन से लेकर कच्चा माल, श्रम मशीनों को पहुँचाने तथा निर्मित माल को दूरस्थ स्थानों पर विक्रयार्थ पहुंचाने के लिए परिवहन के लिए परिवहन के -साधनों की महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार. की गई है । आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था शून्य इन्वेटरी प्रणाली की ओर अग्रसर होने के कारण परिवहन के महत्व में ओर वृद्धि हो गई है ।

अर्थव्यवस्थाओं के वैश्वीकरण के साथ व्यापार का भी विस्तार हो रहा है । राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार निर्बाध रूप रो उत्तरोत्तर वृद्धि करता रहे इसके लिए परिवहन के साधनों का उन्नत होना आवश्यक है । परिवहन व्यवस्था ही व्यापार को शीर्ष स्थान पर पहुंचाती है ।

परिवहन के द्वारा सरकार को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से राजस्व की प्राप्ति के साथ देश में रोजगार में भी वृद्धि होती है । पर्यटन के विकास के कारण रोजगार और गतिशीलता में वृद्धि होती है । वर्तमान में देश की सीमाओं के बाहर जाकर कार्य करने की प्रवृत्ति को परिवहन के विकास ने ही प्रेरित किया है ।

15.2.2 सामाजिक रूप में

परिवहन के साधनों द्वारा समाज के विभिन्न व्यक्तियों को एक दूसरे से मिलने के अवसर प्राप्त होते हैं । परस्पर विचार विमर्श के फलस्वरूप जहाँ एक ओर आपसी समन्वय में वृद्धि होती है, वहीं दूसरी ओर छूआ छूत, जाति प्रथा आदि बुराइयों की समाप्ति भी परिवहन के विकास से सम्भव हुई है । परिवहन के साधनों के विकास ने समय व स्थान व स्थान की दूरी सम्बन्धी बाधाओं को दूर कर मानव में सामाजिकता विकसित की हैं ।

15.2.3 राजनैतिक रूप में

राजनैतिक विचारधाराओं का प्रसार परिवहन सेवाओं के द्वारा शीघ्रता से होता है । अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विस्तार का कारण उसकी जहाजरानी का विकसित होना था । अफगानिस्तान में तालिबान सरकार की पराजय में अमरीकी परिवहन व्यवस्था की महत्वपूर्ण भूमिका रही है ।

देश की सुरक्षा व्यवस्था व प्रशासनिक व्यवस्था की सफलता का आधार सशक्त परिवहन प्रणाली होती है । आंतरिक अशांति, भूकम्प, बाढ़, अकाल, महामारी आदि से निपटने में परिवहन सेवाएं अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध होती है ।

उपर्युक्त बिन्दुओं के अतिरिक्त शिक्षा प्रसार, संचार व्यवस्था के विकास, विदेशी मुद्रा अर्जन करने में परिवहन काफी उपयोगी है । प्रो. मार्शल के अनुसार, "हमारे इस युग की प्रमुख आर्थिक घटना निर्माणकारी उद्योगों के विकास की नहीं वरन् परिवहन के विकास की है । उद्योग एवं वाणिज्य का समूचा ढ़ाचां परिवहन की सुदृढ़ नींव पर टिका हुआ है ।"

15.3 परिवहन की विभिन्न प्रणालियाँ एवं उनका विकास

परिवहन को मुख्यत: तीन वर्गो में विभाजित किया जा सकता है ।

(1) स्थल परिवहन

(2) जल परिवहन

(3) वायु परिवहन

(1) स्थल परिवहन पुन: दो भागों में (अ) सड़क (ब) रेल परिवहन में विभाजित किया जा सकता है ।

(2) जल परिवहन को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

(अ) आन्तरिक जल परिवहन (ब) सामुद्रिक परिवहन ।

आन्तरिक जल परिवहन में देश विशेष की सीमा में ही नदियों, नहरों एक झीलों के जल परिवहन को सम्मलित किया जाता है । जबकि सामुद्रिक परिवहन समुद्रों में तटीय यातायात अथवा अन्तराष्ट्रीय जहाजी यातायात के रूप में सम्पन्न किया जाता है । इसमें एक बन्दरगाह से दूसरे बन्दरगाह तक आवागमन भी शामिल होता है ।

(3) **सड़क परिवहन:** यह परिवहन का द्रुतगामी साधन है और बीसवीं सदी की देन है । यह महंगा एवं जोखिम पूर्ण साधन है, लेकिन हगने विश्वभर के दूरस्थ स्थानों को नजदीक लाकर दुनियां को छोटा कर दिया है । भारत के संदर्भ में विभिन्न परिवहन प्रणालियों के विकास का वर्णन इस प्रकार से है :-

15.3.1 सड़क परिवहन

विकसित सड़क परिवहन औद्योगिक प्रगति, राष्ट्रीय समृद्धि तथा सामाजिक प्रगति का घोतक है । सड़के देश के शरीर की धमनियां व शिराएं है जिसके माध्यम से उत्पादन रूपी रक्त का संचार होता है । सड़के मनुष्यों, वस्तुओं एवं विचारों को देश के कोने कोने तक पहुंचाती है । सड़कों का विकास कृषि, उद्योग, व्यापार, राष्ट्रीय सुरक्षा, रोजगार, पर्यटन व प्रशासनिक सुदृढ़ता लिए अत्यंत आवश्यक है । भारत में प्राचीन काल में ही सड़कों के विकास पर ध्यान दिया गया था । मोहन जोदड़ो व हड़प्पा में अच्छी सड़क व्यवस्था थी परन्तु अंग्रेजी शासन काल में सड़क परिवहन पर उचित ध्यान न देने से स्थिति बिगड़ गई । ब्रिटिश शासन काल में सड़क परिवहन पर प्रथम संगठित प्रयास 1943 की नागपुर योजना से प्रारम्भ हुआ । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सड़कों की कुल लम्बाई 400 हजार किलोमीटर थी, 1995 - 96 में बढ़कर 3320 हजार किलोमीटर हो गई । राष्ट्रीय राजमार्गो की कुल लम्बाई 1950 - 51 में 22 हजार किलोमीटर थी वह वर्तमान में बढ़कर 57737 किलोमीटर हो गयी जो कुल सड़क परिवहन सम्बन्धी मांग की लगभग 45 प्रतिशत आवश्यकता को पूरा करती है । भारत का सडक नेटवर्क 30 लाख किलोमीटर रो भी अधिक है जो इसे विश्व के सबसे बड़े नेटवर्क में से एक होने का श्रेय देता

है तथापि सड़कों की गुणवत्ता अनुपयुक्त है और तीव्र गति से चलने वाले वाहनों की कार्यकुशलता को पूरा नहीं करती ।

15.3.1.1 भारत में सड़कों का वर्गीकरण

नागपुर योजना के अनुसार सड़कों को पाँच भागो में वर्गीकृत किया गया है- राष्ट्रीय राजमार्ग, प्रान्तीय सड़के, बड़ी जिला सड़कें, लघु जिला सड़कें एवं ग्रामीण सडकें । राष्ट्रीय राजमार्ग प्रणाली के विकास की जिम्मेदारी केन्द्र सरकार की है । राष्ट्रीय राजमार्ग की कुल लम्बाई देश में सड़कों की कुल लम्बाई का केवल 2 प्रतिशत है परन्तु इनके द्वारा सड़कों के राजमार्गो तथा जिला और ग्रामीण सड़कों की जिम्मेदारी राज्य सरकारों की है । सीमावर्ती क्षेत्रों में सडक परिवहन के विकास के लिए व 960 में सीमा सड़क विकास बोर्ड की स्थापना की गई थी । सीमा सड़क संगठन द्वारा लगभग 30 हजार किलोमीटर सड़को का निर्माण किया गया है ।

15.3.1.2 पंचवर्षीय योजनाओं में सड़कों का विकास

प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ के समय (1951) में भारत में पक्की सड़कों की कुल लम्बाई 160000 किलोमीटर और कच्ची सड़कों की लम्बाई 24000 किलोमीटर थी । सडक परिवहन पर प्रथम योजना में 135 करोड़ रूपये व्यय किये गये । दूसरी योजना में सड़कों के विकास पर 228 करोड़ रूपये व्यय किये गये जिसके फलस्वरूप पक्की सड़कों की लम्बाई बढ़कर 230000 किलोमीटर तथा कच्ची सड़कों की लम्बाई 4 लाख किलोमीटर हो गई है । तीसरी योजना में सड़क विकास के सम्बन्ध में हैदराबाद योजना, जो 1959 में बनाई गई, के उद्देश्यों को आधार बनाया गया । यह योजना 20 वर्षो (1961 -81) के लिए थी । इसके अनुसार 403000 किलोमीटर पक्की सड़कों तथा 6.48 लाख कि.मी. कच्ची सड़कों के लक्ष्य को प्राप्त करना आवश्यक था । योजना काल में सडक निर्माण पर 830 करोड़ रूपये व्यय किये गये । 1966 से 69 तक तीन वार्षिक योजनाओं में सड़कों के निर्माण पर 309 करोड रूपये के व्यय द्वारा व 10 हजार कि.मी. पक्की तथा 227 हजार किमी. कच्ची सड़कों का निर्माण किया गया । चौथी योजना (1969- 74) के दौरान सड़क परिवहन के विकास पर 1900 करोड़ रूपयों की व्यवस्था की गई और इससे 60 हजार कि.मी. अतिरिक्त सडकों के निर्माण का प्रबन्ध किया गया । पांचवी योजना में सड़कों के विकास के लिए 2059 करोड़ रूपयों का परिव्यय रखा गया । छठी योजना में (1980-85) में इस उद्देश्य के लिए 4634 करोड़ रूपयों के परिव्यय की व्यवस्था की गई । सातवीं योजना में सडक परिवहन पर 5200 करोड़ रूपये खर्च करने का प्रावधान रखा गया किन्तु वास्तविक व्यय 6300 करोड़ रूपये हुआ । सातवीं योजना में सड़कों की लम्बाई में 14 प्रतिशत की वृद्धि हुयी । योजना के अंत में पक्की सड़कों की लम्बाई 960 हजार कि.मी. हो गई तथा कच्ची सड़कों की लम्बाई 1080 हजार कि.मी. हो गई । 1990-91 एवं 1991-92 दो वर्षो में सड़कों की लम्बाई में 4000 कि.मी. की वृद्धि हुयी । आठवीं योजना (1992-97) में सड़कों के विकास पर 2600 करोड़ रूपये व्यय का प्रावधान रखा गया । आठवीं योजना में सड़क परिवहन की उत्पादकता में वृद्धि करने, सड़क नेटवर्क में निरन्तर विकास, राष्ट्रीय राजमार्ग व राज्य मार्गो की कमियों को दूर करने का प्रयास किया गया । भारतीय राष्ट्रीय राजमार्ग प्राधिकरण की स्थापना भारतीय राष्ट्रीय राजमार्ग प्राधिकरण अधिनियम, 1988 के अन्तर्गत की गई और फरवरी 1995 में इसका प्रचलन हुआ था । प्रारम्भ में इसे विदेशी सहायता प्राप्त पांच राष्ट्रीय राजमार्ग सुधार परियोजनाओं के कार्यान्वयन का कार्य सौंपा गया था जिसमें दो संघटकों

अर्थात (1) स्वर्ण चतुष्कोण जो दिल्ली, मुम्बई, चैन्नई और कलकत्ता चार महानगरों को जोड़ने वाले (5952 कि.मी.) और (2) उत्तर-दक्षिण एवं पूर्व-पश्चिम के गलियारों (7000 कि.मी.) जो क्रमश: कश्मीर से कन्याकुमारी तथा सिल्वर से सौराष्ट्र और सेलम से कोचीन को जोड़ते है, वाले 13252 कि.मी. के राष्ट्रीय राजमार्गो को 476 लेन बनाना शामिल है । राष्ट्रीय राजमार्ग विकास परियोजना की अनुमानित लागत 54000 करोड़ रूपये है ।

पहली नवम्बर 2000 को केन्द्रीय सड़क विधि अध्यादेश 2000 घोषित किया गया ताकि केन्द्रीय सड़क विधि के सजन को प्रभावी मंजूरी दी जा सके । पेट्रोल ओर हाई स्पीड डीजल पर अतिरिक्त उपकार के रूप में निश्चित प्रयोक्ता प्रभार लगा कर 6000 करोड़ रूपये की राशि अर्जित की जावेगी । वर्ष 2000-2001 के दौरान राष्ट्रीय राजमार्गो के विकास के लिए 2010 करोड़ रूपये की राशि आवंटित की गई है ।

सड़कों के विकास के लिए निजी क्षेत्र की भागीदारी को स्वीकार किया गया है । प्राइवेट क्षेत्र की सहभागिता को प्रोत्साहित करने के लिए 'बनाओ चलाओ और अन्तरित करो' स्कीम को क्रियान्वित किया जाना सुनिश्चित किया गया है । निजि क्षेत्र की भागीदारी नीति को अपनाते हुए भूतल परिवहन मंत्रालय ने 1000 करोड़ रूपये से अधिक की अनुमानित लागत वाली 20 परियोजनाओं को मंजूरी दी है । कई राज्य सरकारों ने भी सड़कों के विकास में निजीकरण को शामिल करने हेतु कदम उठाये है।

15.3.1.3 भारत में सड़क परिवहन

सड़क परिवहन का थोड़ी व मध्यम दूरी के परिवहन में महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है । यह एक लचीला, विश्वसनीय व उपयोगी साधन होता है । मार्च, 1951 में देश में बसों की संख्या 34 हजार थी जो 1994-95 में बढ़कर 4.25 लाख हो गई । इसी अवधि में ट्रकों की संख्या 82 हजार से बढकर 7.96 लाख हो गई । 1960-61 में यात्री ट्रेफिक में सड़क व रेलों का अनुपात 4258 था जो बदलकर 1977-78 में 3266 हो गया । इससे स्पष्ट है कि सड़कों का योगदान पहले से काफी बढ़ा है । वर्तमान में 40 प्रतिशत बसे सार्वजनिक क्षेत्र में आ चुकी है लेकिन ट्रक परिवहन लगभग निजी क्षेत्र में ही केद्रित है ।

वाहनों की संख्या बढ़ने से सरकार रोड़ यातायात से प्राप्त आय में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है । रोड़ यातायात से 1994-95 में केन्द्र सरकार को 6918 करोड़ रूपये तथा राज्य सरकारों को 4414 करोड़ रूपयों की आय प्राप्त हुयी जबकि 1950- 51 में इससे प्राप्त आय केन्द्र सरकारों को क्रमश: 35 व 15 करोड़ रूपये थी ।

वर्तमान में भारत में 68 राज्यीय सड़क परिवहन उद्यम है, जिनके पास मार्च 1990 के अन्त तक 1.02 लाख बसें थी जिनमें 3500 करोड़ रूपयों का विनियोजन हुआ था और इनमें 15 लाख व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त था । इनसे प्रतिदिन 6 करोड़ सवारियां यात्रा करती है ।

15.3.2 रेल परिवहन

भारत में रेल परिवहन 1855 में हुआ जबकि पहली रेलगाड़ी द्वारा बम्बई से थाना तक 22 मील की यात्रा की गई । अगले वर्ष कलकत्ता में एक रेलवे लाइन खोली गई । भारत में रेलवे विकास का लक्षण यह है कि अधिकांश इलाकों में औद्योगिक प्रगति के साथ-साथ रेलों का विकास हुआ । 1853 में प्रारम्भ होने पश्चात रेलों का दुतगति से विकास हुआ । 1900 तक लगभग 25 हजार मील लम्बा

रेल मार्ग तैयार किया गया । अगले पचास वर्षो में रेलों का निर्माण किया जा सका । इस प्रकार भारत में 1950 तक कुल मिलाकर 34 हजार मील से कुछ अधिक रेल मार्ग तैयार हो चुका था । आज देश में रेलों का व्यापक जाल बिछा हुआ है । वर्तमान में रेल मार्ग की कुल लम्बाई 62759 किलोमीटर, चालू रेल पथ 79200 किमी. तथा कुल रेल पथ 109149 कि.मी है । भारतीय रेलवे के पास 7606 इंजन, 39929 यात्री डिब्बे, 3444 विद्युत चालित गाड़ियों के डिब्बे और 337562 माल डिब्बे थे । रेलवे स्टेंशनों की संख्या 7043 है । विद्युतिकृत रेलमार्ग की लम्बाई 14 हजार कि.मी. थी जो कुल रेल मार्ग का 24 प्रतिशत है । भारत. की रेल प्रणाली का एशिया में दूसरा स्थान है । रेलवे ने देश के आर्थिक, औद्योगिक तथा सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है ।

आरम्भ में रेलवे का स्वामित्व एवं प्रबन्ध निजी कम्पनियों के अधीन था जिनके मालिक अंग्रेज व्यापारी थे । सरकार ने इन्हें मुफ्त भूमि, पूंजी पर निम्नतम प्रत्याय के आश्वासन के रूप में कुछ रियायतें दी थी । रेलों पर निजी व्यक्तियों के स्वामित्व एवं प्रबन्ध के अनेक दोष थे ।1925 में भारत सरकार ने पहली रेलवे कम्पनी अपने स्वामित्वाधीन की । धीरे-धीरे अन्य कम्पनियों भी सरकार के अधीन लाई गई । 1944 तक सभी निजी कम्पनियों को हटाकर रेलवे का स्वामित्व एवं प्रबन्ध सरकार के अधीन हो गया । 1950 में महाराजाओं के अधीन रियासतों की रेलों को भी भारत सरकार के अधीन लाया गया । आज रेलवे एक एकीकृत राजकीय उपक्रम है जिसमें 15.5 लाख से अधिक कर्मचारी कार्य करते है । भारतीय रेलवे में 96 हजार करोड़ रूपयों से भी अधिक का विनियोग किया हुआ है । यात्री संख्या 4558 मिलियन से भी अधिक है । रेलवे वाणिज्यिक उपक्रम के रूप में तथा जनापयोगी सेवाओं के संभरक दोनों के रूप में एक अद्वितीय और चुनौतीपूर्ण भूमिका निभाता आ रहा है ।

15.3.2.1 पंचवर्षीय योजनाओं में रेल विकास :-

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के साथ गहरा सम्बन्ध रखने वाले अभिकरणों में रेलवे सबसे बड़ा परिवहन अधिकरण है । भारत सरकार ने रेलों के विकास, परिवहन क्षमता, परिचालन कुशलता को बढ़ाने पर ध्यान केन्द्रित किया है । एक कुशल रेल परिवहन व्यवस्था के निर्माण के उद्देश्य रवे भारत सरकार ने विभिन्न योजनाओं में रेलों के विकास पर काफी विनियोग किया है ।

प्रथम योजना (1950-1956)ए में जीर्ण परिसम्पत्ति का प्रतिस्थापन प्रमुख लक्ष्य था । योजना में रेलों के विकास पर 217 करोड़ रूपये व्यय किये गये । योजनाकाल में चितरंजन लोकोमोटिव वर्क्स, टाटा इंजीनियरिग एवं लोकोमोटिव तथा इन्टेग्रल कोच फेक्ट्री की स्थापना की गई । द्वितीय योजना में 1236 किलोमीटर रेल मार्ग के निर्माण पर 723 करोड़ रूपये व्यय किये गये । तृतीय योजना (1961-66) में रेल विकास का उद्देश्य अतिरिक्त क्षमता का निर्माण करना था । योजनावधि में 1326 करोड़ रूपये व्यय करके 2152 कि.मी रेल मार्ग का निर्माण किया गया । तीन वार्षिक योजनाओं (1966-69)ए में रेलों के विकास पर 587 करोड़ रूपये व्यय किये गये । योजना में 905 कि.मी. रेल मार्ग का विद्युतीकरण 1268 कि.मी पर दोहरी लाइन बिछाई गई । चौथी योजना (1969-74) का उद्देश्य रेल व्यवस्था का आधुनीकरण रखा गया । रेल विकास पर 934 करोड़ रूपये व्यय किये गये । रेल मार्ग की लम्बाई बढकर 60234 कि.मी. यात्री वहन क्षमता 26544 मिलियन यात्री तथा माल ढ़ोने की क्षमता 225 मिलियन टन हो गई । पांचवी योजना का उद्देश्य रेल व्यवस्था के विस्तार की अपेक्षा वर्तमान कार्यक्षमता की उन्नति और रेल संकार्य कार्यकुशल को अधिकतम करना रखा गया ।

इस कार्य पर 2063 करोड़ रूपये व्यय किये गये । छठी योजना (1980-85)ए में यात्री व माल वहन क्षमता में वृद्धि अधुनिकरण आत्मनिर्भरता, अनुसंधान एवं विकास को प्रोत्साहन देने के लिए 6587 करोड़ रूपये व्यय किये गये । सातवीं योजना (1985-90) में मालभाड़े के टर्मिनलों के विकास को उच्च प्राथमिकता देना तथा वाष्प इंजनों को डीजल और बिजली-के इंजनों में परिवर्तित करना रखा गया ।

योजना (1992-97) रेल सम्पत्ति के प्रतिस्थापन और नवीनीकरण, उत्पादकता और विश्वसनीयता में वृद्धि के लिए अनुरक्षा, तकनीकि विकास, रेल मार्ग के दोहरीकरण तथा विद्युतीकरण पर जोर दिया गया । योजना में रेल विकास पर 27202 करोड़ रूपये व्यय हुए । नवीं योजना में वृद्धि और विकास की जरूरतों को पूरा करने के लिए रेलवे ने बजटेतर संसाधन जुटाने हेतु अनेक योजनाएँ प्रारम्भ की है । निवेश की अनुपूर्ति करने के लिए विशिष्ट परियोजनाओं हेतु निजी क्षेत्र और राज्य सरकारों के साथ भागीदारी की जा रही है । बिल्ड-औन लीज ट्रांसफर (बॉल्ट) ओर ओन योन वेगन स्कीम (ओ. वाई.डब्ल्यू.एस.) के अतिरिक्त निजी भागीदारी की स्थापना करना शामिल है । वर्तमान में रेलवे के आधारभूत ढांचे की सुरक्षा और उन्नयन पर जोर दिया गया है । सभी उत्पादन एककों एवं वर्कशोपों में आइ.एस.ओ. 9000 के गुणवत्ता मानकों की अपेक्षाओं को पूरा करने, रेडियो आधारित स्वचालित चेतावनी प्रणाली पर जोर दिया जा. रहा है ।

15.3.2.2 रेल-सड़क परिवहन समन्वय

रेल-सड़क प्रतियोगिता को दूर करने के लिए इन साधनों में परस्पर समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए । समन्वय का अर्थ है कि प्रत्येक परिवहन के साधन का उपयोग उसी क्षेत्र में किया जाय जिसके लिए वह सबसे ज्यादा उपयुक्त है । एक परिवहन का साधन दूसरे परिवहन के साधन के क्षेत्र में प्रवेश न करें । ऐसा करने से परिवहन की सुविधाएं सस्ती एवं कार्यकुशल हो सकेगी जिससे समाज को अधिकतम लाभ मिल सकेगा ।

परिवहन के साधनों में समन्वय स्थापित करने के कई तरीके है । एक तरीका तो राष्ट्रीयकरण का है जिसमें सब साधन एक ही अधिकारी के नीचे आ जाते हैं और उनमें प्रतियोगिता का अंत हो जाता है । दूसरा वैधानिक समन्वय का तरीका है जिनमे एक वैधानिक संस्था विभिन्न परिवहन के साधनों के कार्यक्षेत्र निर्धारित व नियमित करती है । लाइसेंस आदि देने पर नियंत्रण रखती है । पहली अवधि में परिवहन के साधनों पर राज्य का अधिकार हो जाता है जबकि दूसरी अवधि में यह आवश्यक नहीं होता । साधन निजी व्यक्तियों के हाथों में रह सकते है लेकिन उनके उपयोग पर नियंत्रण रहता है । भारत में इस समय रेल-सड़क समन्वय की दूसरी विधि चल रही है लेकिन भूतकाल में पहली विधि की ओर की प्रवृति रही है ।

15.3.3 भारत में जल परिवहन

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जल परिवहन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । वर्तमान समय में विश्व व्यापार में भारत का हिस्सा 0.6 प्रतिशत से भी कम है तथा भारत की कुछ जहाजी शक्ति समस्त विश्व की जहाजी शक्ति का केवल एक प्रतिशत है । डॉ. राधाकमल मुकर्जी के अनुसार "प्राचीन भारतीय सभ्यता संसार के कोने कोने में इसलिए पहुंच सकी कि भारत के पास एक विशाल समुद्री शक्ति थी । हमारे शक्तिशाली जल परिवहन उद्योग के कारण ही संसार के लोग हमारे धर्म एवं संस्कृति से प्रभावित हुए । सोलहवी शताब्दी में भारत में निर्मित जहाजों का प्रयोग आज के विकसित देशों में किया जाता

था । किन्तु भारत की जहाजी शक्ति का गुलामी के दिनों में अंग्रेजो की भेदभाव पूर्ण नीति के कारण पतन शुरू हुआ ।

भारत में जल परिवहन को सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बाटा जा सकता है । (1) अन्तर्देशीय जल परिवहन (2) तटीय परिवहन और (3) सामुद्रिक परिवहन । अन्तर्देशीय जल परिवहन के अन्तर्गत देश के आन्तरिक भागों में नदियों व नहरों का जल परिवहन आता है । तटीय परिवहन में देश के एक बन्दरगाह से दूसरे बन्दरगाह तक का जल परिवहन आता है और सामुद्रिक परिवहन में एक देश से दूसरे देश तक समुद्री जहाजों से होने वाला परिवहन आता है ।

भारत के लिए उपर्युक्त तीनों प्रकार के जल परिवहन का महत्व है । इनमें से प्रत्येक की वर्तमान स्थिति का वर्णन अधोलिखित है:-

15.3.3.1 अन्तर्देशीय जल परिवहन :

भारत में लगभग 14500 कि.मी. लम्बा अन्तर्देशीय जल मार्ग है जिसका लगभग पाँचवा भाग नाव्य है । इसमें 10000 किमी. नदियों में तथा 4500 कि.मी. नहरों में है । प्रमुख अन्तर्देशीय जल मार्ग गंगा, ब्रहमपुत्र गोदावरी, कृष्णा, तथा उनकी सहायक नदियां प्रदान करती है । नहरों द्वारा यातायात बहुत कम है । अन्तर्देशीय जल परिवहन सेवायें इस समय मुख्तया आसाम, पश्चिम बंगाल, बिहार, केरल, आंध्रप्रेदश व तमिलनाडु में चलती है । देश की परिवहन व्यवस्था में अन्तर्देशीय जल परिवहन का अंश केवल 1 प्रतिशत है । अन्तर्देशी जल परिवहन राज्यों का विषय है ।

15.3.3.2 पंचवर्षीय योजनाओं में अन्तर्देशीय जल परिवहन का विकास

प्रथम योजना में केन्द्रीय सरकार और उत्तर प्रदेश, बिहार, पं. बंगाल व असम सरकारों ने मिलकर गंगा-ब्रहमपुत्र परिवहन बोर्ड स्थापित किया था । इसका उद्देश्य भाग लेने वाली सरकारों के गंगा व ब्रहमपुत्र प्रणालियों पर जल परिवहन के विकास के प्रयत्नों में तालमेल बैठाना था तथा यह पता लगाना था कि पिछड़े जल मार्गो पर आधुनिक नावें तक चलाई जा सकती है ।

द्वितीय योजना में पाण्डु (गुवाहाटी) में आन्तरिक बन्दरगाह का निर्माणकर केरल में बाडागरा से माही तक पश्चिमी तटीय नहर का विस्तार और दामोदर घाटी में कई नाव्य कार्य शामिल किये गये । आंध्रप्रदेश व तमिलनाडु में बकिंघम नहर रवे कीचड़ निकालने का कार्य प्रयोग के तोर पर शुरू करने की व्यवस्था की गई ।

तृतीय योजना में केन्द्र मे एक ऐसे संगठन की स्थापना का कार्य शामिल किया गया जो अन्तर्देशीय जल परिवहन के विकास पर प्राविधिक सलाह व निर्देशन दे सके । योजना में गंगा-ब्रहमपुत्र बोर्ड के द्वारा सुन्दरवन में एक प्रयोगात्मक नाव खींचने का प्रोजेक्ट शामिल किया गया । सुन्दरवन और गौहाटी के तटीय भागों में सुधार के कार्यक्रम रखे गये । जिसमें पाराद्वीप में कच्चे लोहे के निर्यात में सहूलियत हो सके ।

पिछले दो दशकों में असम में पाण्डु व जोगीगोपा बन्दरगाहों का निर्माण, राजबगान डॉक यार्ड व कुल्पी वर्क शोपों का विकास तथा जहाजों को डूबने से बचाने के उपकरणों का निर्माण की वृहद स्कीमें क्रियान्वित की गई । सातवीं योजना (1985-90) में आन्तरिक जल परिवहन के विकास के लिए 226 करोड़ रूपयों की राशि रखी गई । सातवी योजना में सादिया घुबरी के बीच ब्रहमपुत्र राष्ट्रीय जलमार्ग

घोषित किया गया । गंगा-भागीरथी हुगली जलमार्ग का कार्य जारी रहा । आठवीं योजना (1992-97)ए में गंगा व ब्रहमपुत्र राष्ट्रीय जलमार्गों के विकास हेतु केन्द्रीय क्षेत्र में 240 करोड़ रूपये व राज्यीय क्षेत्र में 108 करोड़ रूपयों का प्रावधान किया गया । नियोजन काल में अन्तर्देशीय जल परिवहन का पर्याप्त विकास हुआ । जहाजों की संख्या 1955-56 में 126 थी बढ़कर 70 लाख जी.आर.टी हो गई । योजनाकाल में माल ढुलाई में भी भारी वृद्धि हुई । 1960-61 में कुल माल ढुलाई क्षमता 33 मि॰टन थी । 1995-96 में बढ़कर 215 मि॰टन हो गई।

15.3.3.3 आन्तरिक जल परिवहन व अन्य साधनों में समन्वय की आवश्यकता

रेल, सड़क व अन्तर्देशीय जल परिवहन के विकास में परस्पर समन्य स्थापित किया जाना चाहिए । जहाँ जल परिवहन के विकास में परस्पर समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए । जहाँ जल मार्ग, रेल व सड़कों के समानान्तर जाते है वहाँ समस्त यातायात के अनुकूल वितरण की आवश्यकता होनी चाहिए जिससे परिवहन के प्रत्येक साधन रो अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सके । द्वितीय, जहां अन्तर्देशीय जल परिवहन को जल मार्गो से दूर स्थित स्थानों के लिए रेल या सड़क परिवहन से मिलता है, कम करने के तरीकों का पता लगना चाहिए । जल मार्गो के विकास की दीर्घकालीन योजना बनायी जानी चाहिए ।

15.3.3.4 तटीय जहाजरानी

तटीय जहाजरानी का विकास लम्बी दूरी तक भारी माल ढ़ोने का एक सस्ता साधन माना गया है । बशर्ते कि माल तट पर स्थित किसी स्थान तक पहुंचता हो । भारत का समुद्र तट 5500 कि.मी. में फैला है । अत: तटीय जहाजरानी का परिवहन विकास में महत्वपूर्ण स्थान है ।

तटीय जहाजरानी की टन भार क्षमता 1950-51 में 2.2 जी.आर.टी थी जो 1989-90 में 5.18 लाख जी. आर.टी हो गई । तटीय जहाजरानी की 35 प्रतिशत टन भार क्षमता पुरानी पड़ चुकी है । जिसे शीघ्र बदलने की आवश्यकता है । तटीय जहाजरानी में पुराने जहाज इंधन के उपयोग की दृष्टि से कार्यकुशल माने जाते है । बन्दरगाहों पर अत्यधिक विलम्ब की समस्या भी पायी जाती है । भावी योजनाओं में इन कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास किया जाना चाहिए । आठवीं योजना में तटीय जहाजरानी के विकास के लिए केन्द्रीय क्षेत्र में 269 करोड़ रूपये रखे गये थे ।

भारतीय समुद्रतटीय रेखा पर 11 प्रमुख पत्तन तथा 148 छोटे पत्तन है । वर्ष 1999-2000 की सम्पूर्ण अवधि के दौरान प्रमुख पत्तनों में अखित भारतीय पत्त्नों की क्षमता 377 मि॰टन हो जाने की सम्भावना है । इसके लिए वर्ष 2000-01 के 2007 करोड़ रूपये के वार्षिक आयोजना परिव्यय सहित 9428 करोड़ रूपये परिव्यय की व्यवस्था की गई है ।

15.3.3.5 सामुदिक जहाजरानी एवं जहाज निर्माण

भारत विस्तृत समुद्र तट और उपयुक्त भौगोलिक परिस्थितियो के कारण जहाजरानी का तीव्र विकास कर सकता है । वर्तमान में भारत का सामुद्रिक जहाजरानी का एशिया में दूसरा स्थान तथा विश्व में पंद्रहवां स्थान है । भारत में टाटा ने 1893 में जापान व चीन से सूत का व्यापार करने वास्ते जहाजी कम्पनी प्रारम्भ की थी । इसके बाद 1906 मै चिदम्बरम पिल्लई ने श्रीलंका से व्यापार करने के लिए तूतीकोरन में स्वदेशी कम्पनी की स्थापना की । आधुनिक जहाजरानी का प्रारम्भ 1919 में

बालचन्द-हीराचंद के प्रयत्नों से "सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी" की स्थापना से हुआ । भारतीयों द्वारा जहाजी बेड़े के विकास की मांग जोर पकड़ने के कारण 1923 में सरकार ने हेण्डरम की अध्यक्षता में भारतीय व्यापारिक जहाजी बेड़ा समिति की नियुक्ति की । वर्ष 1928 में एन.एन.हाजी. ने विधान सभा में भारत के समुद्रतटीय व्यापार को भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित रखने के लिए एक बिल पेश किया परन्तु विरोधाभास के कारण बिल पर कोई कार्यवाही नहीं हो सकी । द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारतीय जहाजरानी के पनपने का पर्याप्त अवसर मिला । स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय जहाजी बेडे में 59 जहाज थे तथा उनके माल ढोने की क्षमता 1.92 लाख जी.आर.टी थी ।

15.3.3.6 योजनाकाल में सामुद्रिक जहाजरानी व जहाज निर्माण की प्रगति :-

भारतीय जहाजरानी का विश्व जहाजी बेडे में केवल एक प्रतिशत का भाग हैं 1950-51 में इसकी टन भारत क्षमता 5.9 लाख जी.आर.टी थी जो बढ़कर 1996-97 में 70 ला. जी.आर.टी हो गई।

तृतीय योजना में स्थगित भुगतानों की शर्तो पर जहाज खरीदे गये, पुराने जहाज सस्ते भावों पर प्राप्त किये गये । हिन्दुस्तान शिपयार्ड की क्षमता का पूरा उपयोग किया गया ओर नई जहाजी कम्पनियों के विस्तार के कार्यक्रम अपनाये गये । तृतीय योजना में 11 भारी सामान ढोने के जहाज ओर 4 समुद्र पार जाने वाले टेंकर्स प्राप्त किये गये ताकि खाद्यान, खनिज पदार्थ व पेट्रोल पदार्थो को ढ़ोने में आसानी रहे ।

उपरोक्त उपलब्धि जहाजरानी उद्योग में सरकार की सक्रिय भूमिका के कारण प्राप्त हुयी । 1950 में ईस्टर्न शिपिंग कारपोरेशन स्थापित किया गया ओर 1956 में दूसरा शिपिंग कारपोरेशन बाण गया तथा अक्टूबर 1961 में दोनों एक शिपिंग कारपोरेशन में मिला दिये गये । पिछले वर्षा में जहाज निर्माण उद्योग और बन्दरगाहों के विकास में उल्लेखनीय प्रगति हुयी है । आजकल बड़े जहाजों का प्रचलन बढ़ गया है । भारत में भी बड़े जहाजों को अपनाने का प्रयास किया जा रहा है । लेकिन इसके लिए बन्दरगाहों के विकास की बहुत आवश्यकता है । भारतीय जहाज समुद्रपार के व्यापार में ज्यादा हिस्सा लेकर विदेशी मुद्रा अर्जित करने में सहायक सिद्ध होने लगे है ।

वर्तमान में भारतीय समुद्रिक व्यापार का 41 प्रतिशत संचालित करते है । देश का विदेश व्यापार पिछले कुछ वर्षों में बढ़ा है लेकिन आज भी हमारे जहाज तेल के आयात व कच्चे लोहे के निर्यात व्यापार में कम मात्रा में ही भाग ले पाते हैं ।

15.3.3.7 जहाजरानी कम्पनियाँ :-

31 दिसम्बर 1992 में देश में 55 जहाजरानी कम्पनियां थी जिसमें भारत का जहाजरानी निगम लि सार्वजनिक क्षेत्र में है जिसकी मार्च 1992 में अकेले की 48 प्रतिशत क्षमता थी तथा शेष निजी क्षेत्र में थी । 12 कम्पनियों के पास कुल शिपिंग टन भार का 90 प्रतिशत अंश पाया जाता है।

15.3.3.8 बन्दरगाहों का विकास

भारत में लगभग 5600 किलोमीटर लम्बे समुद्र तट पर 11 बड़े बन्दरगाह (कोलकाता, मुम्बई, न्यू मंगलोर तूतीकोरिन, चैन्नई, विशाखापटनम, कोचीन, कांढला, मारगोवा व नेवाशेवा) तथा 139 छोटे कार्यरत बन्दरगाह है । आजकल बन्दरगाहों पर खाद्यान्न, कच्चे लोहे व पेट्रोल की वस्तुओं का यातायात

काफी बढ़ गया है । 1950-51 में 19 करोड़ टन माल ढोया गया था । जो वर्तमान में 20 करोड़ टन से अधिक है । अत: स्पष्ट है कि बन्दरगाहों में माल ढ़ोने के दबाव में वृद्धि हुयी हैं अत: बन्दरगाहों को आधुनिक बनाने, पोताश्रय का निर्माण तथा उपग्रह बन्दरगाह बनाने के कार्यक्रम बनाये गये है । कारवाड़ मझगांव से 85 कि.मी. दक्षिण और न्यू मंगलोर से 275 किलोमीटर उत्तर में पश्चिम तट का बन्दरगाह सभी मौसमों में खुला रहता है । यह देश का सर्वश्रेष्ठ प्राकृतिक बन्दरगाह माना जाता है । छठी योजना में 1105 करोड़ रूपये आवंटित थे लेकिन व्यावसायिक व्यय 1342 करोड़ रूपये व राज्यी क्षेत्र में 310 करोड़ रूपये बन्दरगाहों व प्रकाशगृहों के विकास के लिए रखे गये । योजनाओं में बन्दरगाहों की सुविधाओं के आधुनिकीकरण, प्रचलित सुविधाओं का पूर्ण उपयोग, श्रम तथा उपकरणों की उत्पादकता में सुधार के प्रयास किये गये जायेंगें । निजी क्षेत्र को बढ़ावा दिया जावेगा । ट्रेजिंग क्षमता सुविधा का विस्तार किया जावेगा । ट्रेजरों के आकार को बढ़वा जावेगा । अनुमान है कि 11 बड़े बन्दरगाहों पर मार्च 2002 तक ट्रेफिक बढ़कर 30 करोड़ टन हो जावेगा ।

15.3.4 भारत में वायु परिवहन

मनुष्यों को उपलब्ध विभिन्न साधनों में वायु परिवहन सबसे अधिक विकसित, सबसे अधिक चुनौती पूर्ण तथा हमारे सामाजिक, सांस्कृति और आर्थिक परिवेश में सबसे तीव्र क्रांति लाने वाले है । भारत में वायु परिवहन की शुरूआत 1932 में हुयी जब टाटा एण्ड संस लि. ने टाटा एयरवेज क. की स्थापना की । टाटा एयरवेज कम्पनी ने 14 अक्टूबर 1932 को कराची चैन्नई के बीच वायुसेवा प्रारम्भ की । जुलाई 1946 में भारत के वायुमार्गो का संचालन टाटा एयरलाइन्स, इंडियन नेशनल एयरवेज, एयर सर्विसेज ऑफ इंडिया, डेकन एयरवेज लि. कम्पनियों के हाथ में था ।

इन कम्पनियों के पास 19 बड़े वायुयान थे ।1946 में वायु परिवहन लाइसेंस बोर्ड की स्थापना की गई । वर्ष 1953 में वायु निगम अधिनियम पास कर भारत सरकार ने वायु परिवहन सेवा का राष्ट्रीयकरण कर दिया ।

भारत जैसे विशाल देश में स्वतंत्रता के पश्चात वर्ष बाद भी कई क्षेत्रों में रेल व सड़क परिवहन सुविधा नहीं है । इसलिए देश की परिवहन प्रणाली में वायु परिवहन की भूमिका महत्वपूर्ण है । भारत में वायु परिवहन के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियां विद्यमान है जैसे देश का महाद्वीपीय आकार अनुकूल समशीतोश्ण जलवायु और स्वच्छ वायुमण्डल, उतरने की सुविधा प्रदान करने के लिए विस्तृत मैदान एवं भारत की विश्व में केन्द्रीय स्थिति । इतना सब कुछ होने के उपरान्त भी भारत में वायु परिवहन का विकास नहीं हो पाया है ।

15.3.4.1 भारत में वायु परिवहन का विकास

भारत में वायु परिवहन का विकास 1953 में वायु परिवहन सेवा के राष्ट्रीयकरण के बाद से प्रारम्भ होता है । वायु परिवहन में 1960-61 में 9.45 लाख व्यक्तियों ने यात्रा की जो वर्ष 1997-98 में बढ़कर 114.43 लाख हो गई ओर इसी अवधि में वायु परिवहन से सरकार को प्राप्त आय 17.56 करोड़ से बढकर 233 करोड़ रूपये हो गई ।

भारत में वायु परिवहन के क्षेत्र में तीन नाम चर्चित है । इंडियन एयरलाइन्स, एयर इंडिया तथा वायुदूत । एयर इंडिया के जेम्बो की सेवाएं यात्रियों को केवल देश की सरहद के पार के लिए उपलब्ध

है । इंडियन एयरलाइन्स चुनिंदा शहरों तक विमान उतारने या उड़ान भरने के लिए उपलब्ध है । वायुदूत सेवा तो धीरे-धीरे दम तोड़ने की स्थिति में हैं । वायु परिवहन में पिछले कुछ वर्षा में निजी कम्पनियों का प्रवेश हुआ है । मोदी लुफ्त, सहारा इंडिया, आदि वायु सेवा निजी क्षेत्र में प्रारम्भ की गई है । हवाई अड्डों के निर्माण व आधुनिकीकरण में भी निजी क्षेत्र की भागीदारी पर विचार किया जा रहा है । सरकार को इस संदर्भ में टाटा औद्योगिक घराने से कुछ प्रस्ताव भी मिलें है । वायु परिवहन के विकास के लिए विश्वस्तरीय हवाई अड्डों का विकास जरूरी है । देश में 4 अन्तर्राष्ट्रीय तथा 85 अन्य हवाई अड्डे है । अब बडे हवाई जहाजों का युग आ गया है तथा 400 यात्रियों की क्षमता के हवाई जहाज प्रयुक्त होने लगे है । अत: मुम्बई, कोलकाता, दिल्ली तथा चैन्नई के अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डों का आधुनिकीकरण तथा विकास किया जाना चाहिए ।

15.3.4.2 पंचवर्षीय योजनाओं में वायु परिवहन का विकास

पंचवर्षीय योजनाओं में वायु परिवहन पर 23 करोड़ रूपये मुख्यतया हवाई अड्डे के विकास, संचार सुविधाओं के विस्तार, प्रशिक्षण एवं शिक्षा, अनुसंधान पर व्यय किये गये । योजना के दौरान व हवाई अड्डे का निर्माण किया गया । द्वितीय योजना में 49 करोड़ रूपयों का व्यय हुआ । चार नये हवाई अड्डे का निर्माण किया गया तथा देश के सभी प्रमुख शहरों को वायु परिवहन से जोड़ा गया । तीसरी योजना में भी 49 करोड़ रूपये व्यय किये गये । योजनावधि में हवाई अड्डे के दौड़ पथों में सुधारा किया गया । अगस्त 1963 में बैंगलोर में हिन्दुस्तान एयरोनोटिक्स की स्थापना की गई । 1966-69 की तीन वार्षिक योजनाओं में वायु परिवहन पर 60 करोड़ रूपये व्यय किये गये । वर्ष 1972 में चार अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डों की व्यवस्था के लिए भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय पत्तन प्राधिकरण की स्थापना की गई । पांचवी योजना में 294 करोड़ रूपये वायु परिवहन में संचार सुविधा प्रदान करने, उपकरणों की व्यवस्था करने पर व्यय किये गये । छठी योजना में हवाई अड्डों पर सुरक्षा उपकरणों की व्यवस्था में सुधार के लिए 957 करोड़ रूपये व्यय किये गये । देश के भीतर वायु परिवहन सेवा प्रदान करने हेतु जनवरी 1981 में वायुदूत सेवा प्रारम्भ की गई । सातवीं योजना में वायु परिवहन के विकास पर 1948 करोड़ रूपये व्यय किये गये । 1986 में नेशनल एयरपोर्ट अथौरिटी की स्थापना की गई । योजनाविधि में वायु परिवहन का आधुनिकीकरण तथा नये वायुयान खरीद कर क्षमता बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया । आठवीं योजना में वायु परिवहन के विकास पर 4106 करोड़ रूपये व्यय किये गये । वर्ष 2000 तक वायु यातायात 23. 6 अरब यात्री कि.मी. होने का अनुमान था ।

वर्तमान में विदेशी एयरलाइन्स से संयुक्त संचालन के लिए समझोते किये जा रहे है । सरकार ने राष्ट्रीय सुरक्षा बोर्ड की स्थापना की हैं 13 सितम्बर 2001 को अमेरिका के ट्रेड सेंटर पर आंतकारियो के हमले से वायु परिवहन के विकास में बाधाऐं उत्पन्न हो गई है । अनेक अस्तित्व पर खतरा उत्पन्न हो गया है । भारत में भी अप्रेल 2000 से सितम्बर 2000 की अवधि के दौरान इंडियन एयरलाइन्स ने 109 करोड़ का निवल घाटा उठाया है ।

'घरेलू विमान परिवहन नीति' की परिधि में इंडियन एयरलाइंस में भारत सरकार की शेयरधारिता का विनिवेश करने का प्रस्ताव है । वर्ष 1999- 2000 एयर इंडिया के लिए महत्वपूर्ण वर्ष था क्योंकि पांच वर्षा में पहली बार कम्पनी ने घाटा उठाने वाली वित्तीय निष्पादन की स्थिति को बदल दिया और 76 करोड़ का प्रचालन लाभ दर्ज किया ।

15.4 परिवहन नियोजन के मुद्दे : आधुनिकीकरण और समन्वय

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है । कि परिवहन कि क्षेत्र में अपर्याप्त पूंजीनिवेश के कारण पुरानी तथा अप्रचलित परिसम्पत्तियों की समस्याएं पैदा हो गई हैं, जिन्हें तत्काल बदलने की आवश्यकता है ।

कार्यशालाओं में लगभग 80 प्रतिशत उपकरणों की बदलने की आवश्यकता है । राज्य परिवहन संस्थानों की 80 प्रतिशत बसे करीब 47 प्रतिशत जहाज और अन्तर्देशीय जल परिवहन का 50 प्रतिशत से अधिक बेड़ा सातवीं योजना की अवधि में ही बदले जाने लायक हो गया था । इस काम के लि ए बहुत अधिक धन की आवश्यकता है । इतनी बडी राशि पंचवर्षीय योजना में उपलब्ध होने की आशा नहीं है । इसलिए सम्बन्धित एजेन्सियों से कहा जा रहा है कि वे आंतरिक रूप में अपने चालू खाते की बचतों से ही उचित मात्रा में संसाधन जुटाएँ ।

धन की कमी को देखते हुए मार्गो एवं वाहनों का आधुनिकीकरण के साथ साथ उनकी पुन स्थापना तथा उनके रख रखाव को उच्च प्राथमिकता दी जाती है । कोयले या डीजल के प्रयोग के स्थान पर विद्युतीकरण अधिक क्षमता वाली मालगाडियां चलाना कम्प्यूटर-चालित सिंगनल प्रणाली, बेहतर प्रबन्ध के जरिये तेजी से काम निपटाने, टर्मिनलो का विकास आदि योजना के ऐसे उच्च प्राथमिकता वाले क्षेत्र है जिनसे संचालन खर्च कम हो सकता है तथा बचत को बढावा मिल सकता है ।

15.5 विभिन्न प्रणालियों में समन्वय

स्वस्थ परिवहन व्यवस्था के विकास की एक और समस्या विभिन्न प्रणालियों में समन्वय की है । यद्यपि यह मानी हुई बात है कि अनाज, उर्वरक, कोयला, पेट्रोलियम उत्पाद आदि थोक वस्तुओं की रेल तथा जल परिवहन द्वारा ढुलाई की लागत कम बैठती है, फिर भी हाल के वर्षो में इस यातायात का कुछ हिस्सा सड़क परिवहन की झोली मे चला गया है । इसके लिए आंशिक रूप से रेल तथा जल परिवहन के क्षेत्र में लगी सरकारी एजेंसियों की अकर्मण्यता और नौकरशाही-विलम्ब हेतु जिम्मेदार है । परिवहन क्षेत्र के विकास के लिये कोई दीर्घकालीन नीति परिप्रेक्ष्य न होने तथा निजी सड़क परिवहन संचालकों द्वारा यातायात को अधिक से अधिक आकर्षित करने के लिए अपनाये गये कई तरह के औपचारिक तथा अनौपचारिक तरीकों के कारण भी यह स्थिति बनी है । इसने कुछ क्षेत्रों तथा प्रणालियों की क्षमता का अल्प उपयो हो रहा हैं तथा परिवहन एजेंसियाँ, विशेषकर सार्वजनिक क्षेत्र की ऐजेंसियों, को भारी घाटा उठाना पड़ रहा है ।

परिवहन क्षेत्र, ऊर्जा संसाधनों का प्रमुख उपभोक्ता है और मार्गो के निर्धारण की समुचित योजना तथा विभिन्न प्रणालियों के अधिकाधिक समन्वय के बल पर ऊर्जा की पर्याप्त बचत की जा सकती है । देश में ऊर्जा संकट और तेल के आयात पर विदेशी मुद्रा की बढ़ती हुई लागत को देखते हुये इसका महत्व ओर भी अधिक है । विभिन्न वस्तुओं के परिवहन की सर्वाधिक कार्यक्षम प्रणाली का निर्णय करने के लिए उत्पादन क्षेत्रों के भीतर उभरी परिवहन आवश्यकताओं तथा लोगों की आने जाने सम्बन्धी मांग को ध्यान में रखते हुये यातायात आवश्यकता के अनुमान तैयार करने की जरूरत है । इसके बाद विभिन्न क्षेत्रों में तुलनात्मक लागत लाभ के आधार पर विभिन्न प्रणालियों में इस अनुमानित मांग के इष्टतम वितरण की योजना बनाई जानी चाहिए । इरा विश्लेषण आधार पर सड़क परिवहन का रेल तथा जल परिवहन की सम्भरक व्यवस्था के रूप में विकसित करने के कदम उठाने होंगे । जिला और

तहसील मुख्यालयों में सम्पर्क मजबूत करना बहुत आवश्यक है और पशु ऊर्जा से चलने वाले आधुनिक वाहनों को बढ़ावा देने की सम्भावनाओं का पूर्ण उपयोग किया जाना चाहिए । परिवहन की विभिन्न प्रणालियों यातायात के वितरण के इन प्रयासों के अन्तर्गत कभी कभी कठोर कदम उठाने पड़ सकते है, जिनसे परिवहन एजेंसियों में होड़ पर रोक लग सके ।

15.6 वर्तमान परिप्रेक्ष्य में परिवहन क्षेत्र के संदर्भ में नीतिगत उपाय :

हाल के वर्षो में औद्योगिक कच्चे माल की ढुलाई के लिए पर्याप्त क्षमता की बहुत अधिक कमी महसूस की गई है जिसके फलस्वरूप अनेक उद्योगों के उत्पादन लक्ष्य पूर्ण नहीं हो सके । इसरो वर्तमान सुविधाओं के अनुकूलतम इस्तेमाल तथा अतिरिक्त क्षमता का प्रबन्ध करने का प्रश्न सर्वोपरि महत्व का हो गया है । परन्तु क्षमता बढ़ाने की नीति में मुख्य जोर मौजूदा प्रणाली की उत्पादकता में सुधार लाने तथा विभिन्न प्रणालियों में यातायात के समुचित वितरण पर दिया जाना चाहिए ।

आधारभूत ढ़ाचे सम्बन्धी सेवाओं की मांग अभी भी आपूर्ति से अधिक बनी हुई है । जब तक विद्युत, दूर संचार, रेल, सड़कों और पत्तनों में नई क्षमता सृजित करके इन कमियों को पूरा नहीं किया जाता, तीव्रतर औद्योगिक और समग्र आर्थिक वृद्धि पर भारी दबाव बना रहेगा । सामाजिक कल्याण की विचारधारा भी इस बात को अनिवार्य बना देती है कि प्रत्येक नागरिक को जल आवास, विद्युत और परिवहन सेवाओं की न्यूनतम आपूर्ति की जाय । वस्तुत: आधारभूत ढ़ाचें में निवेश वृद्धि करना और बेहतर सेवाओं के लिए प्रोद्योगिक का उन्नयन करना आज भारतीय अर्थव्यवस्था के समक्ष उपस्थिति सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक है ।

सीमित सरकारी संसाधनों के कारण परिवहन सेवाओं और सुपुर्दगी प्रणाली की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए भी परिवहन क्षेत्र के विकास में निजी क्षेत्र की अपेक्षाकृत अधिक भागीदारी अत्यावश्यक है । हालांकि निजी क्षेत्र से निवेश को आकृष्ट करनें में काफी प्रगति की गई है, फिर भी क्षेत्र सम्बन्धी सुधार, प्रयोक्ता उत्पादों का यौक्तिकीकरण करने और संस्थागत, कानूनों और नियामक ढ़ाचे को मजबूत बनाने के लिए बहुत कुछ किये जाने की जरूरत है ताकि निजी व सरकारी प्रचालकों के बीच स्वस्थ प्रतियोगिता तथा उपभोक्ताओं के हितों की सुरक्षा सुनिश्चित की जा सके ।

15.7 सारांश

देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास में परिवहन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है तथा यह कार्य जितना शीघ्रता, सुरक्षा और मितव्ययता से किया जाय उतना ही सभी के लिए लाभप्रद होता है । रेल, सड़क, वायु तथा जल आदि सभी परिवहन प्रणालियों का उपयोग यात्री तथा माल यातायात के लिए किया जाता है । पिछले कुछ समय में परिवहन की इन प्रणालियों के उपयोग में बहुत वृद्धि हुयी है । किन्तु अब भी इस क्षेत्र में पुराने उपकरणों तथा वाहनों के बदलने की समस्या है, इसलिए इसके आधुनिकीकरण के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता है जो सरकारी बूते के बाहर की बात है । अत: आजकल परिवहन के क्षेत्र में निजी क्षेत्र की भागीदारी पर जोर दिया जाने लगा है । स्वस्थ परिवहन की व्यवस्था के विकास के लिए परिवहन की विभिन्न प्रणालियों (रेल, सड़क, वायु एवं जल) मे समन्वय की आवश्यकता है । सड़क परिवहन का रेल तथा जल परिवहन की सम्भरक व्यवस्था के रूप गे विकसित करने का प्रयास करना चाहिए ।

15.8 बोध प्रश्न

1. अर्थव्यवस्था के विकास में परिवहन के महत्व पर प्रकाश डालिये ।
2. परिवहन की विभिन्न प्रणालियों का वर्गीकरण कीजिए ।
3. सड़क परिवहन का महत्व, विकास, समस्याओं का भारत के संदर्भ में वर्णन कीजिए ।
4. रेल परिवहन का महत्व, विकास, समस्याओं का भारत के संदर्भ में वर्णन कीजिए ।
5. जल यातायात का महत्व, विकास एवं समस्याओं का भारत के संदर्भ गे वर्णन कीजिये।

इकाई 16: संचार एवं संचार के साधन (Communication and Media of Communication)

इकाई की रूपरेखा :-

16.1 उद्देश्य
16.2 प्रस्तावना
16.3 संचार क्या है ?
16.4 संचार की प्रकृति और विशेषताएँ
16.5 संचार की प्रक्रिया
16.6 संचार का महत्व
16.7 संचार के प्रमुख सिद्धान्त
16.8 संचार की बाधाएँ
16.9 संचार को प्रभावशाली बनाने के उपाय
16.10 संचार की तकनीकें अथवा साधन
16.11 सारांश
16.12 शब्दावली
16.13 स्वपरख प्रश्न
16.14 उपयोगी पुस्तकें

16.1 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप इस योग्य बन सकेंगे कि-
- संचार का अर्थ समझ सकें ।
- संचार की प्रकृति और विशेषताओं का वर्णन कर सके ।
- संचार की प्रक्रिया में निहित कदमों के बारे में जान सकें ।
- व्यावसायिक प्रबंध में संचार के महत्व को बतला सकें ।
- संचार के प्रमुख सिद्धांतों को समझ सके ।
- संचार में उत्पन्न बाधाओं को समझ सकें ।
- संचार को प्रभावशाली बनाने के उपाय सुझा सके ।
- संचार की विभिन्न तकनीकों एवं साधनों का वर्णन कर सकें ।

16.2 प्रस्तावना :

आधुनिक युग तकनीकी युग है जहां एक ओर बड़े पैमाने पर उत्पादन संभव हुआ है वहीं दूसरी ओर प्रत्येक औद्योगिक संगठन में कार्य करने वाले कर्मचारियों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है । अत: किसी संस्था में सभी व्यक्तियों को एकता के सूत्र में पिरोने के लिए संचार व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है । संस्था के प्रबधक संचार साधनों के माध्यम से आदेशों, निर्देशों, योजनाओं, नितियों एवं कार्यविधियों को अधीनस्थों तक पहुँचाकर लक्ष्यों की प्राप्ति करते हैं । इसी प्रकार कर्मचारियों की

कार्य-प्रक्रिया में उत्पन्न होने वाली समस्या, कार्य की प्रगति, कार्य का वास्तविक निष्पादन और कार्य पर असंतोष की जानकारी प्रबंधकों को होना भी जरूरी है ताकि वह अधीनस्थों का समय-समय पर मार्गदर्शन कर सकें । इलेक्ट्रोनिक मीडिया ने वर्तमान समय में संचार के क्षेत्र में एक क्रान्ति सी ला दी है ।

16.3 संचार क्या है?

अतल भाषा के "Communication" शब्द की उत्पत्ति लेटिन भाषा के 'Communis' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है एक जैसा या एक समान । संचार भी एक समानता को बतलाता है, अर्थात् संचार द्वारा दो व्यक्तियों के बीच विचारों या भावनाओं का आदान-प्रदान होता है, जिससे वे एक समान या एक दृष्टिकोण से विचार रखते हैं । संचार संदेशों का ऐसा पारस्परिक आदान-प्रदान है जिसका उद्देश्य आपसी समझ को उत्पन्न करना तथा पारस्परिक मानव व्यवहार को प्रभावित करना है ।

कीथ डेविस के अनुसार, "संचार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को कोई सूचना या भाव पहुँचाने की प्रक्रिया है । "

लुईस ए. एलन के शब्दों में, "संचार एक व्यक्ति के मस्तिष्क को दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क से जोड़ने वाला पुल है । इसके अंतर्गत कहने, सुनने या समझने की एक व्यवस्थित एवं अनवरत प्रक्रिया सम्मिलित है । " इस प्रकार संचार का तात्पर्य केवल संदेश भेजने तक सीमित नहीं है । इसमें प्राप्तकर्त्ता द्वारा संदेश का सुनना, इसका निर्वचन करना और इसके अनुसार कार्य करना अथवा उत्तर देना भी सम्मिलित है ।

16.4 संचार की प्रकृति और विशेषताएँ (Nature & Characteristics of Communication) :

संचार की प्रकृति एवं विशेषताओं को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम रो बता सकते हैं:-

1. **दो पक्षों का होना :** संचार प्रक्रिया के लिए दो पक्षकारों - संवाद देने वाला और संवाद प्राप्तकर्त्ता का होना अत्यावश्यक है ।
2. **द्विमार्गीय प्रक्रिया है :** संचार की प्रक्रिया द्विगार्गीय होती है जिसमें संचार द्वारा संदेश को भेजना और साथ ही संदेश के प्रति प्रतिक्रिया या उत्तर प्राप्त करना भी सम्मिलित है ।
3. **अर्थ सम्प्रेषित करने का तरीका :** संचार के अंतर्गत वे सभी साधन सम्मिलित है जिनके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को कोई बात या विचार बताता है । बात किसी भी प्रकार से हाव-भावों या बोलचाल से, लिखकर या संकेतों द्वारा भी पहुँचाई जा सकती है ।
4. **सूचना व भाव दोनों से संबंधित होना :** संचार का संबंध सूचना तथा भाव दोनों से है । संचार का मुख्य उद्देश्य दूसरे व्यक्तियों से कार्य करवाना अथवा कोई सूखा प्राप्त करना है । इसका संबंध एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को कोई बात, संदेश, सुझाव या आदेश देने से हो सकता है ।
5. **संचार के विविध माध्यम :** प्रेषक द्वारा सूचना प्रेषित करने और प्राप्तकर्त्ता द्वारा उसे ग्रहण करने हेतु किसी न किसी संचार माध्यम का सहारा लिया जाता है । प्रमुख रूप

से संदेश लिखित, मौखिक अथवा संकेतों, मुद्राओं तथा प्रतीक के रूप में सम्प्रेषित किया जा सकता है । किसी संस्था में संचार को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए एक से अधिक माध्यमों का एक साथ प्रयोग किया जा सकता है ।

6. **संचार संगठन में सर्वत्र व्याप्त होता है :** किसी भी औद्योगिक संगठन में संचार की हर स्तर पर आवश्यकता होती है । संचार प्रणाली के प्रभावशाली होने पर ही संगठन क्रियाशील और मजबूत बनता है । कमजोर संचार प्रणाली होने पर संगठन का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है ।
7. **संचार अनवरत प्रक्रिया है :** संचार किसी भी संगठन में निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। श्रमिक व्यावसायिक संगठन में संचार को 'रक्तवाहिनी' के समान समझा जाता है । लक्ष्यों, आदेशों, निर्देशों, नियोजन, नीतियो, कार्यविधियों को अधीनस्थों तक पहुँचाने में संचार व्यवस्था संगठन में निरन्तर कार्य करती रहती है ।

16.5 संचार की प्रक्रिया (Process of Communication) :

संचार एक प्रक्रिया है जो निर्बाध गति से चलती रहती है । संचार प्रक्रिया के निर्माण में पांच तत्वों का समावेश होता है- संदेश भेजने वाला, संदेश, संदेश भेजने का माध्यम, संदेश प्राप्तकर्त्ता एवं प्रतिक्रिया ।

संचार की उक्त वर्णित प्रक्रिया को निम्नलिखित प्रतिरूप के माध्यम से दर्शाया जा सकता है।

संचार प्रक्रिया के तत्व

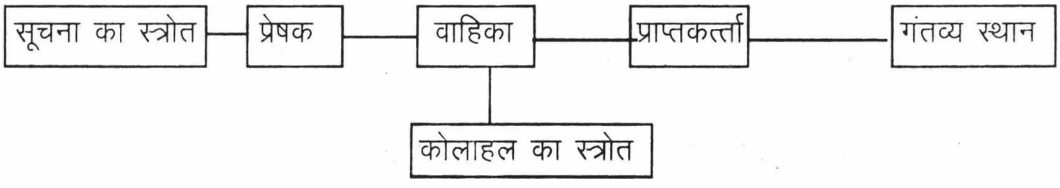

लॉरेन्स एवं एप्पले के अनुसार, संचार प्रक्रिया के चरण या कदम निम्नानुसार हैं :-

1. **विचार अथवा समस्या का स्पष्ट बोध :** कोई भी व्यक्ति अपने विचार या समस्या को अन्य व्यक्तियों के समक्ष तभी स्पष्ट रूप से रख सकता है जबकि वह स्वंय उसके संबंध में स्पष्ट हो । इसके लिए आवश्यक है कि संदेश देने वाले को विचार या समस्या के प्रत्येक पहलू पर विस्तार से जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए । पर्याप्त जानकारी कर लेने के बाद संदेश के प्रेषण में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती ।
2. **अन्य सम्बद्ध व्यक्तियों की हिस्सेदारी :** संचार प्रक्रिया के अगले चरण में समस्या के निवारण हेतु अपने सहयोगियों से विचार-विर्मश करते हैं । इस प्रकार के विचार–विमर्श से एक ओर तो समस्या के निदान के संबंध में अनेक नवीन सुझाव प्राप्त हो जाते हैं दूसरी ओर संवाददाता द्वारा लिए गए निर्णय की जाँच भी हो जाती है ।
3. **विचारों एवं निर्णयों का सम्प्रेषण :** विचारों या निर्णयों को संदेश प्राप्तकर्त्ता तक किस तरह पहुँचाना चाहिए? यह बहुत हद तक परिस्थितियों पर निर्भर करता है । संदेश प्रेषण से पूर्व यह निश्चित किया जाना चाहिए कि क्या सम्प्रेषित किया जाना है और किसे, कब तथा कैसे? सही संदेश प्रेषण के अंतर्गत संदेश की विषय-सामग्री की तैयारी के साथ-साथ

जिन व्यक्तियों को संदेश भेजा जाना है उन्हें ध्यान में रखते हुए संचार के माध्यम या तरीके का चुनाव सम्मिति है ।

4. **संदेश के प्राप्तकर्त्ता को कार्य करने के लिए प्रेरित करना :** संचार का मुख्य उद्देश्य किसी संदेश को संदेश प्राप्तकर्त्ता तक पहुंचाना ही पर्याप्त नहीं होता अपितु उसे उसके अनुसार कार्य करने के लिए प्रेरित करना भी होता है । संदेश प्राप्तकर्त्ता को संदेश प्रेषक के द्वारा इच्छित ढंग से कार्य करने या आचरण करने के लिए प्रेरित करना चाहिए ।
5. **संचार की प्रभावशीलता का मापन :** इस अंतिम चरण में संदेश प्राप्तकर्त्ता की संदेश के संबंध में क्या प्रतिक्रियाएँ हैं? की जानकारी की जाती है । इससे यह निर्धारण होता है कि क्या प्राप्तकर्त्ता की संदेश के प्रति प्रतिक्रिया सकारात्मक है और यदि हो तो किस सीमा तक । इससे संदेश के प्रेषण के पश्चात् इनकी प्रभावशीलता की जानकारी करने से किसी संदेश के प्रभावशाली न होने के कारणों का पता लग जाता है ।

16.6 संचार का महत्व (Importance of Communication) :

वर्तमान समय में व्यापार और प्रबंध की सफलता बहुत कुछ सीमा तक उसकी कुशल संचार व्यवस्था पर निर्भर करती है । प्रबंधकों एव प्रशासकों का अधिकांश समय किसी न किसी मौखिक या लिखित आदेश या निर्देश देने तथा अन्य आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त करने में ही व्यतीत होता है । जे.आर. हिनरिच द्वारा लगाये गये एक अनुमान से भी पता लगता है कि "प्रबन्धकों का कार्य पर व्यतीत किये जाने वाले समय का लगभग 70 प्रतिशत भाग संचार में व्यतीत होता है ।" व्यवसाय और प्रबंध में संचार के महत्व या लाभ को निम्नलिखित आधारों पर स्पष्ट किया जा रहा है :-

1. **प्रबंधकीय कार्यो के क्रियान्वयन में सहायक :** प्रबंध के विभिन्न कार्यो के कुशल क्रियान्वयन में संचार प्रमुख स्थान रखता है । प्रबंधकीय कार्यो जैसे नियोजन, संगठन, समन्वय, निर्देशन, नियंत्रण और नेतृत्व मे सफलता के लिए पर्याप्त और सामयिक संचार व्यवस्था आवश्यक है । संचार के माध्यम से निर्धारित की गई योजनाओं एवं कार्यविधियों की जानकारी प्रबंधक अपने अधीनस्थों को देते हैं ताकि उनका क्रियान्वयन किया जा सके । इसी प्रकार संगठनात्मक संबंधों के बारे में बताया जाना जरूरी होता है । संचार प्रणाली द्वारा संगठन के विभिन्न विभागों की गतिविधियों में सामंजस्य अर्थात् समन्वय स्थापित करने गे मदद मिलती है । निर्देशन एवं नेतृत्व का कार्य भी प्रबंधकों और उनके अधीनस्थों के बीच प्रभावी और समुचित संचार प्रणाली की मांग करता है । इससे आपसी समझ और विश्वास की भावना संगठन के अंतर्गत विकसित होती है । संस्था की गतिविधियों पर नियंत्रण हेतु संस्था के लक्ष्य क्या निर्धारित हैं, प्रगति किस दिशा में हो रही हुए व कार्य संपादन में क्या त्रुटियाँ हैं आदि में प्रभावी संचार व्यवस्था की आवश्यकता होती है ।
2. **न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन :** न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन के लिए आवश्यक है कि उत्पादन कार्य निर्बाध गति से होता रहे । कारखानों में हड़तालें और तालाबंदी कम से कम हो । ऐसा तभी संभव है जबकि मालिक, प्रबंधकों और श्रमिकों के मध्य मधुर संबंध हों । संचार प्रणाली के द्वारा इन तीनों वर्गो के मध्य विचारों का आदान-प्रदान होता है । आपस में उत्पन्न कई विवाद, भ्रम एवं शंकाओं को प्रभावी संचार व्यवस्था के द्वारा पहले

से ही दूर कर लिया जाता है । अपनत्व की भावना एवं कार्य का वातावरण बनने से संस्था का उत्पादन बढ़ने लगता है, साथ ही उत्पादन बढ़ने से उत्पादन व्ययों में कमी आती है ।

3. **व्यवसाय का कुशल संचालन :** व्यावसायिक संस्था में उत्पादन कार्य से लेकर क्रय-विक्रय तक के कार्यो के कुशल संचालन हेतु स्वस्थ संचार व्यवस्था का होना आवश्यक होता है । वर्तमान समय में संस्था को प्रतिस्पर्द्धा में बनाये रखने के लिए, विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में आये परिवर्तनों से तारतम्य बनाये रखने हेतु तथा बाजार की बदली हुईपरिस्थितियों पर नजर रखने हेतु भी प्रभावी संचार व्यवस्था का होना जरूरी होता है । संचार प्रणाली जितनी सुगम होगी उतनी ही अधिक व्यवसाय की सफलता की आशा की जा सकेगी ।
4. **श्रेष्ठ निर्णयन हेतु :** प्रबंधकों को सही निर्णय लेने हेतु सही समय पर सही एवं पर्याप्त तथ्यों एवं सूचनाओं को एकत्रित करना अनिवार्य होता है । यह कार्य भी बिना कुशल संचार प्रणाली के संभव नहीं होता है ।
5. **संस्था की ख्याति बढ़ाने में सहायक :** अच्छी संचार प्रणाली से संस्था से लेन-देन कर रहे पक्षकारों के मन गे संस्था के संबध में अच्छा चित्र अंकित होता है । यदि कोई बाहरी पक्षकार संस्था को पत्र लिखे और उसको तुरन्त ही सही व पूरा उत्तर मिल जाये तो उस पक्षकार पर संस्थान के विषय में अच्छा प्रभाव पडेगा ।
6. **कर्मचारियों के मनोबल में अभिवृद्धि :** संस्था में अनवरत एव प्रभावकारी संचार व्यवस्था से कर्मचारियों की भावनाओं एवं विचारों एवं समस्याओं आदि का समय-समय पर पता चलता रहता है । इसका प्रभाव कर्मचारियों की मनोदशा पर पडता है तथा उनकी सोच में बदलाव आता है और वह अपने आप को संस्था का आवश्यक अंग अनुभव करता है । फलस्वरूप वह स्वैच्छिक सहयोग प्रदान करने लगता है । कर्मचारियो के मनोबल में वृद्धि हेतु यह आवश्यक है कि उच्च अधिकारी उन्हें ध्यान से सुनें, उनसे विचार-विमर्श करें और आवश्यक सूचनाएँ दें ।
7. **बाह्य पक्षकारों से सम्पर्क :** प्रत्येक औद्योगिक २नृंगठन अपने बाह्य पक्षकारों जैसे अशंधारी ग्राहक, प्रतिस्पर्द्धी संरथाएँ, सरकार, श्रम संघ, विनियोजक एवं तकनीकी संस्थाएँ आदि से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखती है । यह सम्पर्क प्रभावी संचार प्रणाली द्वारा ही संभव होता है । इन समस्त बाह्य पक्षकारों से प्राप्त सूचनाओं के आदान-प्रदान से संस्था गतिशील और विकास की दौड़ में बनी रहती है ।

16.7 संचार के प्रमुख सिद्धान्त (Main Principles of Communication) :

संचार प्रणाली को प्रभावी बनाने के लिए निम्नलिखित प्रमुख सिद्धान्तों का अनुपालन आवश्यक है-

1. **स्पष्टता का सिद्धान्त :** प्रेषित संदेश को समझने के लिए उसमें स्पष्टता होगा आवश्यक है। संदेश सरल एवं सीधा होना चाहिए, बहुअर्थी नहीं होना चाहिए । संदेश देने वाले और संदेश प्राप्तकर्त्ता के मध्य संगठनात्मक दूरी होने के कारण भी संदेश की स्पष्टता में कमी आ जाती है ।

2. **संगतता का सिद्धान्त :** सम्प्रेषित सूचनाऐं संस्था की नीतियों, उद्देश्यों व कार्यक्रमों के अनुसार होने चाहिये, अर्थात् सूचनाएँ परस्पर विरोधी नहीं होनी चाहिए ।
3. **पर्याप्तता का सिद्धान्त :** सूचनाएं व संदेश जो प्रेषित किये जा रहे हैं, अपने आप में पूर्ण एवं पर्याप्त होने चाहिए । वह न तो अत्यन्त विस्तृत और न अत्यन्त कम एव न ही अत्यधिक बोझिल होना चाहिए । सूचना की पर्याप्तता उसे प्राप्त करने वाले व्यक्ति की मानसिक क्षमता पर निर्भर करती है ।
4. **समयानुकूलता का सिद्धान्त :** संदेश का प्रेषण यथासमय किया जाना चाहिए । संदेश एवं सूचनाओं के प्रेषण में आवश्यक देरी से व्यवसाय गे लाभ के अवसर कई बार हाथ से निकल जाते हैं । समयानुकूलता का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि संदेश के प्रेषण में उचित समय ही लगाया जाना चाहिए ।
5. **सामान्य स्त्रोत का सिद्धान्त :** यदि सूचनाओं का सामान्य स्त्रोत से प्रेषण नहीं किया जाता है तो कर्मचारी अन्य स्त्रोतों से सूचनाएँ प्राप्त करने का प्रयास करेंगे, जिससे सूचनाओं एवं संदेशों के अधिक विकृत, भ्रामक एवं अशुद्ध होने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं ।
6. **मध्यस्थों की न्यूनता का सिद्धान्त :** मध्यस्थों की संख्या कम से कम होने से संदेश के प्रेषण में देरी भी नहीं होती और संदेश अशुद्ध और विकृत होने से बच जायेगा ।
7. **प्रेषिति की स्थिति के ज्ञान का सिद्धान्त :** संदेश देने वाले (प्रेषक) को संदेश प्राप्तकर्त्ता (प्रेषिति) की योग्यता, शिक्षा, अनुभव, भाषा-ज्ञान आदि को ध्यान में रखा जाना चाहिये जिससे कि पारस्परिक समझ का सृजन शीघ्र हो सके और संचार के उद्देश्यों की पूर्ति को सम्भव बनाया जा सके ।
8. **विषय-वस्तु के ज्ञान का सिद्धान्त :** अच्छा एवं प्रभावी संचार हेतु प्रेषक को संदेश की विषय-वस्तु की सही, पूर्ण एवं विस्तृत जानकारी होना आवश्यक है ।
9. **अच्छे श्रवण का सिद्धान्त :** संदेश के प्रेषक एवं प्रेषिति दोनों का ही एक अच्छा श्रोता होना आवश्यक है ताकि पारस्परिक समझ उत्पन्न हो सके । दोनों पक्षों द्वारा एक-दूसरे की बात को धैर्य के साथ नहीं सुना जाता है तो संचार का उद्देश्य विफल हो जाता है और संचार इकतरफा हो जाता है ।
10. **लोच का सिद्धान्त :** यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि संगठन में होने वाले परिवर्तनों अथवा परिवर्तित परिस्थितियों के अन्तर्गत संचार व्यवस्था में बदलाव लाया जा सके । साधारण परिवर्तनों और संशोधनों के साथ संचार व्यवस्था यदि प्रभावी एवं सक्षम बन सके तो इस तरह के प्रयास संगठन में किये जाने चाहिए ।

16.8 संचार की बाधाऐं (Barriers to Communication)

संचार के मार्ग में अनेक रूकावटें या बाधाएँ, जो संदेश के अर्थ व रूप को विकृत पैदा कर प्रेषक व प्रेषिति के मध्य पारस्परिक समझ को उत्पन्न नहीं होने देती, निम्नलिखित है-

1. **संगठनात्मक संरचना :** संगठन संचरना में जितने अधिक स्तर होंगे उतनी ही अधिक बाधायें संदेश को भेजने और समझने में उत्पन्न होगी क्योंकि संदेश प्रेषण जब किया जाता है तो इन सभी स्तरों से होकर गुजरता है । संदेश के विभिन्न स्तरों से गुजरने से विकृति और अशुद्धता

भी आ जाती है । प्रबंधकों द्वारा किसी स्तर विशेष पर सूचनाओं को रोका जा सकता है या परिवर्तित रूप में आगे प्रेषित किया जाता है । उर्ध्वगामी (upward) संचार विभिन्न स्तरों पर कार्य करने वालों के विरूद्ध भी हो सकते हैं । इसी वजह से वे उच्च प्रबंधक वर्ग तक पहुंच नहीं पाते हैं ।

2. **भाषा संबंधी बाधाएँ :** संचार हेतु प्रयुक्त भाषा उस समय कठिनाई उत्पन्न करती है, जब संदेश देने वाला संदेश प्राप्तकर्त्ता की योग्यता और ज्ञान की जानकारी किये बिना ही संदेश का प्रेषण कर देता है और संदेश में ऐसें शब्दों का प्रयोग करता है जिसके अनेक अर्थ निकलते हैं । ऐसी परिस्थिति में संदेश प्राप्तकर्त्ता संदेश का अपनी सुविधा, योग्यता एवं अनुभव के आधार पर ही अर्थ लगाता है । प्रेषक एवं प्रेषिति के बीच भाषा की भिन्नता, संदेश की भाषा का जटिल होना गलत शब्दों का चयन आदि ऐसी बातें हैं जो संचार में बाधा उत्पन्न करती हैं ।
3. **वैयक्तिक भिन्नता :** कोई भी दो व्यक्ति एक समान नहीं होते और उनमें अनेक प्रकार की वैयक्तिक भिन्नताएँ पाया जाना स्वाभाविक होता है । आयु, लिंग, शैक्षिक स्तर, आर्थिक एंव सामाजिक स्तर और शारीरिक स्वस्थता की दृष्टि से सभी व्यक्ति समान नहीं होते । इन सभी कारणों से संचार में बाधाएँ उत्पन्न होती हैं ।
4. **पद या स्थिति की बाधा :** संगठन में व्यक्तियों की पदीय स्थिति की संचार में महत्वपूर्ण बाधा उत्पन्न करती है । उच्च पदाधिकारी और निम्न पदाधिकारी के उनके दर्जे के कारण प्रतिष्ठा का अन्तर पाया जाता है । इस पद अन्तर के कारण अधीनस्थ अपने उच्चाधिकारियों से उन सूचनाओं व शिकायतों को दबा या रोक लेते हैं जो शायद उनके उच्चाधिकारियों द्वारा पसन्द नहीं किया जाता है या उच्चाधिकारियों को खुश करने के लिए विकृत सूचनाएं आगे प्रेषित करते हैं ।
5. **भौगोलिक दूरी की बाधा :** प्रेषक और प्रेषिति के बीच भौगोलिक दूरी के कारण सूचनाओं का प्रेषण विलम्ब से होता है । लागत अधिक होने के कारण प्राय: अपर्याप्त एवं अपूर्ण सूचनाओं का ही सम्प्रेषण किया जाता है ।
6. **भावात्मक एवं मनोवैज्ञानिक बाधा :** व्यक्तियों के बीच जब भावात्मक अन्तर पाया जाता है तो संदेश के अर्थ को उचित रूप में नहीं लिया जाता है । कभी-कभी यह भावना तथा विचार इतने दृढ़ हो जाते हैं कि संदेश प्राप्तकर्त्ता प्राय: संदेश देने वाले की प्रत्येक बात का एक ही अर्थ लगाते हैं । मनोवैज्ञानिक बाधाएँ प्राय: परस्पर विश्वास की कमी के कारण उत्पन्न होती है । जब कभी प्रेषक और प्रेषिति के मध्य मनोवैज्ञानिक मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं तो परस्पर एक दूसरे की बात को सुनना ही पसन्द नहीं करते ।
7. **तकनीकी बाधाएँ :** संचार माध्यमों में अभियांत्रिकी दोषों, गलत माध्यमों के चुनाव अथवा प्रयोग तथा संचार यंत्रों के गलत ढंग से प्रयोग करने के कारण उत्पन्न होती है । पर्याप्त संचार साधन सुविधाओं के अभाव के कारण भी तकनीकी बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं ।

16.9 संचार को प्रभावशाली बनाने के उपाय :

संचार को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रयोग में लाये जा सकते हैं-

1. **बोधगम्य भाषा :** संदेश की भाषा सरल, स्पष्ट एवं प्रेषिति के बौद्धिक स्तर के अनुरूप होनी चाहिए । तकनीकी एवं जटिल शब्दों का प्रयोग न्यूनतम किया जाना चाहिए । बहु अर्थी शब्दों का प्रयोग बिल्कुल नहीं किया जाना चाहिएं ।
2. **कुशल श्रोता होना :** संचार व्यवस्था प्रभावी बनाने के लिए प्रेषक और प्रेषिति दोनों का अच्छा श्रोता होना आवश्यक है । संचार प्रक्रिया के समय सुनने वाले को धैर्यवान और मानसिक रूप से दृढ एवं संदेश पर ध्यान केन्द्रित की स्थिति में होना चाहिए । संदेश को आधे-अधूरे मन से सुनने में प्राय: भ्रम एवं गलतफहमी को जन्म मिलता है ।
3. **आपसी सद्भाव एवं विश्वास :** आपसी विश्वास एवं आस्था के अभाव में न तो प्रेषिति ही संदेश को उचित रूप से समझेगा और न प्रेषक प्रेषिति की प्रतिक्रिया को ही । संगठन में ऐसे वातावरण बनाना चाहिए ताकि प्रबंधकों व अधीनस्थों के मध्य विचारों की स्वतंत्रता उत्पन्न कीं जा सके । इससे अधीनस्थ अपने सुझाव एवं समस्या स्पष्ट रूप से उच्च अधिकारियों के सामने रख सकेंगे ।
4. **भावों पर संयम :** संदेशों के प्रेषक या प्रेषिति पर शक्तिशाली भावनाएँ संचार प्रक्रिया में प्रभावी रूकावटें पैदा करती हैं । प्रभावी संचार में तर्क एवं भावना दोनों का सुन्दर मिश्रण होना चाहिए किन्तु संदेश की विषय-वस्तु पर भाव के किसी नकारात्मक प्रभाव का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए ।
5. **प्रति-सम्भरण :** संचार की सफलता के लिए समय-समय पर इसका प्रति-सम्भरण (Feed-back) की आवश्यकता होती है । प्रति-सम्भरण का अर्थ है मूल संदेश के प्रति उत्तर या प्रतिक्रिया । प्रभावी संचार के लिए आवश्यक है कि प्रेषक संदेश देते समय प्रेषिति की प्रतिक्रियाओं पर पूर्ण ध्यान दे और अपने संदेश की व्याख्या करे । इसके अभाव में प्रेषक का संदेश एकतरफा एवं निष्प्रभावी प्रलाप मात्र रह जाता है ।
6. **संचार के प्रवाह को नियमित करना :** संचार प्रणाली के अंतर्गत प्रेषित किये जाने वाले संदेशों की प्राथमिकता का निर्धारण सम्मिलित किया जाना चाहिए ताकि प्रबंध उच्च प्राथमिकता वाले अधिक महत्वपूर्ण संदेशों पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकें । इसी प्रकार संगठन के अंदर होने वाले संचार का, जहां तक संभव हो संपादन और सूक्ष्मीकरण किया जाना चाहिए ताकि प्राप्त महत्वपूर्ण संदेशों की उपेक्षा को कम किया जा सके ।

16.10 संचार की तकनीकें अथवा साधन (Techniques or Media of Communication) :

समान्यतः संचार लिखित अथवा मौखिक रूप से किया जाता है किन्तु वर्तमान में दृश्य-श्रव्य तकनीकों द्वारा भी संचार किया जाने लगा है । संचार की प्रमुख तकनीकों अर्थात् माध्यमों को निम्नलिखित आधारों पर वर्गीकृत कर अध्ययन किया जा सकता है:

1. संबंधों के आधार पर ।
2. प्रवाह के आधार पर ।
3. माध्यम के आधार पर ।

1. संबंधों के आधार पर (Based on Relationship) : संचार के दोनों पक्षों (प्रेषक और प्रेषिति) के बीच के संबंधों के आधार पर संचार को दो भागों में बांटा जा सकता है-

(i) औपचारिक संचार ।

(ii) अनौपचारिक संचार ।

(i) औपचारिक संचार (Formal Communication) : जब संदेश प्रेषक और प्रेषिति के मध्य औपचारिक हो तब उनके बीच संदेशों का आदान-प्रदान औपचारिक संचार कहलाता है । किसी संस्था का संगठन-चार्ट यह भी प्रदर्शित करता है कि किसी संदेश को किन-किन अधिकारियों के मध्य होकर गुजरना पड़ेगा । प्रत्येक संगठन में संचार की रेखाऐ आदेश की श्रृंखला अर्थात् उच्च और अधीनस्थ के सौपानिक संबंधों के अनुरूप होती है । एक उच्च अधिकारी सीधे अपने अधिकार के अधीन काम करने वाले व्यक्तियों को आदेश देता है । लेकिन वह ऐसे व्यक्तियों को आदेश नहीं दे सकता जो सौपानिक रूप से एक से अधिक निचले स्तर पर हैं । वर्तमान जनतांत्रिक युग में सभी औपचारिक संचार द्वि-मार्गीय (Two-Way) ही पाये जाते हैं । उच्च अधिकारी अधीनस्थों को आदेश-निर्देश, योजनाएँ, कार्यविधि, नीतियों, नियम, स्पष्टीकरण आदि के रूप में औपचारिक संदेश देते हैं । दूसरी ओर अधीनस्थ भी उच्च अधिकारियों को कार्यो की रिपोर्ट, सुझाव, समस्याएँ, शिकायतें आदि औपचारिक रूप से भेजते हैं ।

(ii) अनौपचारिक संचार (Informal Communication) : एक संगठन में व्यक्तियों के बीच संदेशों का आदान-प्रदान अपनी औपचारिक स्थिति से करके व्यक्ति सामाजिक संबंधों के आधार पर करते हैं तो वह अनौपचारिक माध्यमों का अनुगमन नहीं करता है । अनौपचारिक संचार का लिखित में होना आवश्यक नहीं है । इसे ग्रेपवाइन (grape Vine) संचार भी कहा जाता है । अनौपचारिक संचार की प्रमुख विशेषता यह है कि यह तेजी से व्यक्तियों में फैलता है लेकिन साथ ही, यह संगठन के सदस्यों के मध्य गुजरता हुआ भ्रम, विकृति और अफवाह को भी जनम दे सकता है । यदि संगठन में कार्य करने वाले व्यक्तियों के बीच मधुर और सौहार्दपूर्ण संबंध है तो प्रबंध इस प्रकार के संचार का लाभ उठाकर संस्था की कार्यकुशलता को बढ़ा सकता है क्योंकि कर्मचारी अनेक औपचारिकताओं के पालन से मुक्त हो जाते हैं । अनौपचारिक संचार का पूर्व निर्धारित मार्ग नहीं होता है । ऐसे संदेशों का आदान-प्रदान दोपहर के भोजन के वक्त सामाजिक समारोहों एवं सामूहिक कार्यक्रमों के अवसर पर विशेष रूप से होता है ।

2. प्रवाह के आधार पर (On the basis of flow of Communication) : संदेशों के प्रवाह के आधार पर संचार को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है-

(i) अधोगामी संचार ।

(ii) ऊर्ध्वगामी संचार ।

(iii) समतल संचार ।

(i) अधोगामी संचार (Downward Communication) : जब संचार का प्रवाह उच्च अधिकारियों से अधीनस्थ कर्मचारियों की ओर होता है तो उसे अधोगामी अथवा नीचे की

ओर संचार कहा जाता है । संगठन में ऐसे संदेश उच्च अधिकारियों द्वारा प्रदान किये जाते हैं और सोपान (Hierachy) में नीचे की ओर मध्य स्तरीय प्रबंध से होते हुए नीचे के स्तरों पर कर्मचारियों को प्रेषित किये जाते हैं ।

अधोगामी संचार के साधन : अधोगामी संचार में लिखित और मौखिक संचार माध्यमों के साथ-साथ सांकेतिक संचार का भी उपयोग किया जाता है । अधोगामी संचार के निम्नलिखित प्रमुख साधन हैं-

लिखित संचार	**मौखिक संचार**	**सांकेतिक संचार**
1. नोटिस एवं परिपत्र	व्यक्तिगत आदेश-निर्देश	हस्त-संकेत
2. हस्त-पुस्तकें तथा बुलेटिन	सभाऐं एवं सम्मेलन	प्रसन्न मुख-मुद्रा का प्रदर्शन
3. वार्षिक रिपोर्ट	निजी भेंट	पीठ थपथपाना
4. पोस्टर्स	भाषण	घृणा प्रदर्शित करना
5. सूचना पट्ट	टेलिफोन	आँख से इशारा करना
6. निर्देश एवं आदेश	विचार गोष्ठियाँ	ललाट पर बल पड़ना

(ii) उर्ध्वगामी संचार (Upward Communication) : जब संदेश का प्रवाह नीचे से ऊपर की ओर अर्थात् अधीनस्थ कर्मचारियों रो उच्च अधिकारियों की ओर होता है तो इसे उर्ध्वगामी संचार कहते है । उर्ध्वमुखी संचार के माध्यम से अधीनस्थ कर्मचारी अपनी समस्याऐं, शिकायतें और सुझाव उच्च अधिकारियों को समय-समय पर अवगत कराते रहते हैं । इससे संगठन की कार्यकुशलता में अभिवृद्धि होती है ।

उर्ध्वगामी संचार के साधन : उर्ध्वगामी संचार में भी लिखित और मौखिक संचार माध्यमों का प्रयोग होता है । उर्ध्वगामी संचार में निम्नांकित प्रमुख साधन हैं-

लिखित संचार	**मौखिक संचार**
1. व्यक्तिगत पत्र	टेलिफोन
2. शिकायतें	साक्षात्कार
3. सुझाव	सभाऐं एवं सम्मेलन
4. प्रतिवेदन	प्रत्यक्ष विचार-विमर्श
5. संघ प्रकाशन	संघ प्रतिनिधि

(iii) समतल संचार के साधन (Horizontal Communication) : समतल संचार भी लिखित और मौखिक माध्यमों द्वारा किया जा सकता है । समतल संचार में निम्नलिखित प्रमुख साधन होते हैं-

लिखित संचार	**मौखिक संचार**
1. पत्र, मीमो आदि	टेलिफोन
2. वार्षिक प्रतिवेदन	सभाऐं एवं सम्मेलन
3. हैंडबुक एवं मैन्युअल	भाषण
4. पोस्टर	सामाजिक क्रियाएँ
5. संघ-प्रकाशन	आन्तरिक संचार विधि

3. माध्यम के आधार पर (On the basis of Media) : संदेश प्रेषित करने के माध्यमों के आधार पर संचार निम्नलिखित तीन वर्गो में बाँटे जा सकते हैं- (i) मौखिक संचार, (ii) लिखित संचार (iii) दृश्य-श्रव्य संचार ।

(i) मौखिक संचार (Verbal of oral Communication) : जब संदेश के शब्दों को मुख द्वारा उच्चारित कर आदान-प्रदान किया जाता है तो ऐसा संचार मौखिक संचार कहलाता है । वर्तमान समय में भी मौखिक संचार सर्वाधिक प्रचलित माध्यम है । इस संचार में संदेश का प्रेषक और प्रेषिति आमने-सामने होते हैं, अतः व्यक्तिगत पहुँच संभव होती है । यह विशेषकर उस स्थिति में अधिक कारगर साबित होता है जब प्रबंधक दूसरे पक्ष की प्रतिक्रिया शीघ्र ही जानना चाहता है । यह धन और समय दोनों की दृष्टि से मितव्ययी है । मौखिक संचार गे खूबियों के साथ-साथ कुछ दोष भी हैं । यह उस समय लाभकारी नहीं होता जब उन व्यक्तियों की संख्या, जिन्हें सम्प्रेषण किया जाता है, अधिक हो और प्रेषक और प्रेषिति एक दूसरे से अत्यन्त दूर स्थित हों । इसके अलावा संचार की विषय-सामग्री अभिलेख के रूप में रखी जानी है तो मौखिक संचार इस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकता।

मौखिक- संचार के साधन : मौखिक संचार मौखिक संचार के साधनों में निम्नलिखित साधनों को सम्मिलित किया जा सकता है-

1. साक्षात्कार
2. भाषण
3. सेविवर्गीय विभाग
4. रेडियो
5. टेलिफोन
6. टेलीविजन
7. सभाऐं एवं सम्मेलन
8. संयुक्त विचार-विमर्श
9. प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम
10. यात्री प्रतिनिधि
11. लाउड स्पीकर
12. श्रम संघ

(ii) लिखित संचार (Written Comunication) : लिखित संचार से आशय है जब प्रेषक अपना संदेश या सूचना लिखित रूप में प्रेषिति को प्रदान करता है । सामान्यतया एक औपचारिक संगठन में हम विविध प्रकार के निर्देशों, सरकुलर-पत्र, प्रतिवेदनों, बुलेटिन, पुस्तिका आदि को देखते हैं जो लिखित संचार के प्रमुख साधन हैं । लिखित संचार हस्त-लिखित, मुद्रित या अन्य किसी यांत्रिक सहायता से लिखे हुए हो सकते हैं । लिखित संदेशों के आदान्प्रदान हेतु आजकल फैक्स, इंटरनेट आदि की सुविधा भी उपलब्ध है । लिखित संचार स्थायी, मूर्त और सत्यापनीय होता हैं । यदि कोई बात आमने-सामने या टेलीफोन पर हो भी जाये तो उसका पुष्टीकरण लिखित अभिलेख द्वारा करना अनिवार्य-सा हो जाता है । लिखित संचार विस्तृत संदेशों को प्रेषित करने एवं व्यक्तियों की बडी संख्या को सम्प्रेषित करने में बहुत लाभदायक माध्यम है । लिखित संचार का प्रमुख दोष है कि संदेश तैयार करने एवं भेजने में समय बहुत अधिक लगता है । लिखित संचार में संदेश के प्रभाव का तत्काल मूल्यांकन भी संभव नहीं होता है । यह अत्यधिक औपचारिक होते है तथा लिखित संचार में संदेश की गोपनीयता बनाये रखना भी कठिन होता है ।

लिखित संचार के साधन (Media of Written Communication) : लिखित संचार के प्रमुख साधन निम्नांकित हैं -

1. पत्र-व्यवहार
2. वार्षिक रिपोर्ट
3. कार्यक्रम-प्रपत्र
4. स्मरण-पत्र
5. बुलेटिन
6. सूक्ष्म
7. संगठन अनुसूचियां
8. नीति पुस्तकाएँ
9. सुझाव योजनाएँ
10. पोस्टर्स
11. राजकीय प्रकाशन
12. कृत्य-विवरण
13. संगठन-चार्ट
14. व्यापारिक पत्रिकाऐं

(iii) दृश्य-श्रव्य संचार (Audio- Video Communication) : दृश्य-श्रव्य संचार हमारे दैनिक जीवन का अभिन्न अंग बन गया है । इसमें चित्रों, हावभावों, संकेतों, मौखिक एवं लिखित संचार माध्यमों का सम्मिश्रण देखने को मिलता है । शिक्षण-प्रशिक्षण कार्यक्रमो एवं तकनीकी वस्तुओं के विक्रय में दृश्य- श्रव्य संचार माध्यमों को महत्व बहुत अधिक महसूस किया जा रहा है ।

दृश्य-श्रव्य संचार के साधन (Media of Audio-Visual Communication) : दृश्य- श्रव्य संचार में निम्नलिखित साधनों का प्रयोग प्रमुख रूप से किया जाता है: -

1. फिल्में
2. टेलीविजन
3. विडियो कैसेट
4. इंटरनेट
5. सीडी
6. पोस्टर्स
7. सूचना-पट्ट
8. मेले एवं प्रदर्शनियाँ
9. विन्डो डिस्प्ले
10. संगठन-चार्ट
11. कम्प्यूटर्स
12. सांख्यिकीय चित्र

16.11 सारांश

संचार का आशय एक ऐसी प्रक्रिया से है जिसके द्वारा दो या दो से अधिक व्यक्ति संदेशों के आदान-प्रदान के साथ-साथ उनसे संबंधित अर्थो, भावनाओं, तथ्यों, सूचनाओं एवं आपसी समझ का भी आदान-प्रदान करते हैं । यह मूलत: एक द्विमार्गीय प्रक्रिया है । यह तब तक पूर्ण नहीं होती जब तक प्राप्तकर्त्ता संदेश समझ न लें और उसकी प्रतिक्रिया संदेश के प्रेषक को ज्ञात न हो जाये ।

संचार की प्रकृति या विशेषताओं में प्रमुख रूप से दो पक्षों का होना, द्विमार्गीय प्रक्रिया है, अर्थ सम्प्रेषित करने का तरीका, सूचना व भाव दोनों से संबंधित होना, संचार के विविध माध्यम, संचार संगठन में सर्वत्र व्याप्त होता है एवं संचार अनवरत क्रिया है ।

संचार प्रक्रिया में निहित कदम या चरण इस प्रकार हैं -

(1) विचार अथवा समस्या का स्पष्ट बोध ।

(2) अन्य संबद्ध व्यक्तियों की हिस्सेदारी ।

(3) विचारों एवं निर्णयों का सम्प्रेषण ।

(4) संदेश के प्राप्तकर्त्ता को कार्य करने के लिए प्रेरित करना ।

(5) संचार की प्रभावशीलता का मापन ।

संचार का व्यावसायिक प्रबंध में महत्व निम्नांकित है-

प्रबंधकीय कार्यों के क्रियान्वयन में सहायक, न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन, व्यवसाय का कुशल संचालन, रेष्ठ निर्णयन हेतु आवश्यक, संस्था की ख्याति बढ़ाने में सहायक, कर्मचारियों के मनोबल में अभिवृद्धि में सहायक एवं बाह्य पक्षकारों रो सम्पर्क को सुगम बनाता है ।

प्रभावकारी संचार हेतु जिन मार्गदर्शकों अथवा सिद्धान्तों का पालन किया जा सकता है वे हैं-

(1) स्पष्टता का सिद्धान्त ।

(2) संगतता का सिद्धान्त ।

(3) पर्याप्तता का सिद्धान्त ।

(4) समयानुकूलता का सिद्धान्त ।

(5) सामान्य स्त्रोत का सिद्धान्त ।

(6) मध्यस्थों की न्यूनता का सिद्धान्त ।

(7) प्रेषिति की स्थिति के ज्ञान का सिद्धान्त ।

(8) विषयवस्तु के ज्ञान का सिद्धान्त ।

(9) अच्छे श्रवण का सिद्धान्त ।

(10) लोच का सिद्धान्त ।

प्रभावकारी संचार के मार्ग में अनेकों बाधाएँ हैं-

(1) संगठनात्मक संरचना (2) भाषा संबंधी बाधाएँ (3) वैयक्तिक भिन्नता (4) पद या स्थिति की बाधा (5) भौगोलिक दूरी की बाधा (6) भावात्मक एवं मनोवैज्ञानिक बाधाएँ (7) तकनीकी बाधाएँ आदि ।

संचार को प्रभावशाली बनाने के लिए निम्नलिखित बातों पर उचित ध्यान देना आवश्यक है-

(1) बोधगम्य भाषा का होना (2) कुशल श्रोता होना (3) आपसी विश्वास एवं सदभावना का पाया जाना (4) भावों पर संयम (5) प्रति-सम्भरण (6) संचार के प्रवाह को नियमित करना ।

संचार के लिए प्रयुक्त तकनीकें अथवा साधनों को प्रमुख रूप से तीन भागों में बांटकर अध्ययन किया जा सकता है-

(क) संबंधो के आधार पर

(ख) प्रवाह के आधार पर

(ग) माध्यम के आधार पर

संबंधों के आधार पर औपचारिक और अनौपचारिक माध्यम में, प्रवाह के आधार पर अधोमुखी, उर्ध्वमुखी और समतल एवं माध्यम के आधार पर मौखिक, लिखित एवं दृश्य-श्रव्य संचार मे बांटा जा सकता है ।

16.12 शब्दावली (Key Words)

संचार : संदेश को कहने, भेजने अथवा जारी करने की प्रक्रिया है ।

संचार के माध्यम : वह मार्ग जिससे संचार प्रसारित होता है ।

संदेश : वह सूचना, तथ्य, भावना है जो प्रेषक तक पहुँचाना चाहता है अर्थात् संचार की विषय-वस्तु होता है ।

प्रेषक : संदेश देने वाला प्रेषक कहलाता है ।

प्रेषिति : संदेश को प्राप्त करने वाला अथवा संदेश प्राप्तकर्त्ता प्रेषिति कहलाता है ।

सांकेतिक संचार : इस प्रकार के संचार में संदेश संकेतों, हाव-भाव एवं इशारों के द्वारा पहुँचाया जाता है ।

अनुवर्तन : संदेश के प्रति प्राप्तकर्त्ता का उत्तर या प्रतिक्रिया ।

औपचारिक संचार : इससे तात्पर्य है कि संस्था का संगठन चार्ट यह प्रदर्शित करता है कि किसी संदेश को किन-किन अधिकारियों के मध्य होकर गुजरना पड़ेगा ।

अनौपचारिक संचार : यह गैर-अधिकारिक माध्यमों से, जिसकी व्यवस्था संगठन ढाँचे में नहीं होती, प्रवाहित होती हैं ।

संचार द्विमार्गीय प्रक्रिया : संचार भी द्विमार्गीय प्रक्रिया होती है । उच्चाधिकारी अपने आदेश, निर्देश एवं सूचनाऐं अधीनस्थों को भेजते हैं और अधीनस्थ अपनी समस्याएँ कठिनाई और सुझाव उच्चाधिकारियों को इसी संचार प्रणाली द्वारा भेजते हैं । इसलिए ही संचार को द्विमार्गीय प्रक्रिया कहा है ।

अँगूरीलता संचार : संगठन में अधिकृत संचार अन्तरजाल के अलावा बाह्य मार्गो से संगठन संबंधी विषयों के संबंध में होने वाला संचार अँगूरीलता संचार कहलाता है ।

16.13 स्वपरख प्रश्न

1. सचांर को परिभाषित कीजिए । व्यावसायिक प्रबंध में संचार के महत्व का वर्णन कीजिए।
2. संचार प्रक्रिया में कौन-कौन से कदम निहित हैं? विवेचन कीजिए ।
3. संचार के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए । संचार किस प्रकार प्रभावशाली बनाया जा सकता है?
4. व्यावसायिक संचार में कौन-कौन सी बाधाऐं आती हैं? उन पर किस तरह काबू पाया जा सकता है?
5. आधुनिक विश्व में व्यावसायिक संचार में कौन-कौन सी तकनीकों अथवा साधनों का प्रयोग किया जा रहा है? संक्षेप में इनका वर्णन कीजिए ।
6. संक्षिप्त नोट लिखिये :-

   (1) औपचारिक संचार (2) अनौपचारिक संचार (3) अधोमुखी संचार (4) उर्ध्वगामी संचार

16.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें :

1. बी. एल. पोरवाल एवं वी. बी. सक्सेना. प्रबंध के सिद्धान्त एवं व्यवहार (जयपुर : नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, 1997)

2. एम.सी. शर्मा एवं सी.एल. चतुर्वेदी : प्रबंध के सिद्धान्त (दिल्ली: श्री महावीर बुक डिपो, प्रथम संस्करण)

3. जे.आर. कुम्भट्ट : व्यवसाय प्रबंध एवं व्यवहार (इलाहबाद. किताब महल, 1984)

4. हेराल्ड कुण्टज् एवं ओडोनल : मैनेजमेन्ट (नई दिल्ली. मैकग्राव हिल बुक कम्पनी, 1984)

5. वी. एस. पी. राव एवं पी. एस. नारायण : प्रिन्सिपलर एण्ड प्रेक्टिस ऑफ मैनेजमेंट (नई दिल्ली. कोणार्क पब्लिशर्स प्रा. लि. 1987)

6. डॉ.जी.डी शर्मा एवं प्रो. जी. सी. सुराणा : प्रबंध (जयपुर : रमेश बुक डिपो)

इकाई 17 आर्थिक क्रियाओं का वृत्ताकार प्रवाह (Circular flow of Economic Activities)

इकाई की रूपरेखा :-

17.1 उद्देश्य

17.2 प्रस्तावना

17.3 आर्थिक क्रियाओं का वृत्ताकार / चक्राकार प्रवाह

(i) वास्तविक प्रवाह

(ii) मौद्रिक प्रवाह

(iii) वास्तविक प्रवाह, मौद्रिक प्रवाह तथा बाजार

17.4 सारांश

17.5 शब्दावली

17.6 स्वपरख प्रश्न

17.7 उपयोगी पुस्तकें

17.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन से आप यह जान सकेंगे कि -

- अर्थव्यवस्था किन प्रमुख कार्यो को सम्पन्न करती है
- आर्थिक क्रियाओं का वृत्ताकार प्रवाह क्या है तथा यह किस प्रकार कार्य करता है ।
- आर्थिक क्रियाओं का वृत्ताकार प्रवाह की कितनी और कौन-कौन सी अवस्थाएँ है ।

17.2 प्रस्तावना (Introduction)

इस इकाई में आप इस बात का अध्ययन करेंगे कि अर्थशास्त्र के विभिन्न अंग किस प्रकार परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है और उनकी पारस्परिक निर्भरता आर्थिक क्रियाओं के वृत्ताकार प्रवाह को किरन प्रकार जन्म देती है? इसके अतिरिक्त आप इस इकाई में इस बात का भी अध्ययन करेंगे कि आर्थिक क्रियाओं के चक्राकार प्रवाह का अध्ययन किन अवस्थाओं के अन्तर्गत किया जाता है ।

17.3 आर्थिक क्रियाओं का चक्राकार / वृत्ताकार प्रवाह (Circular Flow of Economic Activities)

एक आर्थिक प्रणाली का स्वरूप चाहे पूँजीवादी हो अथवा समाजवादी अथवा मिश्रित अर्थव्यवस्था का, उसे कुछ प्रमुख कार्य अवश्य सम्पन्न करने पड़ते है । एक आर्थिक प्रणाली निम्नलिखित कार्यो को सम्पन्न करती है:

i) क्या और कितना उत्पादन किया जाए ?

ii) उत्पादन कैसे किया जाए अथवा उत्पादन का संगठन कैसा हो ?

iii) उत्पादन का वितरण कैसे किया जाए ?

iv) अति अल्पकाल में राशनिंग कैसे किया जाए ?

v) उत्पत्ति के साधनों के पूर्ण रोजगार की व्यवस्था कैसे हो ?

vi) आर्थिक अनुरक्षण और विकास कैसे हो?

vii) अन्य कार्य जैसे बचतो द्वारा मुद्रा की क्रय शक्ति में उतार-चढाव तथा स्थिरता की समस्या का हल कैसे किया जाए तथा उपभोग, उत्पादन तथा वितरण में साधनों के कुशलतम अथवा श्रेष्ठतम उपयोग की समस्या का समाधान कैसे किया जाए?

अर्थव्यवस्था के ये विभिन्न कार्य परस्पर निर्भर होते है । एक स्वतंत्र उद्यमवाली अर्थव्यवस्था (पूँजीवाद) में इन कार्यो की पारस्परिक निर्भरता एक चक्राकार प्रवाह को जन्म देती है जिसे आर्थिक क्रियाओं का चक्राकार / वृत्ताकार / वर्तुल प्रवाह कहा जाता है । आर्थिक क्रियाओं के चक्राकार प्रवाह का अध्ययन निम्नांकित तीन अवस्थाओं में किया जा सकता है : (1) वास्तविक प्रवाह, (2) मौद्रिक प्रवाह तथा (3) वास्तविक प्रवाह, मौद्रिक प्रवाह तथा बाजार । अब हम यही इनको थोड़ा विस्तारपूर्वक समझेंगे ।

(i) वास्तविक प्रवाह (Real Flow)

इस अवस्था में आर्थिक क्रियाओं का प्रवाह अर्थव्यवस्था के दो प्रमुख आर्थिक क्षेत्रों (केन्द्रो) के बीच वस्तुओं और सेवाओं तथा साधनों के परस्पर आदान प्रदान द्वारा निरन्तर चलता रहता है । ये दो प्रमुख आर्थिक क्षेत्र है परिवार और व्यावसायिक फर्मे । अर्थव्यवस्था में **परिवार** (Households) तथा **व्यावसायिक फर्मो** (Business Firms) के बीच होने वाले वस्तुओं व सेवाओं तथा साधनों के परस्पर आदान प्रदान को वास्तविक प्रवाह कहा जाता है । परिवार तथा व्यावसायिक फर्मो के बीच निरन्तर होने वाले आर्थिक लेन देन में पारस्परिक निर्भरता पाया जाती है जो अन्ततः एक वर्तुलाकार (Circular) रूप ग्रहण कर लेता है, इसलिए इसे आर्थिक क्रियाओं का चक्राकार वास्तविक प्रवाह कहा जाता है । परिवार व्यावसायिक फर्मो को उत्पादन के साहस (भूमि, श्रम, पूँजी, संगठन तथा साहस) प्रदान करते है और व्यावसायिक फर्मे साधनों के बदले में परिवारों को विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ और सेवाएँ प्रदान करती है इस प्रकार ये एक दूसरे पर अन्ततः निर्भर हैं परिवार तथा व्यावसायिक फर्मो के बीच इस परस्पर निर्भरता को चार्ट संख्या - 1 द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

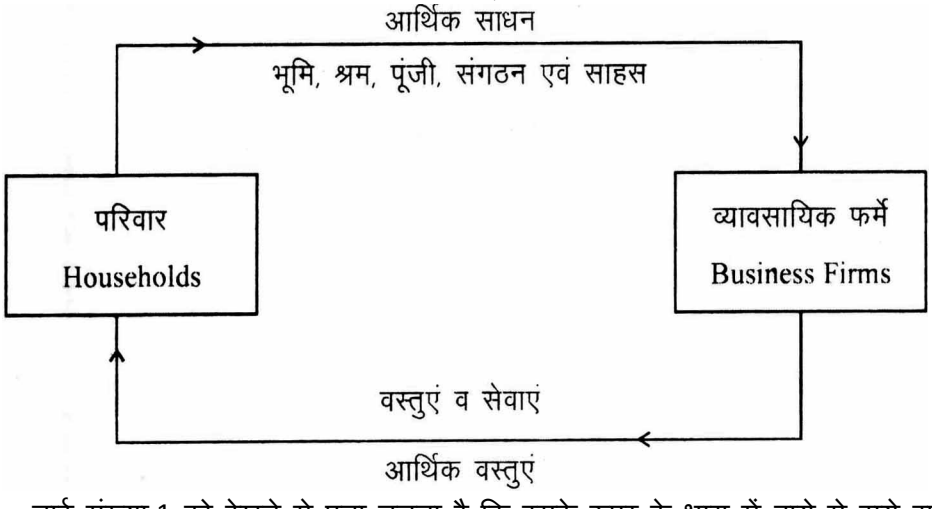

चार्ट संख्या-1 को देखने से पता चलता है कि इसके ऊपर के भाग में बाये से दाये हाथ की ओर जाने वाले तीर का निशान परिवार से व्यावसायिक फर्मो को आर्थिक (भूमि. श्रम, पूँजी संगठन

व साहस) के प्रवाह को बताता है जिसका अर्थ यह है कि परिवार व्यावसायिक फर्मो को उत्पादन के साधन उपलब्ध करवाते है क्योंकि परिवार ही उत्पादन के साधनों के स्वामी होते है । चार्ट के निचले भाग में दाये से बायी ओर जाने वाले तीर के निशान व्यावसायिक फर्मो से परिवार को वस्तुओं एवं सेवाओं के प्रवाह को दर्शाते है । इस प्रकार इससे स्पष्ट है कि व्यावसायिक फर्मे उत्पादन के साधनों के लिए परिवारों पर निर्भर करती है और इसी प्रकार परिवार भी वस्तुओं व सेवाओं के लिए व्यवसायिक फर्मो पर निर्भर रहते है । इस प्रकार परिवार और व्यावसायिक फर्मे परस्पर एक दूसरे पर अन्ततः निर्भर है । यही यह स्मरण रखना आवश्यक है कि बिना उत्पादन के साधनों के फर्मे वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन नही कर सकती और बिना वस्तुओं व सेवाओं के परिवार अपनी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट नही कर सकते । कहने का सरलता तात्पर्य यह है कि परिवारों के सहयोग के बिना व्यावसायिक फर्मे काम नही कर सकती और व्यावसायिक फर्मो के सहयोग के बिना परिवारों का काम नही चलता । बिना मुद्रा वाली अर्थव्यवस्था में परिवार तथा फर्मो के बीच होने वाला विनिमय वस्तु विनिमय कहलाता है जिसमें दोहरे संयोग तथा मूल्य मापन जैसी अनेक समस्याओं का सामना करना पडता है । वस्तु विनिमय की समस्याओं के निवारण के लिए ही मुद्रा का आविष्कार किय गया ।

(ii) मौद्रिक प्रवाह (Money Flow)

मुद्रा के आविष्कार ने वस्तु विनिमय की सभी समस्याओं का अन्त कर दिया है क्योंकि मुद्रा न केवल विनिमय का माध्यम है, वरन् मूल्य मापन का सर्वमान्य पैमाना भी है । मुद्रा के इन दोनों कार्यो ने परिवार तथा फर्मो के बीच होने वाले लेन देन को सरल एव सुगम बना दिया है । मुद्रा के चलन के कारण विनिमय में लगने वाला समय और श्रम काफी कम हो गया है । मुद्रा के व्यापक चलन के कारण आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं को **'मुद्रीकृत अर्थव्यवस्था'** (Monetised Economy) कहा जाता है । मुद्रा में मूल्य मापन का गुण होने के कारण उत्पादन के साधनों का पुरस्कार मुद्रा में और वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य में प्रकट किया जाता है । मुद्रा द्वारा विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य किये जाने के कारण परिवार फर्मो से उत्पादन के साधनों का पुरस्कार मुद्रा में प्राप्त करने लगे और इसी प्रकार फर्मे भी परिवारों से अपनी वस्तुओं और सेवाओं की आपूर्ति के बदले मुद्रा स्वीकार करने लगी । इस प्रकार आर्थिक क्रियाओं का प्रवाह जो पहले बिना मुद्रा के होता था, अब मुद्रा के माध्यम से संचालित होने लगा । मुद्रा के माध्यम से परिवार तथा फर्मो के बीच उत्पादन के साधनों तथा वस्तुओं और सेवाओं के परस्पर लेन देन को मुद्रा प्रवाह कहा जाता है । वास्तव में देखा जाए तो मुद्रा के व्यापक प्रचलन के कारण सभी अर्थव्यवस्थाओं में अब वस्तु प्रवाह नाम मात्र का रह गया है ।

परिवार फर्मो को उत्पादन के साधन प्रदान करते है और उनकी सेवाओं के बदले फर्म उन्हे लगान मजदूरी, ब्याज व लाभ के रूप में मुद्रा प्रदान करती है जो उत्पादन के साधनो (परिवार) की मौद्रिक आय होती है । परिवार फर्मो से प्राप्त इस मौद्रिक आय का उपयोग फर्मो द्वारा उत्पादित वस्तुओं व सेवाओं को क्रय करने के लिए करते है, जो फर्मो की मौद्रिक आय होती है । फर्मो परिवारों से प्राप्त इस मौद्रिक आय का प्रयोग परिवारों से प्राप्त उत्पादन के साधनो के पुरस्कार के भुगतान के रूप में करती है । इरा प्रकार मौद्रिक प्रवाह मे दोहरी प्रक्रिया होती है । सर्वप्रथम इसमें परिवार को उनके साधनों के बदले मुद्रा प्राप्त होती है और परिवार मुद्रा के बदले फर्मो से वस्तुएँ व सेवाएँ प्राप्त करते है । द्वितीय, इसमें फर्मो अपनी वस्तुओं व सेवाओं के बदले परिवार से मुद्रा प्राप्त करती है तथा इस मुद्रा से परिवार

से साधन प्राप्त करती है । अर्थव्यवस्था गे मौद्रिक प्रवाह की इस द्वि-तरफीय प्रक्रिया को नीचे दिये गये चार्ट संख्या 2 से आसानी से समझी जा सकता है ।

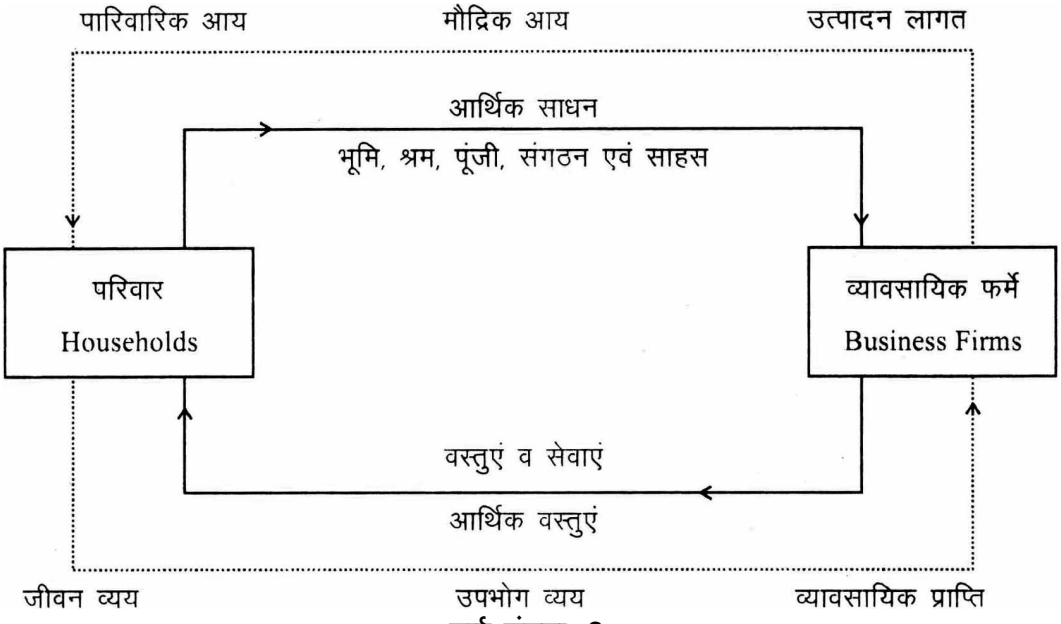

चार्ट संख्या- 2

चार्ट संख्या 2 के ऊपरी भाग में बांयी ओर से दायीं ओर जाने वाला तीर का निशान परिवार से फर्मो को आर्थिक साधनों का प्रवाह व्यक्त करता है जो इस बात का प्रतीक है कि परिवार फर्मो को उत्पादन के साधन (भूमि, श्रम, पूँजी, संगठन व साहस) प्रदान करते है तथा चार्ट के सबसे ऊपरी भाग में दायें से बायँ की ओर जाने वाला तीर का निशान परिवार को साधनों के बदले फर्मो से प्राप्त होने वाली मौद्रिक आय को बताता है । फर्मो द्वारा परिवार को साधनो की सेवाओं के बदले जो पुरस्कार दिया जाता है, वह फर्मो की उत्पादन लागत है तथा परिवारों की मौद्रिक आय है । फर्मो की उत्पादन लागत को चार्ट के ऊपरी भाग में दायी दिखाया गया है । चार्ट के सबसे निचले भाग में बायी ओर से दायी ओर जाने वाले तीर का निशान बताता है कि परिवार अपनी मौद्रिक आय को उपभोग पर व्यय करता है अर्थात परिवार अपनी आय को फर्मो द्वारा उत्पादित वस्तुओं व सेवाआ को क्रय करने पर व्यय करते है, जो फर्मो की प्राप्ति होती है । परिवार का जीवन व्यय फर्मो की व्यावसायिक प्राप्ति है जिसे चार्ट के सबसे निचले भाग में दायी ओर दर्शाया गया है । इस प्रकार परिवार तथा फर्मे मौद्रिक आय की दृष्टि से परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं । यह बात इस आधारभूत सिद्धान्त पर आधारित है कि एक व्यक्ति की आय दूसरे का व्यय होता है तथा एक व्यक्ति का व्यय दूसरे की आय होती है । इसलिए मौद्रिक प्रवाह इस बात को दर्शाता है कि फर्मो का व्यय परिवारों की आय है तथा परिवारो कां व्यय फर्मो की प्राप्ति है ।

(iii) वास्तविक प्रवाह, मौद्रिक प्रवाह तथा बाजार (Real Flow, Money Flow add Market)

आधुनिक अर्थव्यवस्था पहले रवे अधिक जटिल हो गयी है । एक स्वतंत्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं का वृत्ताकार प्रवाह केवल वास्तविक प्रवाह तथा मौद्रिक प्रवाह तक सीमित नहीं रह गया है । अब इसमें एक तीसरा घटक बाजार और सम्मिलित हो गया है । अब अर्थव्यवस्था में परिवार तथा फर्मो के बीच उत्पादन के साधनो तथा वस्तुओं व सेवाओं का आदान प्रदान

मुद्रा के माध्यम से प्रत्यक्ष न होकर साधन बाजार तथा वस्तु बाजार के माध्यम से होता है जिसके कारण अर्थव्यवस्था की जटिलता बढ जाती है । इससे यह स्पष्ट है कि स्वतंत्र उद्यमवाली अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं का चक्राकार प्रवाह वास्तविक प्रवाह, मौद्रिक प्रवाह तथा बाजारों को मिलकर बनता है । परिवार तथा फर्मो के बीच साधनों तथा वस्तुओं व सेवाओं के आदान प्रदान (विनिमय) की दृष्टि से स्वतंत्र उद्यमवाली अर्थव्यवस्था में बाजार मुख्य रूप से दो प्रकार होते है वस्तु बाजार व साधन बाजार । वस्तु बाजार वह बाजार होता है जहाँ व्यावसायिक फर्मे विक्रय हेतु वस्तुओं व सेवाओं की पूर्ति करती है तथा परिवार क्रय हेतु वस्तुओं व सेवाओं की माँग करते है । इस प्रकार वस्तु बाजार में वस्तुओं व सेवाओं का विनिमय (क्रय विक्रय) होता है । इसमें व्यावसायिक फर्म विक्रेता तथा परिवार क्रेता होते है । साधन बाजार वह बाजार होता है जिसमें परिवार विक्रय हेतु उत्पादन के साधनों (भूमि, श्रम, पूँजी आदि) की पूर्ति करते है तथा व्यावसायिक फर्मे वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन हेतु उत्पादक के साधनों की माँग करते है । इस प्रकार साधन बाजार में परिवार साधनों के विक्रेता और क्यों क्रेता होती है ।

परिवार के पास आर्थिक साधनों का स्वामित्व होने के कारण वे अपने साधन, साधन बाजार के माध्यम से फर्मो को एक निश्चित कीमत पर बेचते है । परिवार को साधनों की पूर्ति (विक्रय) के बदले फर्मो से मौद्रिक आय प्राप्त होती है जिसे साधनो का पारिश्रमिक कहा जाता है । साधनों का पुरस्कार फर्मो के लिए उत्पादन लागत होती है तथा परिवारों के लिए मौद्रिक आय होती है । परिवारों की मौद्रिक आय उनके द्वारा पूर्ति किय गये साधनों की मात्रा तथा बाजार में प्रचलित कीमत पर निर्भर करती है । परिवार फर्गो से प्राप्त मौद्रिक आय को फर्मो द्वारा उत्पादित विभिन्न उपभोक्ता वस्तुओं व सेवाओं पर खर्च करते है, जिसे उपभोग व्यय अ अथवा मौद्रिक व्यय कहते है । परिवार का उपभोग व्यय उसके द्वारा क्रय की जाने वाली वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा तथा उनकी वस्तु बाजार में प्रचलित कीमतों पर निर्भर करता है । परिवार द्वारा वस्तुओं व सेवाओं पर किया गया व्यय फर्मो की व्यावसायिक प्राप्ति (आय) होती है । चार्ट संख्या 3 के द्वारा अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं के चक्राकार प्रवाह को दर्शाया गया है ।

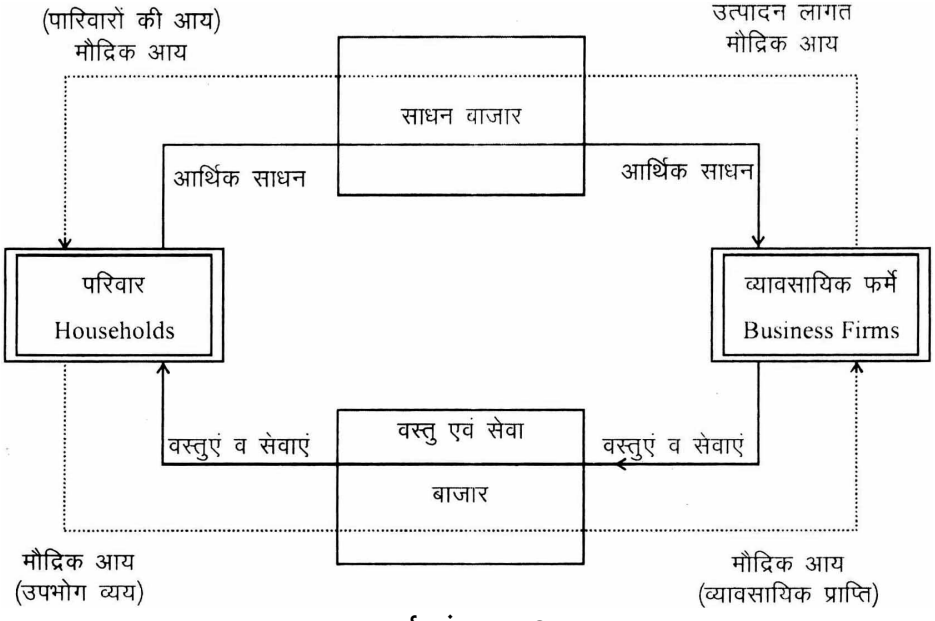

चार्ट संख्या - 3

उपर्युक्त चार्ट के ऊपरी भाग में साधन बाजार को दर्शाया है । इस बाजार के माध्यम से परिवार अपने आर्थिक साधनों (भूमि, श्रम, व पूँजी आदि) को व्यावसायिक फर्मो को बेचते हैं जिनके बदले उन्हे फर्मो से मौद्रिक आय प्राप्त होती है । फर्मो द्वारा परिवारों को साधनों की सेवाओं के लिए किया गया मौद्रिक व्यय उनकी उत्पादन लागत होती है और परिवारो की मौद्रिक आय । चार्ट के निचले भाग में वस्तु बाजार को दर्शाया गया है । इस बाजार के माध्यम से परिवार फ़र्मों द्वारा उत्पादित वस्तुओं व सेवाओं को क्रय करते हैं जिनके एवज में उन्हे मौद्रिक व्यय करना पडता है, जिस उपभोग व्यय कहते है । परिवारों का उपभोग व्यय व्यावसायिक फर्मो की प्राप्ति से होती है, जिसे व्यावसायिक प्राप्ति अथवा फ़र्मों की मौद्रिक आय कहते है । इस प्रकार चार्ट से सुस्पष्ट है कि परिवार तथा व्यावसायिक फर्मो परस्पर एक दूसरे से प्राप्त आय को एक दूसरे पर व्यय करते है । फर्मो का मौद्रिक व्यय परिवारों की मौद्रिक आय होती है और परिवारों का मौद्रिक व्यय फर्मो की मौद्रिक आय होती है । परिवार तथा फ़र्मों का आर्थिक दृष्टि से परस्पर एक दूसरे पर निर्भर रहना ही आर्थिक क्रियाओं के वृताकार प्रवाह को जन्म देता है और यह प्रवाह अनवरत रूप से चलता रहता है ।

17.4 सारांश

एक आर्थिक प्रणाली को कुछ प्रमुख कार्य अवश्य सम्पन्न करने पडते है चाहे उसका स्वरूप कैसा भी हो । एक स्वतंत्र उद्यगवाली अर्थव्यस्था गे उसके कार्यो की पारस्परिक निर्भरता एक चक्राकार प्रवाह को जन्म देती है जिसे आर्थिक क्रियाओं का वृत्ताकार प्रवाह कहते है । आर्थिक क्रियाओं के वास्तविक प्रवाह का अध्ययन वास्तविक प्रवाह, मौद्रिक प्रवाह तथा बाजार की तीन अवस्थाओं के अन्तर्गत किया जाता है । अर्थव्यवस्था में परिवार तथा व्यावसायिक फर्मो के बीच होने वाले वास्तविक वस्तुओं व सेवाओं तथा साधनों के परस्पर आदान प्रदान को वास्तविक प्रवाह कहते है । मुद्रा के माध्यम से परिवार तथा फर्मो के बीच उत्पादन के साधनों तथा वस्तुओं व सेवाओं के परस्पर आदान प्रदान को मुद्रा प्रवाह कहते है । आधुनिक अर्थव्यवस्थाओ में परिवार तथा फर्मो के बीच उत्पादन के साधनों तथा वस्तुओं व सेवाओं का आदान प्रदान मुद्रा के माध्यम से प्रत्यक्ष न होकर साधन बाजार तथा वस्तु बाजार के माध्यम से होता है, इसलिए स्वतंत्र उद्यमवाली अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं का वृत्ताकार प्रवाह वास्तविक प्रवाह, मौद्रिक, प्रवाह तथा साधन बाजार व वस्तु बाजार से मिलकर बनता है ।

17.5 प्रमुख शब्दावली (Key Words)

(i) स्वतंत्र उद्यमवाली अर्थव्यवस्था (Free Enterprise Economy) : पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को स्वतंत्र उद्यमवाली अर्थव्यवस्था कहतें है । इसमें आर्थिक क्रियाओं का संचालन माँग और पूर्ति की स्वतंत्र शक्तियों के द्वारा स्वत: ही होता रहता है इसलिए इसे स्वचालित अर्थव्यवस्था भी कहते है ।

(ii) आर्थिक क्रियाओं का वृत्ताकार प्रवाह (Circular Flow of Economic Activities) : अर्थव्यवस्था में सम्पन्न होने वाली क्रियाएँ परस्पर एक दूसरे पर निर्भर करती है, इसलिए इनकी परस्पर निर्भरता को प्रदर्शित करना ही आर्थिक क्रियाओं का चक्राकार प्रवाह कहलाता है । आर्थिक क्रियाएँ एक दूसरे की कारण एवं प्रभाव दोनों है ।

(iii) साधन बाजार (Factor Market) : यह वह बाजार होता है जहाँ उत्पादन के साधनो (भूमि, श्रम, पूँजी, संगठन व साहस) का क्रय विक्रय होता है । साधन की मांग व पूर्ति बाजार कीमत या साधन की कीमत का निर्धारण करती है ।

(iv) वस्तु बाजार (Commodity Market) : यह वह बाजार होता है जहॉ वस्तुओं व सेवाओं का क्रय विक्रय होता है । वस्तु की मांग व पूर्ति की सापेक्षित शक्तियां वस्तु की कीमत का निर्धारण करती है ।

(v) वास्तविक प्रवाह (Real Flow) : यह प्रवाह अर्थव्यवस्था के दो आधारभूत स्तम्भों - परिवार तथा व्यावसायिक फर्मो के बीच होने वाले साधनों तथा वस्तुओं व सेवाओ के आदान प्रदान को दर्शाता है ।

(vi) मौद्रिक प्रवाह (Money Flow) : मुद्रा के माध्यम से परिवार तथा फर्मो के बीच साधनों तथा वस्तुओं व सेवाओं के परस्पर आदान प्रदान को दर्शाने वाला प्रवाह मौद्रिक कहलाता है ।

17.6 स्वपरख प्रश्न (Self Examined Questions)

1. आर्थिक क्रियाओं के वृत्ताकार प्रवाह को सचित्र समझाइये ।
2. परिवार और व्यावसायिक फर्म किस प्रकार परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है?
3. साधन बाजार और वस्तु बाजार किस प्रकार एक दूसरे से परस्पर सम्बन्धित है?
4. "परिवार की आय फर्मो की लागत है तथा परिवार का व्यय फर्मो की आय है ।" समझाइये।
5. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :

(i) वास्तविक प्रवाह

(ii) मौद्रिक प्रवाह

(iii) वास्तविक प्रवाह, मौद्रिक प्रवाह एवं बाजार

(iv) वस्तु बाजार व साधन बाजार

(v) स्वतंत्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था

17.7 उपयोगी पुस्तकें

(i) व्यष्टि अर्थशास्त्र : एन.डी.गाथुर व ओपी गुप्ता (शिवम् बुक हाउस,) जयपुर ।

(ii) व्यावसायिक अर्थशारत्र : अग्रवाल, अग्रवाल व गुप्ता (रमेश बुक डिपो), जयपुर ।

इकाई 18: मानवीय आवश्यकताएँ एवं उपयोगिता (Human Wants and Utility)

इकाई की रूपरेखा :-

18.1 उद्देश्य
18.2 प्रस्तावना
18.3 आवश्यकताओं के लक्षण एवं विशेषताएँ
18.4 आवश्यकताओं का वर्गीकरण
(i) अनिवार्यताएँ
(ii) आरामदायक
(iii) विलासिताएँ
18.5 आवश्यकताओं के वर्गीकरण को प्रभावित करने वाले तत्त्व
18.6 आवश्यकताओं के वर्गीकरण का आधार
18.7 उपयोगिता का अर्थ एवं परिभाषा
18.8 उपयोगिता की विशेषताएँ
18.9 उपयोगिता के प्रकार
18.10 सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता के बीच सम्बन्ध
18.11 सारांश
18.12 शब्दावली
18.13 स्वपरख प्रश्न
18.14 उपयोगी पुस्तकें

18.1 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन से आप यह बता सकेंगे कि:
- आवश्यकता किसे कहते हैं ।
- आवश्यकताओं की कौन-कौन सी प्रमुख विशेषताएँ होती हैं ।
- आवश्यकताएँ कितनी प्रकार की होती हैं ।
- आवश्यकताओं के वर्गीकरण को प्रभावित करने वाले कौन-कौन से कारक होते हैं
- आवश्यकताओं के वर्गीकरण का आधार क्या है
- उपयोगिता किसे कहते हैं
- उपयोगिता की कौन-कौन सी प्रमुख विशेषताएँ होती हैं
- उपयोगिता कितनी प्रकार की होती है ।

18.2 प्रस्तावना

प्राय: हम यह देखते है कि प्रत्येक व्यक्ति रात और दिन किसी न किसी काम में व्यस्त रहता है । प्रातःकाल से लेकर सांयकाल तक वह भाग-दौड़ करता रहता है । इस भाग-दौड़ का प्रमुख कारण

यह है कि व्यक्ति के सामने अनेक आवश्यकताएँ हैं, जिनकी संतुष्टि के लिए वह सदैव प्रयत्नरत रहता है । इस इकाई में हम आवश्यकताओं के लक्षण एवं वर्गीकरण का अध्ययन करेंगे और यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि आवश्यकताओं को प्रभावित करने वाले कौन से तत्व हैं तथा आवश्यकताओं के वर्गीकरण का आधार क्या है? इसके अतिरिक्त इस इकाई में हम इस बात का भी अध्ययन करेंगे कि उपयोगिता से हमारा क्या आशय है और इसकी क्या विशेषताएँ होती हैं? साथ ही साथ यह इकाई इस बात पर भी प्रकाश डालेगी कि उपयोगिता कितने प्रकार की होती है तथा सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता के बीच क्या संबंध पाया जाता है?

आवश्यकता का अर्थ (Meaning of Want)

साधारण बोलचाल की भाषा में इच्छा (Desire), आवश्यकता (Want) तथा माँग (Demand) को हम पर्यायवाची शब्द मानकर एक ही अर्थ में प्रयुक्त करते हैं । परन्तु अर्थशास्त्र में इन शब्दों में बड़ा भारी अन्तर हैं । अर्थशास्त्र में प्रत्येक इच्छा को आवश्यकता नहीं माना जाता है । अत: आवश्यकता वह प्रभावपूर्ण इच्छा (Effective Desire) है जिसकी पूर्ति के लिए मनुष्य के पास पर्याप्त साधन (Adequant Resources) उपलब्ध हों तथा वह उस इच्छा की पूर्ति के लिए उन साधनों का प्रयोग (Intensity of Strend Resources) करने के लिए तैयार हो । प्रो. टामस (Thomas) के शब्दों में, "आवश्यकता उस प्रबल इच्छा को कहते हैं जिसको संतुष्ट करने के लिए मनुष्य के पास पर्याप्त साधन हों तथा वह उन साधनों को व्यय करने को तत्पर हो ।" इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि किसी वस्तु की आवश्यकता होने के लिए उसमें निम्नांकित तीन तत्व होना आवश्यक है:

1. **वस्तु की इच्छा होना (Desire of Commodity) :** आवश्यकता होने के लिए सर्वप्रथम व्यक्ति के मन में उस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा होनी चाहिए क्योंकि 'इच्छा ही आवश्यकता की जननी' है । जब तक व्यक्ति के मन में उस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा पैदा नहीं. होगी, तब तक उस वस्तु की आवश्यकता उत्पन्न होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता है ।
2. **इच्छा पूर्ति के लिए पर्याप्त साधन होना (Availability of adequate resources):** किसी वस्तु की इच्छा तभी आवश्यकता कहलायेगी जब व्यक्ति के पास उस इच्छा की पूर्ति के लिए पर्याप्त साधन (मुद्रा) हो । पर्याप्त साधनों के अभाव में आवश्यकता केवल इच्छा ही रह जाएगी । उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति की मोटर साइकिल प्राप्त करने की इच्छा है, लेकिन उसके पास मोटर साइकिल खरीदने के लिए पर्याप्त धनराशि नहीं है, तो वह आवश्यकता नही कहलाएगी ।
3. **साधनों को व्यय करने की तत्परता (Willingness of spend) :** यदि व्यक्ति के मन में किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा है और उसकी पूर्ति के लिए उसके पास पर्याप्त साधन भी हैं, परन्तु वह उनको उस इच्छा की पूर्ति के लिए खर्च करने को तैयार नहीं है तो वह इच्छा आवश्यकता नहीं बन पायेगी । किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा आवश्यकता तभी बन पाएगी, जब व्यक्ति के पास इच्छा पूर्ति के लिए पर्याप्त साधन हों और उनको वह उस इच्छा की पूर्ति हेतु खर्च करने के लिए तत्पर हो ।

सार-संक्षेप रूप में हम यह सकते है कि कोई भी इच्छा आवश्यकता का रूप तभी ग्रहण करती है जब व्यक्ति के पास उसकी पूर्ति के लिए पर्याप्त साधन हों और वह उन्हें उस पर खर्च करने को तैयार हो । सूत्र रूप में इस बात को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है:

आवश्यकता = इच्छा + पर्याप्त साधन + साधनों को खर्च करने की तत्परता

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि "प्रत्येक आवश्यकता इच्छा होती है, जबकि प्रत्येक इच्छा आवश्यकता नहीं होती है ।" केवल प्रभावपूर्ण इच्छा ही आवश्यकता होती है। प्रभावपूर्ण इच्छा होने के लिए साधनों की पर्याप्तता तथा उनके व्यय करने की तत्परता को होना आवश्यक है ।

आवश्यकता एवं माँग में अन्तर (Distinction between Want and Demand)

आवश्यकता एवं माँग में निम्नलिखित महत्वपूर्ण अन्तर हैं :

(i) माँग की मात्रा सदैव निश्चित समय एवं कीमत से संबन्धित होती है, जबकि आवश्यकता का संबंध निश्चित समय एवं कीमत से नहीं होता है । माँग की मात्रा सदैव निश्चित कीमत एवं समय पर ही व्यक्त की जाती है- बिना इनके माँग का कोई अर्थ नहीं होता है ।

(ii) माँग उस आवश्यकता को कहते हैं जिसकी सन्तुष्टि (पूर्ति) हो जाती हैं अर्थात् आवश्यकता से ही माँग का जन्म होता है । इस दृष्टि से आवश्यकता कारण (Cause) है, तो माँग परिणाम (Effect) है ।

(iii) माँग अनेक कारणों से प्रभावित होने के कारण समय-समय पर बदलती रहती है, जबकि आवश्यकता प्राय: स्थायी किस्म की होती है और उसमें परिवर्तन कम होता है ।

प्रो. बेन्हम (Benham) ने माँग का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "किसी दी हुई कीमत पर किसी वस्तु की माँग उसकी वह मात्रा है, जो उस कीमत पर किसी समय विशेष पर क्रय की जायेगी।" संक्षेप में कहें तो कोई आवश्यकता माँग तभी कहलाएगी जब उसका संबंध किसी निश्चित कीमत और समय से हो । सूत्र रूप में

माँग = आवश्यकता + निश्चित कीमत + निश्चित समय

अथवा (Or)

माँग = इच्छा + इच्छा पूर्ति के पर्याप्त साधन + साधनों को व्यय करने की तत्परता + निश्चित कीमत + निश्चित समय

18.3 आवश्यकताओं के लक्षणा / विशेषताएँ (Characteristics of Wants) :

आवश्यकताओं के प्रमुख लक्षण निम्नांकित हैं:

(1) आवश्यकताएँ अनन्त अथवा असीमित होती हैं (Wants of Unlimited) : मनुष्य की आवश्यकताएँ आकाश की भाँति अनन्त होती है । मनुष्य द्वारा जैसे ही एक आवश्यकता की सन्तुष्टि की जाती है, तुरन्त ही दूसरी आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार मनुष्य जैसे-जैसे आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करता जाता है, वैसे-वैसे ही नई-नई आवश्यकताएँ उत्पन्न होती जाती हैं । इसलिए ही आवश्यकताओं का कभी कोई अन्त

नहीं होता है । आवश्यकताओं की इस विशेषता पर 'प्रगति के नियम' (Laws of Progress) आधारित है ।

(2) आवश्यकता विशेष की सन्तुष्टि की जा सकती है (Particular want can be satisfied) : चूँकि आवश्यकताएँ असीमित होती हैं और उन्हें सन्तुष्ट करने वाले साधन सीमित होते हैं, इसलिए मनुष्य द्वारा सभी आवश्यकताओं को एक साथ सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता है । किन्तु एक समय विशेष में मनुष्य अपनी किसी एक आवश्यकता विशेष को पूर्णतया संतुष्ट कर सकता है क्योंकि प्रत्येक आवश्यकता की सन्तुष्टि की एक सीमा होती है । उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति अपनी भूख तथा प्यास को पूरी तरह से सन्तुष्ट कर सकता है । यही यह बात ध्यान देने योग्य है कि वस्तु विशेष की आवश्यकता की पूर्ति के साथ-साथ उस वस्तु से मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता घटती चली जाती है । आवश्यकताओं के इस लक्षण पर 'सीमान्त उपयोगिता हास नियम' (law of Diminishing marginal Utility) आधारित है ।

(3) आवश्यकताएँ परस्पर प्रतियोगी होती हैं (Wants are competitive) : आवश्यकताओं की असीमितता तथा साधनों की सीमितता के संदर्भ में मनुष्य अपनी उन आवश्यकताओं की पूर्ति पहले करता हैं जो उसके लिए अधिक तीव्र होती हैं । इस प्रकार विभिन्न आवश्यकताओं के बीच चुने जाने के लिए परस्पर प्रतियोगिता होती है । आवश्यकताओं की इस विशेषता पर 'सम-सीमान्त' उपयोगिता नियम अथवा 'प्रतिस्थापन का नियम' (Law of Sustitution) आधारित है ।

(4) आवश्यकताएँ पूरक होती हैं (Wants are complementary) : कुछ आवश्यकताएँ एक दूसरे की पूरक होती हैं अर्थात् एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए दो या दो से अधिक वस्तुएँ एक साथ काम में ली जाती हैं । उदाहरण के लिए, चाय की आवश्यकता पूर्ति के लिए चाय के साथ-साथ चीनी और दूध होना आवश्यक है । इसी प्रकार पेन और स्याही, गेंद और बल्ले की आवश्यकता, आवश्यकताओं के पूरक होगे के अन्य उदाहरण हैं । आवश्यकताओं के इस लक्षण पर 'संयुक्त माँग का नियम' (law of Joint Demand) आधारित है ।

(5) आवश्यकताओं की तीव्रता में भिन्नता होती है (Wants vary in intensity) : विभिन्न आवश्यकताओं की तीव्रता में अन्तर होता है अर्थात् सभी आवश्यकताएँ समान महत्व की नहीं होती हैं । कुछ आवश्यकताएँ अधिक तीव्र होती हैं, तो कुछ कम । हम पहले ही यह बात समझ चुके हैं कि मनुष्य पहले,उन आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा जिनकी तीव्रता उसके लिए अधिक होती है बजाय उन आवश्यकताओं के जिनकी तीव्रता अपेक्षाकृत कम होती है । इस आधार पर हम यह विश्वास के साथ कह सकते हैं कि एक व्यक्ति पहले अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा और फिर बाद में साधन शेष रहने पर क्रमश: आरामदायक और विलासिताओं की पूर्ति करेगा । आवश्यकताओं की इस विशेषता के आधार पर आधुनिक अर्थशास्त्री 'प्राथमिकता फलन' (Preference Function) की व्याख्या करते हैं ।

(6) वर्तमान आवश्यकताएँ भविष्य की आवश्यकताओं से अधिक महत्वपूर्ण होती हैं (Present wants are more important than future wants) : भविष्य अनिश्चित एवं कल्पित होता है, जबकि वर्तमान निश्चित एवं वास्तविक होता है । कल किसने देखा की प्रचलित धारणा के चलते मनुष्य प्राय: भविष्य की तुलना में वर्तमान को अधिक महत्व देता है और यही कारण है कि वर्तमान आवश्यकताएँ, भविष्य की आवश्यकताओं की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण होती हैं । वैसे भी वर्तमान आवश्यकताओं की तीव्रता भविष्य की आवश्यकताओं से कहीं अधिक होती है । आवश्यकताओं की इस विशेषता पर ब्याज का 'प्रतीक्षा सिद्धान्त', फिशर का 'समय पसन्दगी सिद्धान्त' तथा लार्ड कीन्स का 'तरलता पसन्दगी सिद्धान्त' आधारित हैं।

(7) आवश्यकताएँ बार-बार उत्पन्न होती हैं (Wants are recurring) : कुछ आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं जिन्हें एक बार सन्तुष्ट कर देने के पश्चात फिर उत्पन्न हो जाती हैं अर्थात् वे बार-बार उत्पन्न होती रहती हैं । भोजन, पानी, चाय आदि की आवश्यकताएँ इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं ।

(8) आवश्यकताएँ वैकल्पिक होती हैं (Wants are alternative) : कुछ आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं जिनकी सन्तुष्टि एक से अधिक वस्तुओं (वैकल्पिक वस्तुओं या सेवाओं) से की जा सकती है । उदाहरण के लिए, किसी स्थान की दूरी तय करने के लिए हम बस से, रेल से अथवा हवाई जहाज से यात्रा कर सकते हैं । आवश्यकताओं की इस विशेषता पर 'मिश्रित पूर्ति' (Composite Supply) तथा 'वैकल्पिक माँग' (Alternative Demand) की अवधारणाएँ आधारित हैं ।

(9) आवश्यकताएँ आदत में बदल जाती हैं (Wants become a matter of habit) : कुछ वस्तुओं का निरन्तर सेवन (प्रयोग) करने से उनकी आवश्यकता आदत में बदल जाती है । उदाहरण के लिए चाय, सिगरेट, शराब आदि की आवश्यकता । जब मनुष्य किसी वस्तु का आदि हो जाता है, तो वह उसके बिना नहीं रह सकता और उसके अभाव में उसकी कार्यकुशलता घट जाती है ।

(10) आवश्यकताएँ ज्ञान वृद्धि से बढ़ती हैं (Wants become a matter of habit) : मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि के साथ उसकी आवश्यकताएँ भी बढ़ती जाती हैं । ज्ञान बढने के कारण आज के मनुष्य की आवश्यकताएँ पहले के मनुष्य से कहीं अधिक हैं और इसमें निरन्तर वृद्धि होती चली जा रही है । इस बात को हम इससे भी समझ सकते हैं कि विकसित समाज की आवश्यकताएँ पिछड़े समाज से कहीं अधिक होती हैं । ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार से आवश्यकताओं में भारी वृद्धि हुई है ।

(11) आवश्यकताएँ आविष्कार की जननी हैं (wants are the mother of invention): आवश्यकताओं में होने वाली वृद्धि के कारण उन्हें संतुष्ट करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करने पड़ते हैं, जिनसे नवाचार व अविष्कार को जना मिलता है ।

(12) आवश्यकताओं पर रीति-रिवाज तथा फैशन का प्रभाव पड़ता है (Wants are affected by customs and fashions) : आवश्यकताएँ समाज और समय के

प्रचलित रीति-रिवाजों तथा फैशन से प्रभावित होती हैं और बदलती भी रहती हैं । सामाजिक रूढियाँ एवं परम्पराएँ, फैशन आदि हमारी आवश्यकताओं को गहरे रूप में प्रभावित करते हैं ।

18.4 आवश्यकताओं का वर्गीकरण (Classification of Wants) :

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि आवश्यकताएँ अनन्त और साधन सीमित होते हैं इसलिए हमारे सामने यह समस्या सदैव बनी रहती है कि पहले किन आवश्यकताओं की पूर्ति करें? हम सब हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति उनकी तीव्रता के आधार पर करते हैं । इसलिए आवश्यकताओं की तीव्रता, सुख-दुःख तथा कार्यकुशलता के आधार पर आवश्यकताओं को निम्नलिखित तीन भागों में बांटा जाता है :

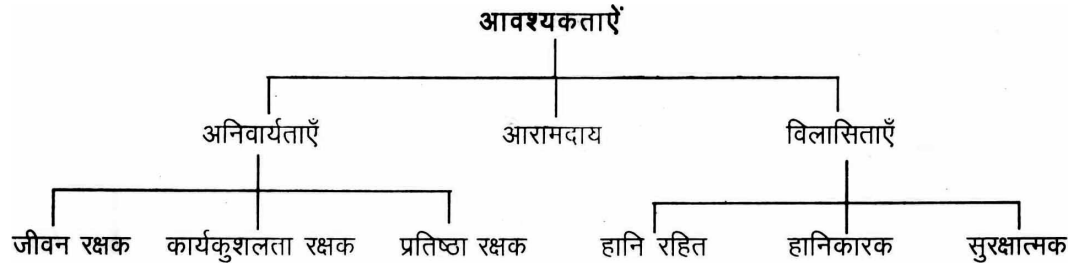

1. **अनिवार्य आवश्यकताएँ (Necessaries) :** जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है कि ये वे आवश्यकताएँ होती है जिनकी पूर्ति करना हर हालत में अनिवार्य है क्योंकि इनकी पूर्ति किये बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता है । इन्हें मौलिक, प्राथमिक अथवा आधारभूत आवश्यकताओं के नाम से भी जाना जाता है । अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति होने पर मनुष्य को अपार कष्ट होता है, किन्तु इनकी सन्तुष्टि से कोई विशेष सुख नहीं मिलता है । इन्हें कार्यक्षमता के आधार पर अग्रलिखित तीन भागों में वर्गीकृत किया जाता है:

   (i) जीवन रक्षक अनिवार्यताएँ (Necessaries of life) : ये वे आधारभूत आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति किये बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता है । मोरलैण्ड के अनुसार "भोजन, वस्त्र व मकान की वह न्यूनतम मात्रा जो मनुष्य को केवल जीवित रहने के लिए चाहिए, जीवन रक्षक आवश्यकताओं की श्रेणी में रखी जा सकती हैं ।"

   (ii) कार्यकुशलता रक्षक अनिवार्यताएँ (necessaries for efficiency) : इनके अन्तर्गत उन आवश्यकताओं को रखा जाता है जिनकी पूर्ति करने से मनुष्य की कार्य कुशलता बनाये रखी जा सकती है अथवा उसमें थोड़ी वृद्धि की जा सकती है । मोरलैण्ड ने इनके अन्तर्गत पौष्टिक भोजन, न्यूनतम मात्रा से अधिक व पर्याप्त वस्त्र, स्वच्छ व हवादार मकान, चिकित्सा व आमोद-प्रमोद की सुविधा, पिता के समान पुत्र की शिक्षा, वृद्धावस्था के लिए उचित मात्रा में आर्थिक सहायता आदि को रखा है । इन आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से मनुष्य का जीवन तो खतरे में नहीं पड़ता, किन्तु उसकी कार्य कुशलता अवश्य कम हो जाती है ।

   (iii) प्रतिष्ठारक्षक अनिवार्यताएँ (Conventional Necessaries) : ये ऐसी आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी पूर्ति सामाजिक प्रतिष्ठा बचाये रखने के लिए आवश्यक होती हैं । इन्हें रूढ़िगत आवश्यकताएँ भी कहा जाता है क्योंकि इनकी पूर्ति सामाजिक दृष्टि से रूढ़ परिस्थितियों को

निभाने के लिए की जाती है । जन्म, विवाह, मृत्यु तथा धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों पर निभाए जाने वाली परम्पराएँ इन आवश्यकताओं के कतिपय उदाहरण हैं । अनपढ़ या अशिक्षित समाज में इन आवश्यकताओं की पूर्ति जीवन रक्षक आवश्यकताओं से भी अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है ।

कुछ लोग एक अन्य प्रकार की अनिवार्य आवश्यकता भी बताते है जिसे आदत संबंध अनिवार्यता कह जाता है । व्यक्ति द्वारा कुछ वस्तुओं का लगातार प्रयोग किये जाने की वजह से वह उनका आदि हो जाता है । यदि वह ऐसी वस्तुओं का उपभोग नहीं करता है, तो न केवल उसे कष्ट होता है, वरन् उसकी कार्य कुशलता में भी कमी आ जाती है । उदाहरण के लिए चाय, काँफी, सिगरेट, शराब अफीम आदि की आदत ।

2. **आरामदायक आवश्यकताएँ (Comforts) :** ये वे आवश्यकताएँ होती है जिनकी पूर्ति होने से मनुष्य का जीवन आरामदायक / सुखमय बन जाता है तथा रहन-सहन के स्तर में सुधार आ जाता है । इन आवश्यकताओं की पूर्ति से व्यक्ति को न केवल सुख नसीब होता है, वरन् साथ ही साथ उसकी कार्यक्षमता में भी वृद्धि हो जाती है । उदाहरण के लिए, साइकिल के स्थान पर स्कूटर अथवा मोटर साइकिल का प्रयोग ।

3. **विलासिताएँ (Luxuries) :** विलासिताएँ उन आवश्यकताओं को कहते हैं जिनकी पूर्ति होने पर मनुष्य को अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति होती है, किन्तु उनकी पूर्ति के अभाव में कोई कष्ट नहीं होता है । विलासिताओं की पूर्ति से मनुष्य की कार्यकुशलता गे कोई वृद्धि नहीं होता है, बल्कि कभी-कभी कुछ कम हो सकती है । प्रो. चैपमेन ने इन्हें परिभाषित करते हु ए लिखा है कि 'विलास की वस्तुएँ वे हैं जिनका उपयोग कार्यकुशलता में महत्वपूर्ण वृद्धि नहीं करता, वरन् कभी-कभी व्यक्ति की कार्यकुशलता में कमी कर देता हैं । "प्रो. एली इन्हें 'अत्यधिक व्यक्तिगत उपभोग की आवश्यकताएँ' और प्रो. जीड 'अनावश्यक आवश्यकताएँ ' कहकर पुकारते है । विलासिताओं को निम्नलिखित दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है:

   (i) हानिरहित विलासिताएँ (Harmless Luxuries) : इनके अन्तर्गत उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है, जिनके के प्रयोग से प्रयोगकर्त्ता के स्वास्थ्य पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता । ऐसी वस्तुओं के प्रयोग से न तो कार्यकुशलता बढ़ती है और न ही घटती है । उदाहरण के लिए आलीशान बंगला, अत्यधिक महँगे आभूषण अथवा कार आदि ।

   (ii) हानिकारक विलासिताएँ (Harmful Luxuries) : इनके अन्तर्गत उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है, जिनके प्रयोग से उपभोक्ता के पर हानिकारक प्रभाव पडता है और उसकी कार्यकुशलता कम हो जाती है । नशीले पदार्थो का सेवन, जुआ खेलना, अश्लील साहित्य पढना आदि । हानिकारक विलासिताओं को 'फिजूलखर्ची की आवश्यकताएँ भी कहा जाता है । इनके समाज पर पड़ने वाले हानिकारक प्रभाव के कारण। ही इन पर नियंत्रण रखने की बात कही जाती हे ।

   कभी-कभी विलासिताओं की एक और श्रेणी 'सुरक्षात्मक विलासिताओं' (Protective Luxuries) के रूप में बतायी जाती है । इनके अन्तर्गत उन वस्तुओं को रखा जाता है, जो व्यक्ति के बुरे दिनों गे आर्थिक सुरक्षा अथवा कवच के रूप में काग आ सकें । उदाहरण के

लिए, स्वर्ण, रजत, हीरे-जवाहरात आदि । एक प्रकार से देखा जाए तो रक्षात्मक विलासिताएँ हानिरहित विलासिताओं की श्रेणी में ही आती हैं । आवश्यकताओं के वर्गीकरण को प्रभावित करने वाले तत्व

18.5 आवश्यकताओं के वर्गीकरण को प्रभावित करने वाले तत्व (Factors affecting the classification of Wants)

आवश्यकताओं के वर्गीकरण को प्रभावित करने वाले तत्वों को निम्नाकित चार्ट द्वारा समझा जा सकता है -

आवश्यकताओं के वर्गीकरण को प्रभावित करने वाले तत्त्व

व्यक्तिगत तत्व (Intra-Mural Factors)	**वस्तु से सम्बन्धित तत्व** (Extra-Mural Factors)	**वातावरण सम्बन्धी तत्व** (Environmental Factors)
1. आय	वस्तु का मूल्य	भौगोलिक दशाएँ
2. व्यवसाय	वस्तु की इकाइयाँ / मात्रा	स्थान तथा समय
3. रूचि एवं स्वभाव		आर्थिक विकास का स्तर
4. आदत		
5. रहन–सहन का स्तर		
6. विचारधारा एवं सोच		
7. सामाजिक स्तर		

18.6 आवश्यकताओं के वर्गीकरण का आधार (Basis of classification of Wants) :

हमारे मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि किसी वस्तु या सेवा की आवश्यकताओं को किरन श्रेणी अथवा वर्ग में रख जाए और उसका आधार क्या है? अथवा हम यह कैसे कहें कि किसी व्यक्ति के लिए वस्तु विशेष की आवश्यकता अनिवार्यता है, आरामदायक है, अथवा विलासिता? हमें इस प्रश्न का उत्तर आवश्यकताओं के वर्गीकरण के आधार की जानकारी करने से मिलता है । आवश्यकताओं के वर्गीकरण करने के निम्नलिखित तीन आधार हैं:

1. **कार्यक्षमता का आधार (Basis of effiency): प्रो. पी.सी. बसु तथा प्रो. जे.के. मेहता** ने कार्यक्षमता पर पड़ने वाले प्रभाव के आधार पर आवश्यकताओं का वर्गीकरण किया है । इनके मतानुसार:
   (i) यदि किसी वस्तु के उपभोग करने से व्यक्ति की कार्यकुशलता बढ जाती है और उपभोग न करने से अत्यधिक घट जाती है, तो ऐसी वस्तु अनिवार्य आवश्यकता कहलायेगी, जैसे भोजन, कपड़ा, मकान आदि ।

(ii) यदि किसी वस्तु के उपभोग करने से व्यक्ति की कार्यकुशलता थोड़ी सी बढ़ जाती है और उपभोग ने करने से थोड़ी घट जाती है, तो ऐसी वस्तु आरामदायक वस्तु कहलायेगी, जैसे साइकिल स्कूटर, पंखा, मोबाइल आदि ।

(iii) यदि किसी वस्तु के उपभोग करने अथवा न करने रमे व्यक्ति की कार्यकुशलता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, तो ऐसी वस्तु विलासिताओं की श्रेणी में रखी जाएगी । जैसे-कार, महगें आभूषण आदि ।

कार्यक्षमता का आधार - एक दृष्टि में

वस्तु का उपभोग करने पर	वस्तु का उपभोग न करने पर	आवश्यकता की श्रेणी / वर्ग / रूप
(i) कार्यक्षमता बढ़ती है	कार्यक्षमता अत्यधिक घटती है	अनिवार्य आवश्यकता
(ii) कार्यक्षमता थोड़ी बहुत बढ़ती है	कार्यक्षमता घटती है	आरामदायक आवश्यकता
(iii) कार्यक्षमता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता	कार्यक्षमता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता (हानिकारक विलासिता को छोड़कर)	विलासिताएं

2. सुख-दुःख का आधार (Basis of Pleasure & Pain) : कुछ अर्थशास्त्रियों ने वस्तु के प्रयोग से होने वाले सुख–दुःख के आधार पर आवश्यकताओं का वर्गीकरण किया है । इनके मतानुसार

(i) यदि किसी वस्तु के उपभोग करने से उपभोग को थोड़ा सा सुख प्राप्त होता है, परन्तु उपभोग न करने से अत्यधिक घोर दुःख होता है, तो ऐसी वस्तु अनिवार्य आवश्यकता की श्रेणी में रखी जाएगी, जैसे रोटी, कपड़ा, मकान आदि।

(ii) यदि किसी वस्तु के उपभोग करने से उपभोक्ता को पर्याप्त सुख मिलता है, किन्तु उपभोग न करने से थोड़ा दुःख होता है तो ऐसी वस्तु आरामदायक आवश्यकता की श्रेणी में आयेगी, जैसे पंखा, साइकिल, स्कूटर आदि ।

(iii) यदि किसी वस्तु के उपभोग करने से उपभोक्ता को अत्यधिक सुख मिलता है, किन्तु उपभोग न करने से तनिक भी दुःख नहीं होता है, तो ऐसी वस्तु विलासिता की श्रेणी में रखी जाती है, जैसे आलीशान बंगला, मँहगे हीरे-जवाहरात आदि ।

सुख-दुःख का आधार - एक दृष्टि में

वस्तु का उपभोग करने पर	**वस्तु का उपभोग न करने पर**	**आवश्यकता की श्रेणी / वर्ग / रूप**
(i) थोड़ा सुख मिलता है।	अत्यधिक दुःख होता है	अनिवार्य आवश्यकता
(ii) अधिक सुख मिलता है।	थोड़ा दुःख होता है	आरामदायक आवश्यकता
(iii) अत्यधिक सुख मिलता है।	कुछ भी दुःख नहीं होता है।	विलासिताएँ

3. कीमत और माँग का आधार (Basis of Prince and Demand) : अनेक अर्थशास्त्री कीमत में होने वाले परिवर्तनों का माँग पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके आधार पर आवश्यताओं का वर्गीकरण करते हैं । इनके मतानुसार :

(i) यदि किसी वस्तु में परिवर्तन (वृद्धि या कमी) होने पर उसकी माँग में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता है, तो ऐसी वस्तु अनिवार्य आवश्यकता मानी जायेगी, जैसे गेहूँ चीनी, चावल आदि। ऐसी वस्तु की माँग बेलोचदार (इकाई से कम) होती है।

(ii) यदि किसी वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने पर उसकी माँग में कीमत परिवर्तन के अनुपात (प्रतिशत) के बराबर परिवर्तन होता है, तो ऐसी वस्तु आरामदायक आवश्यकता की श्रेणी में रखी जाएगी, जैसे घड़ी, साइकिल, स्कूटर, आदि । ऐसी वस्तुओं की माँग की लोच सामान्य लोचदार (इकाई के बराबर) होती है ।

(iii) यदि किसी वस्तु की कीमत में हुए परिवर्तन की तुलना में उसकी माँग में अधिक परिवर्तन होता है, तो ऐसी वस्तु विलासिता की श्रेणी में आती है, जैसे रंगीन टेलीविजन, कार आदि। ऐसी वस्तुओं की माँग की लोच अत्यधिक लोचदार (इकाई से अधिक) होती है ।

कीमत और माँग का आधार - एक दृष्टि में

कीमत में वृद्धि होने पर	कीमत में कमी होने पर	आवश्यकता की श्रेणी / वर्ग / रूप
(i) माँग बहुत थोड़ी-सी कम हो जाती है (अनुपात से कम)	माँग बहुत थोड़ी-सी बढ़ जाती है (अनुपात से कम)	अनिवार्य आवश्यकता
(ii) माँग में कीमत के अनुपात में कमी (आनुपातिका के बराबर)	माँग में कीमत के अनुपात में वृद्धि (आनुपतिका के बराबर)	आरामदायक आवश्यकता
(iii) माँग अत्यधिक कम हो जाती है (अनुपात से अधिक)	माँग अत्यधिक बढ़ जाती है (अनुपात से अधिक)	विलासिताएं

18.7 उपयोगिता का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning & Definition of Utility) :

अर्थशास्त्र में उपयोगिता का अर्थ साधारण बोलचाल की भाषा गे लगाये उगने वाले अर्थ से भिन्न है । अर्थशास्त्र में किसी वस्तु की उपयोगिता का अर्थ उसकी लाभप्रदता से न लगाया जा कर उसकी मानवीय आवश्यकता को संतुष्ट करने की क्षमता से लगाया जाता है । यदि किसी वस्तु में हमारी आवश्यकता को संतुष्ट करने की शक्ति है, तो उसने हमारे लिए उपयोगिता निहित है, चाहे वह वस्तु लाभप्रद हो अथवा हानिकारक । किसी वस्तु की आवश्यकता पूरी करने की क्षमता को उपयोगिता कहते है । इस कारण ही इसे वस्तु का तुष्टिगुण कहा जाता है । प्रो. वाघ के शब्दों में, "अर्थशास्त्री के लिए उपयोगिता मानवीय आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की क्षमता है ।" प्रो. फ्रेजर के अनुसार 'व्यापक अर्थ में उपयोगिता का आशय इच्छा की तीव्रता से लिया जाता है न कि संतोषजनकता से ।" उपयोगिता की अवधारणा को अधिक ठीक ढंग से समझने के लिए इसकी विशेषताओं को जानना आवश्यक है ।

18.8 उपयोगिता की विशेषताएँ (Characteristics of Utility) :

(1) उपयोगिता का लाभदायकता तथा नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं (Utility is not concerned with useful and dmorality) : उपयोगिता का अर्थ केवल वस्तु की मानवीय आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की क्षमता से है, चाहे वह वस्तु लाभप्रद हो अथवा हानिकारक । उदाहरण के लिए, शराब तथा सिगरेट का सेवन व्यक्ति तथा समाज के लिए हानिकारक है, किन्तु इनमें भी उन व्यक्तियों के लिए उपयोगिता होती है जो इनकी चाहत रखते हैं अथवा प्रयोग करना चाहते हैं । इसी प्रकार उपयोगिता का नैतिकता से भी कोई सम्बन्ध नहीं है । उदाहरण के लिए, एक मुस्लमान तथा वैष्णवी ब्राह्मण के लिए शराब का सेवन करना अनैतिक है, किन्तु यदि वह उसका प्रयोग करता है, तो उसके लिए शराब में उपयोगिता है ।

(2) उपयोगिता वस्तुगत न होकर विषयगत होती है (Utility is not objective but subjective): उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक विचार है इसलिए यह वस्तु विशेष का आन्तरिक गुण न होकर उसके प्रति उपभोक्ता की मनोदशा का प्रतीक है । यही कारण है कि उपयोगिता व्यक्तिगत, स्थानगत और समयगत होती है अर्थात देशकाल परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है । उदाहरण के लिए एक शराबी के लिए शराब में उपयोगिता है, किन्तु अन्य व्यक्तियों के लिए नहीं । जब तक व्यक्ति शराब पीता है, तब तक शराब में उसके लिए उपयोगिता है, किन्तु यदि वह शराब पीना छोड देता है, तो शराब में उसके लिए उपयोगिता समाप्त हो जाती है । इसी प्रकार ठण्ड के दिनों में गर्म कपड़ों में उपयोगिता होती है, किन्तु गर्मियों में नहीं । ऐसे ही यदि व्यक्ति उष्ण प्रदेश से ठण्डे प्रदेश में चला जाता है, तो उस व्यक्ति के लिए गर्म कपड़ों में उपयोगिता उत्पन्न हो जाती है । अत: इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यक्ति, स्थान तथा समय बदलने से उपयोगिता भी बदल जाती है ।

(3) उपयोगिता सापेक्षिक होती है (Utility is relative) - किसी वस्तु की उपयोगिता का कम या अधिक होना तुलनात्मक है । उदाहरण के लिए, किसी वस्तु की उपयोगिता हमारे लिए अधिक है, तो इसका सीधा-सा अर्थ यह है कि वह अन्य वस्तुओं की तुलना में हमारे लिए अधिक महत्वपूर्ण है । किरजरन ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, "उपयोगिता चयन की क्रिया के रूप में तभी प्रकट होती है जब हम दो वस्तुओं की तुलना करते हैं । इस प्रकार केवल रोटी के टुकड़े की उपयोगिता पर विचार करना बेकार है । अधिक से अधिक हम इतना कह सकते हैं कि रोटी के टुकड़े की उपयोगिता एक गिलास बीयर, एक समाचार पत्र या बीस सेंट से अधिक या कम हो सकती है ।" इससे यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु की उपयोगिता का सही ज्ञान तभी होता है जब हम उसकी उपयोगिता की तुलना अन्य वस्तुओं की उपयोगिता से करते हैं।

(4) उपयोगिता आवश्यकता की तीव्रता पर निर्भर करती है (Utility depends on the intensity of Want) : जो वस्तु जितनी अधिक तीव्र आवश्यकता की संतुष्टि करती है, उसमें उतनी ही अधिक उपयोगिता होती है । इस कारण से फ्रेजर ने उपयोगिता का अर्थ 'इच्छा की तीव्रता' से लिया है । व्यक्ति की वस्तु विशेष को पाने की इच्छा (आवश्यकता की तीव्रता) जितनी अधिक तीव्र होती है, उसमें उतनी ही अधिक उपयोगिता होती है और इसके विपरीत आवश्यकता की तीव्रता जितनी

कम होती है, उतनी ही उपयोगिता कम होती है । उदाहरण के लिए, एक भूखे व्यक्ति के लिए रोटी की उपयोगिता अधिक है बजाय उस व्यक्ति के लिए जिसे भूख नहीं है ।

(5) उपयोगिता वास्तविक उपभोग पर निर्भर नहीं करती है (Utility does not depend an actual consumption) : उपयोगिता अनुमानित संतुष्टि है जिसका सम्बन्ध उपभोक्ता की वस्तु को क्रय करते समय उसके प्रति मनःस्थिति से होता है, जबकि वास्तविक सन्तुष्टि का सम्बन्ध वस्तु के वास्तविक उपभोग कर लेने के पश्चात की मनस्थिति से होता है । इस प्रकार उपयोगिता उपभोग से पूर्व वस्तु के प्रति मानसिक भाव है, जबकि वास्तविक संतुष्टि उपभोग के पश्चात वस्तु से मिलने वाले आनन्द का एहसास है । वास्तव में देखा जाये तो इन दोनों में अन्तर है । यह आवश्यक नहीं है कि वास्तविक सन्तुष्टि अनुमानित संतुष्टि के बराबर ही हो- व्यवहार में प्राय: इनमें कुछ न कुछ अन्तर अवश्य पाया जाता है । यही अन्तर उपभोक्ता की बचत कहलाता है।

(6) उपयोगिता का कोई भौतिक रूप नहीं होता है (Utility does not have any physical shape) : उपयोगिता एक अमूर्त और मनोवैज्ञानिक धारणा है जिसे केवल महसूस किया जा सकता है । इसका कोई भौतिक रूप नहीं होता है । यह तो प्रेम, करूणा तथा क्रोध की तरह एक मानसिक भाव है जिसका कोई निश्चित आकार-प्रकार नहीं होता है ।

(7) अन्य विशेषताएँ (Other Characteristics) -

(i) उपयोगिता का सम्बन्ध उपभोग वस्तुओं से होता है न कि उत्पादक वस्तुओं से ।

(ii) उपयोगिता वस्तुओं को क्रय करने के लिए प्रेरित करती है ।

(iii) प्रकृति प्रदत्त निःशुल्क वस्तुओं को छोड़कर उपयोगिता को त्याग के बिना प्राप्त करना संभव नहीं है ।

उपयोगिता की माप (Measurement of Utility)

उपयोगिता के सम्बन्ध में आज तक यह विवाद बरकरार है कि क्या उपयोगिता को मापा जा सकता हैं? कुछ अर्थशास्त्री इसे मापनीय मानते हैं, जबकि दूसरे इसे मापने तक की आवश्यकता महसूस नहीं करते हैं । उपयोगिता की माप के बारे में दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं को यही स्पष्ट किया जा रहा है:

1. गणनावाचक दृष्टिकोण (Cardinal approach) : इस दृष्टिकोण के प्रवर्तक अर्थशास्त्रियों में गणित सम्प्रदाय के जेवन्स, मेन्ग, वालरस तथा नव प्रतिष्ठित सम्प्रदाय के मार्शल, पीगू तथा केनन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । इस दृष्टिकोण के अनुसार:

(i) उपयोगिता मापनीय हैं और परस्पर तुलनीय है

(ii) उपयोगिता को मुद्रा रूपी पैमाने से मापा जा सकता है

(iii) वस्तु विशेष को प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता द्वारा किया जा सकने वाला अधिकतम मौद्रिक त्याग ही उस वस्तु से प्राप्त उपयोगिता की माप है । उदाहरण के लिए, एक विद्यार्थी एक पेन खरीदने के लिए अधिकतम 20 रू. खर्च कर सकता है, तो उसके लिए पेन की उपयोगिता 20रू के बराबर होगी । यही यह ध्यान रखने की बात है कि उपभोक्ता द्वारा वस्तु को प्राप्त करने के लिए चुकाई गयी वास्तविक कीमत वस्तु की उपयोगिता की माप नहीं है । चुकाई

गयी कीमत उपयोगिता से कम भी हो सकती है । इस उदाहरण में यदि पेन की बाजार कीमत 10 रू है, तो भी पेन की उपयोगिता 10रू न हो कर 20रू की होगी

(iv) उपयोगिता को गणनावाचक अंकों में व्यक्त किया जा सकता है, जैसे 1,2,34 ..... आदि। उपयोगिता को गणनावाचक अंकों में प्रकट किये जा सकने के कारण ही इस दृष्टिकोण के समर्थक अर्थशास्त्रियों को गणनावाचक अर्थशास्त्री कहते हैं, तथा

(v) इसे उपभोक्ता के व्यवहार के अध्ययन को 'उपयोगितावादी विश्लेषण (Utility Analysis)' कहा जाता है ।

2. क्रमवाचक दृष्टिकोण (Ordinal approach) : इस दृष्टिकोण के प्रतिपादका अर्थशास्त्रियों में पेरेटो, हिक्स तथा एलेन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । इस दृष्टिकोण के अनुसार :

(i) उपयोगिता गणनावाचक दृष्टि से मापनीय नहीं है क्योंकि :

(अ) उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक, अमूर्त एवं व्यक्तिगत अवधारणा है जिसे किसी भी वस्तुगत पैमाने से नहीं मापा जा सकता है ।

(ब) उपयोगिता विषयगत होने के कारण देश, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती रहती है । अत: ऐसे परिवर्तनशील तत्व की सही-सही माप करना कठिन है, तथा

(स) उपयोगिता की माप के लिए प्रयुक्त मुद्रा रूपी मापदण्ड भद्दा, अनिश्चित एवं अविश्वसनीय है क्योंकि उसके स्वंय के मूल्य में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है ।

(ii) एक उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओं से मिलने वाली उपयोगिता को बिना मापे ही उसकी पसन्दगी के आधार पर एक निश्चित क्रम में व्यस्थित कर सकता है अर्थात उपयोगिता को क्रमवाचक अंकों (ordinal numbers) में व्यक्त किया जा सकता है, जैसे प्रथम, द्‌वितीय, तृतीय,.... आदि ।

(iii) उपयोगिता को मापे बिना ही उपभोक्ता के व्यवहार का अध्ययन किया जा सकता है । उदासीनता वक्र विश्लेषण (Indifference curve analysis) विधि द्‌वारा उपभोक्ता के व्यवहार का अध्ययन इस बात का जीता-जागता प्रमाण है।

(iv) उपयोगिता को क्रमवाचक अंकों में प्रकट करने के कारण ही इस दृष्टिकोण के समर्थक अर्थशास्त्रियों को क्रमवाचक अर्थशास्त्री (ordinalist) कहा जाता है । जे. आर. हिक्स ने 1938 में लिखी अपनी पुस्तक मूल्य एवं पूंजी (value and Capital) में क्रमवाचक दृष्टिकोण की विवेचना की है ।

18.9 उपयोगिता के प्रकार (kinds of Utility) :

उपयोगिता निम्नलिखित तीन प्रकार की हो सकती है :

1. सीमान्त उपयोगिता (marginal Utility) : सीमान्त उपयोगिता उपभोग की सीमान्त इकाई की उपयोगिता है । इसे उपभोग की एक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त उपयोगिता भी कहते हैं । तकनीकी दृष्टि से वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से कुल उपयोगिता में जो वृद्धि होती है, उसे सीमान्त उपयोगिता कहते है । गणितीय रूप में MU = TU-TUn-1 होता है । बोल्डिंग के शब्दों में, "किसी वस्तु की किसी मात्रा की सीमान्त उपयोगिता कुल उपयोगिता में वह वृद्धि है जो उपभोग

में एक और इकाई की वृद्धि के परिणामस्वरूप होती है ।" उदाहरण के लिए, किसी समय विशेष में एक उपभोक्ता किसी वस्तु की दो इकाइयों का उपभोग करता है जिससे उसे कुल उपयोगिता 18 प्राप्त होती है । अब वह वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई (तीसरी इकाई) और काम में लेता है जिसके कारण उसकी कुल उपयोगिता बढ़ कर 24 हो जाती है, तो सीमान्त उपयोगिता 6 (जो तीसरी अतिरिक्त इकाई की उपयोगिता है) होगी । यहाँ कुल उपयोगिता 18 से बढकर 24 हुई है, जो एक अतिरिक्त इकाई के उपभोग का परिणाम है । सीमान्त उपयोगिता को ज्ञात करने के लिए निम्नांकित गणितीय सूत्र का प्रयोग किया जाता है:

$$MU_x = \frac{\Delta T_x}{\Delta Q_x}$$

यहाँ MU_x, X द्रवस्तु की सीमान्त उपयोगिता है, ΔTU_x, X वस्तु की कुल उपयोगिता में परिवर्तन है, तथा ΔQ_x, X वस्तु की कुल मात्रा में परिवर्तन को दर्शाता है । उपर्युक्त उदाहरण के आधार पर सूत्र द्वारा सीमान्त उपयोगिता निम्न प्रकार ज्ञात की जा सकती है:

$$MU_x = \frac{24-18}{3-2} = \frac{6}{1} = 6$$

सीमान्त उपयोगिता के बारे में मुख्य बातें :

(i) यह उपभोग की सीमान्त या अन्तिम इकाई की उपयोगिता है । इसे उपभोग की अतिरिक्त इकाई से प्राप्त उपयोगिता भी कहा जा सकता है

(ii) सीमान्त उपयोगिता कुल उपयोगिता में होने वाले परिवर्तन की दर को प्रकट करती है

(iii) सीमान्त उपयोगिता वस्तु की दो क्रमिक इकाइयों से प्राप्त कुल उपयोगिता के अन्तर को प्रकट करती है

(iv) सीमान्त उपयोगिता प्राय: गिरती हुई होती है

(v) सीमान्त उपयोगिता का सम्बन्ध सदैव उपभोग की एक इकाई से होता है

(vi) सीमान्त उपयोगिता का कोई स्थिर बिन्दु नहीं होता है क्योंकि यह उपभोग में परिवर्तन के साथ परिवर्तित होती रहती है, तथा

(vii) सीमान्त उपयोगिता धनात्मक, शून्य अथवा ऋणात्मक हो सकती है ।

नीचे दी गई तालिका से उक्त सभी बातों को आसानी से समझा जा सकता है:

तालिका संख्या - 1

1 **रोटी की इकाईया**	**2** **प्राप्त उपयोगिता (U)**	**3** **कुल उपयोगिता**	**4** **सीमांत उपयोगिता (MU) एवं इसके रूप**	**5** **विवरण**
1	6	6	6 4 2	कुल उपयोगिता घटती हुई दर से बढ़ती हुई है ।
2	4	6+4=10		
3	2	6+4+2=12		

4	0	6+4+2+0=12	0	कुल उपयोगिता अधिकतम इसे अधिकतम कहा जाता है।
5	-1	6+4+2+0+(-1) =11	-1	कुल उपयोगिता गिरती हुई है।

2. कुल उपयोगिता (Total Utility) : किसी समय विशेष में वस्तु की उपभोग की गई समस्त इकाइयों से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता का जोड़ ही कुल उपयोगिता कहलाती हैं । तालिका संख्या - 1 में रोटी की 5 इकाइयों की कुल उपयोगिता 11 है जो सभी पाँचों रोटियों से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता का जोड़ है । मेयर्स के अनुसार "कुल उपयोगिता संतुष्टि की वह मात्रा है जो किसी वस्तु की निश्चित मात्र के उपभोग से या उसके स्वामित्व से प्राप्त होती है ।" उन्होनें आगे इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "किसी वस्तु की उत्तरोत्तर इकाइयों के उपभोग के परिणामस्वरूप प्राप्त सीमान्त उपयोगिताओं का योग कुल उपयोगिता है । " तालिका संख्या - 1 में कुल उपयोगिता को कॉलम संख्या 3 में दिखाया गया है जो वस्तु की सीमान्त उपयोगिताओं को जोड़कर प्राप्त की जाती है ।

कुल उपयोगिता के बारे में मुख्य बातें :

(i) कुल उपयोगिता वस्तु के उपभोग की समस्त इकाइयों से प्राप्त उपयोगिताओं का जोड़ है:

(ii) चूँकि कुल उपयोगिता सीमान्त उपयोगिताओं का जोड़ है इसलिए कुल उपयोगिता में परिवर्तन सीमान्त उपयोगिता की प्रकृति और परिवर्तन की दर पर निर्भर करता है,

(iii) कुल उपयोगिता सदैव धनात्मक होती है । यह कभी भी शून्य अथवा ऋणात्मक नहीं होती है, तथा

(iv) उपभोग के प्रारम्भ में कुल उपयोगिता एक सीमा तक घटती हुई दर से बढ़ती है, एक निश्चित बिन्दु पर जाकर अधिकतम हो जाती है तथा उसके पश्चात गिरती हुई होती है।

18.10 सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता के बीच सम्बन्ध (Relation between MU & TU):

सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता एक दूसरे के घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती हैं । इन दोनों के बीच निम्नलिखित सम्बन्ध पाया जाता है जिसे तालिका संख्या - 1 तथा उस पर आधारित रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है:

1. जब तक सीमान्त उपयोगिता धनात्मक होती है, कुल उपयोगिता बढ़ती हुई होती है, किन्तु घटती दर से ।
2. जब सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है, तो कुल उपयोगिता अधिकतम होती है । यह उपभोक्ता का पूर्ण तृप्ति बिन्दु होता है ।
3. जब सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक होती है, तो कुल उपयोगिता घटती हुई होती है ।

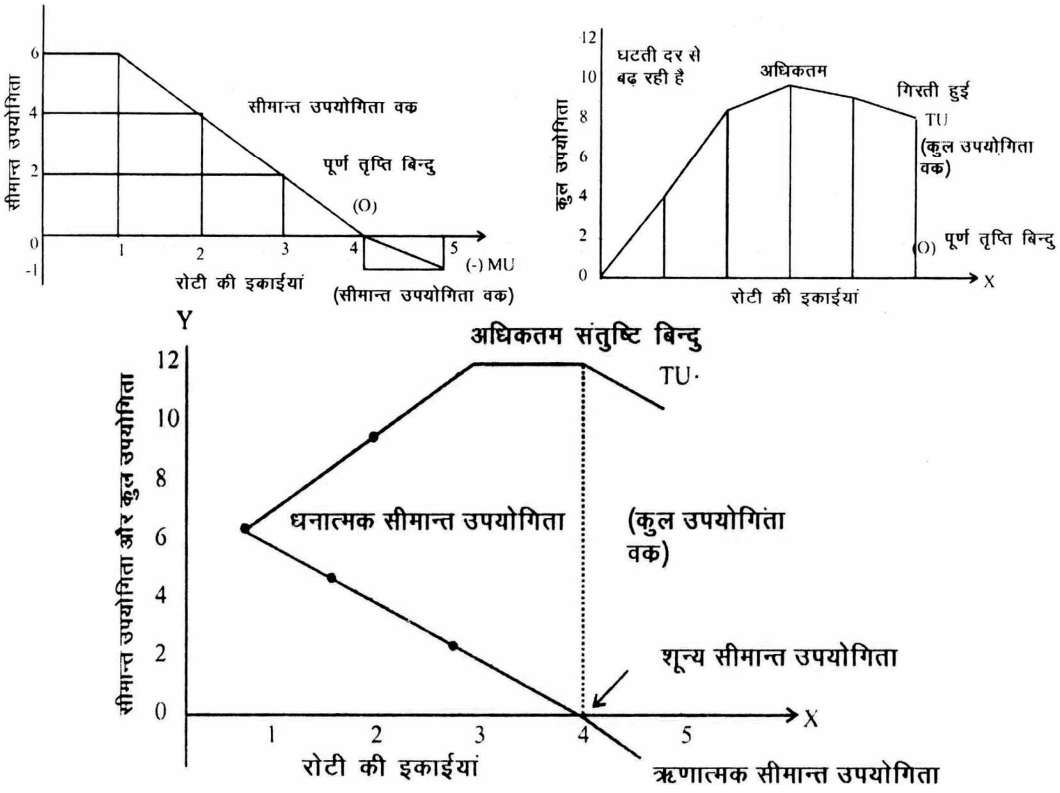

3. औसत उपयोगिता (Average Utility) : किसी वस्तु की कुल उपयोगिता में उसकी उपभोग की गयी समस्त इकाइयों की संख्या का भाग देने से जो भागफल प्राप्त होता है, उसे औसत उपयोगिता कहते हैं । इसे निम्नलिखित सूत्र द्वारा आसानी से ज्ञात किया जा सकता है:

$$AU_x = \frac{TU_x}{Q_x}$$

यहाँ, AU_x,X वस्तु की औसत उपयोगिता है, TU_x,X वस्तु की कुल उपयोगिता, तथा Q_x,X वस्तु की कुल इकाइयों की संख्या को दर्शाता है । अर्थशास्त्र में औसत उपयोगिता का प्रयोग प्रायः नहीं किया जाता है ।

18.11 सारांश (Summary)

आवश्यकता का अर्थ है किसी वस्तु की प्रभावपूर्ण इच्छा होना । प्रभावपूर्ण इच्छा होने के लिए वस्तु को क्रय करने के लिए साधनों की पर्याप्तता तथा उनको उस वस्तु पर व्यय करने की इच्छा का होना आवश्यक है । आवश्यकताओं की अनेक विशेषताएँ होती हैं, जिनमें निम्नलिखित विशेषताएँ प्रमुख हैं: (1) आवश्यकताएँ असीमित होती हैं, (2) आवश्यकता विशेष की पूर्णतया संतुष्टि की जा सकती है, (3) आवश्यकताएँ परस्पर प्रतिस्पर्धी होती हैं, (4) आवश्यकताएँ पूरक होती हैं, (5) आवश्यकताओं की तीव्रता में अन्तर होता हैं, (6) वर्तमान आवश्यकताएँ भविष्य की आवश्यकताओं से अधिक महत्वपूर्ण होती हैं, (7) आवश्यकताएँ बार-बार उत्पन्न होती है, तथा (8) आवश्यकताएँ वैकल्पिक होती है ।

आवश्यकताओं को तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है- अनिवार्य, आरामदायक एवं विलासिता । अनिवार्य आवश्यकताओं को जीवन रक्षक, कार्यकुशलता रक्षक तथा प्रतिष्ठा रक्षक श्रेणी

में वर्गीकृत किया जाता है । विलासिताएँ हानिरहित और हानिकारण श्रेणी की होती है । आवश्यकताओं के वर्गीकरण को व्यक्तिगत तत्व, वस्तु से सम्बन्धित तत्व तथा वातावरण सम्बन्धी तत्व प्रभावित करते हैं । आवश्यकताओं का वर्गीकरण कार्यक्षमता के आधार पर सुख-दुःख के आधार पर तथा कीमत और माँग के आधार पर किया जाता है ।

किसी वस्तु की उपयोगिता उसकी मानवीय आवश्यकता को संतुष्ट करने की क्षमता होती है चाहे वह वस्तु लाभप्रद हो अथवा हानिप्रद । उपयोगिता की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं: (1) उपयोगिता का लाभप्रदता से कोई सम्बन्ध नहीं हैं, (2) उपयोगिता विषय होती हैं, (3) उपयोगिता तुलनात्मक होती है, (4) उपयोगिता आवश्यकता की तीव्रता पर निर्भर करती है, तथा (5) उपयोगिता का कोई भौतिक रूप नहीं होता है ।

उपयोगिता की माप के बारे में दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं । प्रथम दृष्टिकोण गणनावाचक है जो उपयोगिता को मुद्रा रूपी पैमाने द्वारा मापनीय मानता है तथा इसके अनुसार उपयोगिता को गणनावाचक अंकों में प्रकट किया जा सकता है । द्वितीय दृष्टिकोण क्रमवाचक है जो उपयोगिता को मापनीय नहीं मानता है । हॉ, इसके अनुसार उपयोगिता को वस्तुओं की पसन्दगी वरीयता के आधार पर क्रमवाचक अधिमानों में प्रकट किया जा सकता है ।

उपयोगिता तीन प्रकार की होती है- सीमान्त उपयोगिता, कुल उपयोगिता तथा औसत उपयोगिता ।

18.12 शब्दावली (Key Words)

1. **इच्छा (Desire) :** किसी वस्तु की इच्छा का अर्थ है उसे प्राप्त करने की आकांक्षा ललक अथवा चाहत का होना ।
2. **आवश्यकता (Wants) :** आवश्यकता तभी कहलायेगी जब उसमें निम्नलिखित तीन तत्व एक साथ विद्यमान हों : (1) वस्तु की इच्छा का होना, (2) इच्छा पूर्ति के पर्याप्त साधन होना तथा (3) साधनों को वस्तु पर व्यय करने की तत्परता होना ।
3. **माँग (Demand) :** किसी वस्तु की माँग उसकी वह मात्रा होती है जो एक उपभोक्ता एक निश्चित कीमत पर किसी समय विशेष में क्रय करने को तत्पर है । माँग सदैव निश्चित कीमत और निश्चित समयावधि से सम्बन्धित होती हैं । इसे प्रभावपूर्ण आवश्यकता भी कहा जाता है ।
4. **अनिवार्य आवश्यकताएँ (Necessaries) :** ये वे आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी हर हालत मे संतुष्टि करना अनिवार्य है । इन्हें प्राथमिक अथवा आधारभूत आवश्यकताओं के नाम से भी जाना जाता है । इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने से कोई विशेष सुख नहीं मिलता, किन्तु इनकी पूर्ति न होने पर घोर कष्ट होता है । अनिवार्यताओं को जीवनरक्षक, कार्यकुशलता रक्षक तथा प्रतिष्ठारक्षक श्रेणी में विभाजित किया जाता है ।
5. **आरामदायक आवश्यकताएँ (Comforts) :** ये वे आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी संतुष्टि से व्यक्ति को न केवल सुख प्राप्त होता है, वरन् उसकी कार्यकुशलता भी बढ़ जाती है ।
6. **विलासिताएँ (Luxuries) :** ये वे आवश्यकताएँ होती है जिनकी पूर्ति से व्यक्ति को अत्यधिक सुख प्राप्त होता है, किन्तु इनकी पूर्ति के अभाव में कोई कष्ट नहीं होता है । विलासिताएँ हानिरहित अथवा हानिकारक हो सकती हैं ।

7. **उपयोगिता (Utility) :** वस्तु की मानवीय आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की क्षमता को उपयोगिता कहते हैं । इसे वस्तु का तुष्टिगुण भी कहते हैं । इसका वस्तु की लाभदायकता से कोई संबंध नहीं है ।
8. **गणनावाचक अंक (Cardinal Numbers) :** गिनती के अंकों को गणनावाचक अंक कहते हैं, जैसे 0 से लेकर 9 तक के अंक । इनका एक निश्चित मूल्य होता है और ये परस्पर तुलनीय होते हैं ।
9. **क्रमवाचक अंक (Ordinal Numbers) :** एक निश्चित क्रम अथवा वरीयता को बताने वाले अंकों को क्रमवाचक अंक कहते हैं, जैसे प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, ... । ये किसी निश्चित मूल्य के प्रतीक नहीं होते, वरन् एक निश्चित क्रम को प्रकट करते हैं ।
10. **सीमान्त उपयोगित (Marginal Utility) :** यह किसी वस्तु के उपभोग की एक अतिरिक्त इकाई की उपयोगिता होती है । इसे एक अतिरिक्त इकाई के उपभोग में परिवर्तन के कारण वस्तु की कुल उपयोगिता में हुए परिवर्तन की दर के रूप में व्यक्त किया जाता है । यह धनात्मक, शून्य अथवा ऋणात्मक हो सकती है ।
11. **कुल उपयोगिता (Total Utility) :** यह किसी वस्तु की उपभोग की गयी समस्त इकाइयों से प्राप्त सीमान्त उपयोगिताओं का जोड़ है । इसे सीमान्त उपयोगिता के योग के रूप में भी परिभाषित किया जाता है ।

18.13 स्वपरख प्रश्न (Self Examined Questions)

1. आवश्यकता की परिभाषा दीजिए और बताइये कि यह किस प्रकार माँग से भिन्न है?
2. आवश्यकता किसे कहते हैं? आवश्यकताओं की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।
3. आवश्यकताओं का वर्गीकरण कीजिए ।
4. आवश्यकताओं को प्रभावित करने वाले तत्वों को स्पष्ट कीजिए ।
5. आवश्यकताओं के वर्गीकरण के आधार पर विवेचन कीजिए ।
6. उपयोगिता से आप क्या समझते हैं? उपयोगिता की विशेषताएँ बतलाइए ।
7. सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता में अन्तर कीजिए और इनके बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध को तालिका व रेखाचित्र द्वारा समझाइए ।
8. उपयोगिता के गणनावाचक तथा क्रमवाचक दृष्टिकोण में अन्तर बताइये ।

18.14 उपयोगी पुस्तकें :

1. व्यष्टि अर्थशास्त्र : एन. डी. माथुर व ओ.पी गुप्ता (शिवम बुक हाउस), जयपुर
2. व्यावसायिक अर्थशास्त्र : अग्रवाल, अग्रवाल व गुप्ता (रमेश बुक डिपो), जयपुर

इकाई 19 माँग और पूर्ति : एक सामान्य अध्ययन (Demand and Supply : A General Introduction)

19.1 उद्देश्य
19.2 प्रस्तावना
19.3 माँग का अर्थ एवं विशेषताएँ
19.4 माँग को प्रभावित करने वाले तत्त्व
19.5 माँग के प्रकार
19.6 माँग के नियम
19.7 माँग-मात्रा में परिवर्तन-माँग का विस्तार एवं संकुचन
19.8 माँग में परिवर्तन- माँग में वृद्धि एवं कमी
19.9 पूर्ति का अर्थ एवं विशेषताएँ
19.10 पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्त्व
19.11 पूर्ति का नियम
19.12 पूर्ति-मात्रा मे परिवर्तन-पूर्ति का विस्तार एवं संकुचन
19.13 पूर्ति में परिवर्तन-पूर्ति में वृद्धि एवं कमी
19.14 सारांश
19.15 शब्दावली
19.16 स्वपरख प्रश्न
19.17 उपयोगी पुस्तकें

19.1 उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- वस्तु की माँग और पूर्ति के बारे में बता सकें ।
- वस्तु की माँग और इसकी पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्त्वों के बारे में बता सकें ।
- माँग के नियम तथा पूर्ति के नियम के बारे में बता सके ।
- माँग के प्रमुख प्रकारों के बारे में बता सके ।
- माँग-मात्रा में परिवर्तन तथा माँग में परिवर्तन के अन्तर के बारे में बता सकें
- पूर्ति-मात्रा में परिवर्तन तथा पूर्ति में परिवर्तन के अन्तर के बारे में बता सकें ।

19.2 प्रस्तावना (Introduction)

व्यवहार में यह कहावत प्रचलित है कि यदि किसी तोते को माँग और पूर्ति नामक दो शब्द रटा दिये 238 जाये, तो वह अर्थशास्त्री बना जाता है । यह कहावत अर्थशास्त्र के अध्ययन में माँग और पूर्ति के महत्व को प्रकट करती है । वास्तव में देखा जाये तो माँग और पूर्ति के ज्ञान के बिना अर्थशास्त्र तथा आर्थिक जीवन का सही ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है । इस इकाई गे आप माँग और पूर्ति के बारे में एक सामान्य अध्ययन करेंगे ।

19.3 माँग का अर्थ एवं विशेषताएँ (Meaning of Characteristics of Demand)

किसी वस्तु की माँग उसकी वह मात्रा होती है जो उसकी एक निश्चित कीमत पर किसी समय विशेष मे क्रय की जायेगी । **बेन्हम** ने माँग की इस प्रकार की परिभाषा दी है । उनके अनुसार "किसी दिए हुए मूल्य पर किसी वस्तु की माँग उसकी वह मात्रा है जो उसमूल्य पर किसी समय विशेष में क्रय की जायेगी । इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु की माँग सदैव एक निश्चित कीमत तथा निश्चित समय से संबंधित है । इसलिए माँग सदैव कीमत, समय तथा मात्रा के सन्दर्भ में ही व्यक्त की जाती है । माँग का संबंध कीमत, समय तथा मात्रा से होता है । माँग का अर्थ अधिक स्पष्ट रूप से इसकी विशेषताओं के आधार पर आसानी से समझा जा सकता है । किसी वस्तु की माँग की निम्नलिखित विशेषताएँ होती है :

1. **प्रभावी इच्छा का होना** (Effective Desire) : किसी वस्तु की माँग के लिए उसकी प्रभावी इच्छा(आवश्यकता)होना पहली और अनिवार्य शर्त है । किसी वस्तु की आवश्यकता होने के लिए उसमें तीन तत्त्व सम्मिलित होने चाहिए. (i) वस्तु की इच्छा को होना, (ii) वस्तु को क्रय करने के लिए पर्याप्त साधन का होना तथा (iii) साधनों को वस्तु पर खर्च करने की तत्परता होना ।
2. **माँग का सम्बन्ध निश्चित कीमत से होना** (Certain Price) : व्यवहार में हम देखते है कि किसी वस्तु की माँग पर उसकी कीमत का बहुत अधिक प्रभाव पडता है और उपभोक्ता वस्तु की कीमत के आधार पर ही उसके खरीदने अथवा न खरीदने का निर्णय करता है । इसलिए किसी वस्तु की माँग सदैव उसकी एक दी हुई (निश्चित) कीमत के सन्दर्भ में ही व्यक्त की जाती है ।
3. **माँग का संबंध निश्चित समयावधि से होना** (Certain Time) : किसी वस्तु की गले का संबंध उसकी कीमत के अलावा एक निश्चित समयावधि (प्रतिदिन, प्रति सप्ताह, प्रतिमाह, प्रतिवर्ष आदि) से भी होता है । समय का भी वस्तु की माँग पर प्रभाव पडता है इसलिए समयावधि बदल जाने से वस्तु की माँग में परिवर्तन हो जाता है । संक्षेप में कहें तो किसी वस्तु की माँग उसकी वह मात्रा है जो एक निश्चित कीमत पर एक निश्चित समयावधि में उपभोक्ता क्रय करने को तत्पर होंगे।

19.4 माँग को प्रभावित करने वाले तत्त्व (factors Affecting Demand)

किसी वस्तु की माँग को अनेक तत्व प्रभावित करते है जिन्हें एक समीकरण / सूत्र के रूप में निम्नलिखित प्रकार से लिखा जाता है, जिस अर्थशास्त्र में माँग फलन कहा जाता है :

$$Dx = f(Px, Y, T, PR,, W, P, G, A, Ep, ...n)$$

यहाँ Dx,x वस्तु की माँग, Px,x वस्तु की कीमत, Y उपभोक्ता की आय, T उपभोक्ता की रूचि एवं पसन्द, PR संबंधित वस्तुओं की कीमते,W मौसम, P जनसंख्या, G सरकारी नीतियाँ, A विज्ञापन, Ep कीमतो की भावी प्रत्याशा तथा n माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों का प्रतीक है ।

इस समीकरण से यह पता चलता है कि x वस्तु की माँग उसको प्रभावित करने वाले तत्वों (जिन्हे ब्रेकिट में दिखाया गया है) का प्रतिफल है अर्थात उन पर निर्भर करती हैं । किसी वस्तु की माँग को प्रथम चार तत्वों सबसे अधिक प्रभावित करते हैं ।

19.5 माँग के प्रकार (Kinds of Demand)

माँग निम्नलिखित प्रकार की हो सकती है :

1. कीमत माँग (Price Demand) : किसी वस्तु की मूल्य माँग, अन्य बातों के समान रहने पर, उसकी उन विभिन्न मात्राओं को कहते है जो निश्चित समयावधि में उसके विभिन्न मूल्यों पर उपभोक्ता क्रय करने को तैयार होंगे । मूल्य माँग की यह धारणा इस मान्यता पर टिकी है कि OPराधीन वस्तु की कीमत को छोडकर उसकी माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्व स्थिर रहते है । कीमत माँग वस्तु के स्वयं की कीमत में होने वाले परिवर्तनों का उसकी माँगी जाने वाली मात्रा पर पडने वाले प्रभाव को बताती है, जिसे **'कीमत प्रभाव'** कहते है । इसे सूत्र में इस प्रकार लिखा जाता है : Dx = f(Px)
कीमत माँग. को तालिका तथा रेखाचित्र संख्या 1 से समझा जा सकता है ।

तालिका संख्या- 1

X वस्तु की कीमत (Px)	x वस्तु की माँग (Dx)	विवरण
रु. 2	100 इकाईयां	वस्तु की कीमत और मांग-मात्रा के बीच विपरीत संबंध है जिसके कारण कीमत बढ़ने पर मांग घाट रही है I अत : $Dx=f(D_x)<0$
रु. 3	80 इकाइयां	
र. 4	40 इकाइयां	

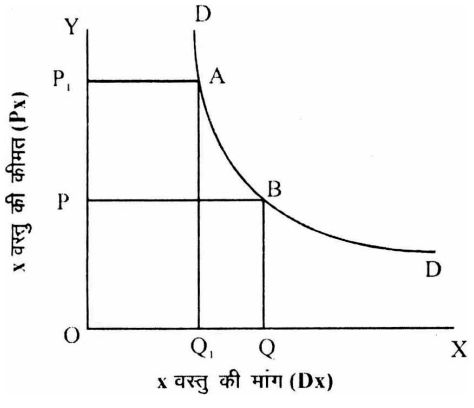

रेखाचित्र संख्या 1 मे DD उपभोक्ता का कीमत माँग वक्र है । यहाँ वस्तु की कीमत और उसकी माँग मात्रा के बीच पाये जाने वाला संबंध विपरीत(ऋणात्मक) होने के कारण माँग वक्र ऋणात्मक रूप से ढ़ालू है अर्थात बाये से दायें नीचे की तरफ झुकता हुआ है । चित्रानुसार जब कीमत OP से बढ़कर OP1 हो जाती है तो माँग मात्रा घटकर OQ से OQ1 हो जाती है । वस्तु की कीमत और माँग में ऋणात्मक संबंध होने के कारण Dx = f (Px)<0 है।

2. आय माँग (Income Demand) : उपभोक्ता की आय में होने वाले परिवर्तनों तथा वस्तु विशेष की मांग के बीच पाये जाने वाले संबंध को बताने वाली माँग को आय माँग कहते है । तकनीकी दृष्टि से किसी वस्तु की आय माँग, अन्य बातों के समान रहने पर, उसकी उन विभिन्न मात्राओं को बताती है जो एक निश्चित समयावधि में एक उपभोक्ता विभिन्न आय स्तरों पर क्रय करने को तैयार होगा । आय माँग का विश्लेषण करते समय उपभोक्ता की आय को छोडकर वस्तु की माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों को स्थिर मान लिया जाता हैं वास्तव में आय माँग उपभोक्ता की आय में होने वाले परिवर्तनों का वस्तु विशेष की माँग पर पडने वाले प्रभाव बताती है, जिसे **'आय प्रभाव'** कहा जाता

है । उपभोक्ता की आय और वस्तु विशेष की माँग के बीच पाये जाने वाले कार्यात्मक संबंध को समीकरण के रूप में इस प्रकार लिखा जाता है :

$$Dx = f(Y)$$

यहाँ Dx,x वस्तु की माँग, f फलन तथा Y उपभोक्ता की आय है । इस समीकरण का अर्थ है कि अन्य बातों के समान रहने पर वस्तु की माँग उपभोक्ता की आय पर निर्भर करती है । विभिन्न वस्तुओं की आय माँग उनकी प्रकृति में भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न होती हैं । हम आय माँग की दृष्टि से वस्तुओं को दो भागों में बॉट कर अध्ययन करते है:

(i) श्रेष्ठ वस्तुएँ (Superior Goods) : ये वे वस्तुएँ होती है जिनकी माँग उपभोक्ता की आय बढने पर बढ़ती है और आय घटने पर घटती है । उदाहरण के लिए बढिया सूती वस्त्र की माँग अथवा बढिया किस्म की आइसक्रीम की माँग । ऐसी वस्तुओं के बारे में **आय प्रत्यक्ष धनात्मक** होता है जिसके कारण उपभोक्ता की आय और वस्तु की माँग के बीच प्रत्यक्ष (धनात्मक) संबंध पाया जाता है ।

श्रेष्ठ वस्तुओं की आय माँग को तालिका तथा रेखाचित्र संख्या 2 द्वारा स्पष्ट किया गया है।

तालिका संख्या-2

उपभोक्ता की आय (Y)	x वस्तु की मांग (Dx)	विवरण
रु. 4000	10 इकाइयां	उपभोक्ता की आय और वस्तु की मांग के बीच धनात्मक संबंध है जिसके कारण आय बढ़ने पर मांग बढ़ रही है। अत: Dx = f(Y)<0
रु. 6000	16 इकाइयां	
रु. 8000	20 इकाइयां	

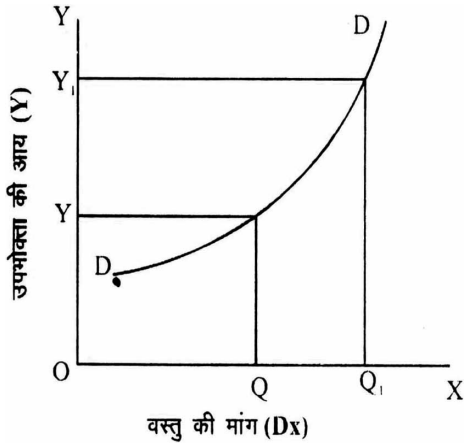

रेखाचित्र संख्या 2 में DD उपभोक्ता का आय माँग वक्र है जिसका ढाल धनात्मक है अर्थात बाये से-दाये ऊपर कोई तरफ उठता हुआ है । जब उपभोक्ता की आय OY से बढ़कर OY1 हो जाती है, तो वस्तु की माँग OQ से बढ़कर OQ1 हो जाती है । वस्तु की माँग तथा उपभोक्ता की आय में सीधा संबंध होने के कारण Dx=F(Y)>0 है ।

(ii) निकृष्ट वस्तुएँ (Inferior Goods) : इन्हे हीन अथवा घटिया वस्तुएँ भी कहा जाता हैं । ये वे वस्तुएँ होती है जिनकी माँग उपभोक्ता की आय बढ़ने पर कम हो जाती है और आय घटन पर बढ़ जाती है । उदाहरण के लिए मोटे अनाज और मोटे कपड़े की माँग । निकृष्ट वस्तुओं के संबंध में उपभोक्ता की आय और माँग के बीच ऋणात्मक (विपरीत) संबंध पाये जाने के कारण **आय प्रभाव ऋणात्मक** होता है । आय बढ़ने पर उपभोक्ता इन वस्तुओं के स्थान पर श्रेष्ठ वस्तुओं पर अधिक व्यय करने लगता है जिससे इन वस्तुओं' की मांग घट

जाती है । **रोबर्ट गिफिन** ने सर्वप्रथम निकृष्ट वस्तुओं के बारे में हमें बताया इसलिए इन्हे **गिफिन वस्तुएँ** भी कहा जाता है ।

निकृष्ट वस्तुओं की आय माँग को तालिका तथा रेखाचित्र संख्या 3 द्वारा समझाया गया है।

तालिका संख्या- 3

उपभोक्ता की आय (Y)	x वस्तु की मांग (Dx)	विवरण
रु. 1000	10 इकाईयां	उपभोक्ता की आय और वस्तु की मांग के बीच ऋणात्मक सम्बन्ध है जिसके कारण आय बढ़ने पर मांग घाट जाती है I अत:Dx = f(Y)<0
रु. 2000	6 इकाईया	
रु. 3000	2 इकाइयाँ	

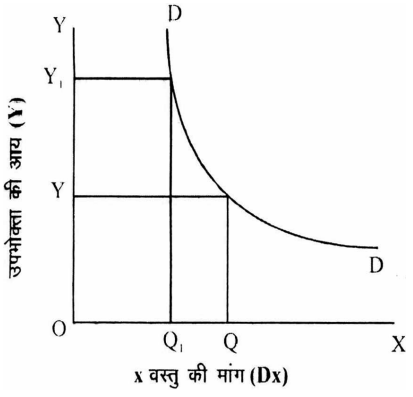

रेखाचित्र संख्या 3 में DD आय माँग वक्र है । जिसका ढाल ऋणात्मक है अर्थात बाये से दाये नीचे की तरफ झुकता हुआ है । इसके अनुसार यदि उपभोक्ता की आय OY से बढकर OY1 हो जाती है, तो वस्तु की माँग भी OQ से घटकर OQ1 हो जाती है । घटिया वस्तुओं में उपभोक्ता की आय बढने पर की माँग घटने की प्रवृति पायी जाती है अत: Dx = F (Y)<0 है I

3. तिरछी या आडी माँग (Cross Demand) : व्यवहार में हम देखते है कि किसी वस्तु की माँग उसकी संबंधित वस्तुओं (स्थानापन्न एवं पूरक) की कीमतों से भी प्रभावित होती है । इसलिए तिरछी माँग के अन्तर्गत हम इस बात का अध्ययन करते है कि किसी वस्तु विशेष की माँग (Dx) पर उसकी संबंधित वस्तुओं की कीमतों (PR) का क्या प्रभाव पडता है? किसी वस्तु की तिरछी माँग, अन्य बातों के समान रहने पर उसकी उन विभिन्न मात्राओं को बताती है जो एक उपभोक्ता एक निश्चित समयावधि में उससे संबंधित वस्तुओं की विभिन्न कीमतों पर क्रय करने को तैयार होगा । तिरछी माँग ज्ञात करते समय वस्तु की संबंधित वस्तुओं की कीमतों को छोडकर उसकी माँग को प्रभावित करने वाले तत्वों को स्थिर मान लिया जाता है । तिरछी माँग को समीकरण के रूप मे इस प्रकार लिखा जाता है : Dx = f(PR) अथवा Dx = (PY,PZ) । यहाँ, Dx, x वस्तु की माँग, f फलन, PR संबंधित वस्तुओं की कीमतें, PY स्थानापन्न वस्तु Y की कीमत तथा PZ पूरक वस्तु Z की कीमत है । इस समीकरण का अर्थ है कि x वस्तु की माँग, अन्य बातों के समान रहने पर, उसकी संबंधित वस्तुओं की कीमतों का फलन है अर्थात उन पर निर्भर करती है । किसी वस्तु की तिरछी माँग उसकी संबंधित वस्तुओं की प्रकृति पर निर्भर करती है । इस दृष्टि से यह दो प्रकार की होती है :

(i) स्थानापन्न वस्तुओ की तिरछी माँग (Cross Demand for Subvstitute Godds) : एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए जिन वस्तुओं को एक दूसरे के स्थान

पर काम में लिया जाता है, उन्हे स्थानापन्न वस्तुएँ कहते है, जैसे चाय व कॉफी, पेप्सी और कोला । स्थानापन्न वस्तु (Py) की 'कीमत परिवर्तन का उसकी मूल वस्तु (Dx) पर जो प्रभाव पडता है, उसे **स्थानापन्न प्रभाव** कहते है और वह सदैव **धनात्मक** होता है ।

इस बात को तालिका व रेखाचित्र संख्या 4 द्वारा समझाया गया है ।

तालिका संख्या-4

काफी की कीमत (Py)	चाय की कीमत (Dx)	विवरण
रु. 4	3 प्याले	कॉफी की कीमत और चाय की मांग के बीच धनात्मक संबंध है इसलिए काफी की कीमत बढने पर चाय की मांग बढ़ रही है। अत: Dx = f(Py)>0
रु. 5	4 प्याले	
रु. 6	5 प्याले	

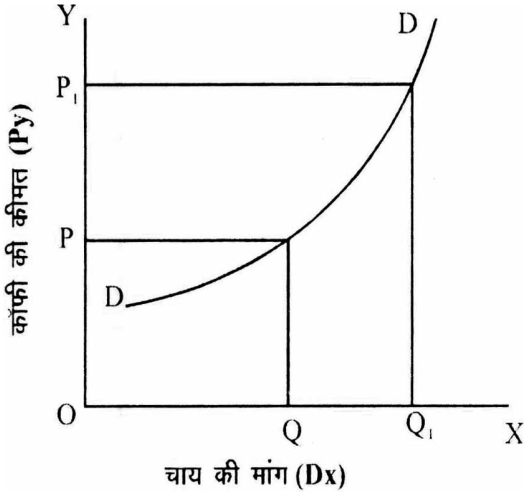

रेखाचित्र संख्या 4 में DD माँग वक्र बाये से दाये ऊपर की तरफ चढता हुआ है । अर्थात् इसका ढाल धनात्मक हैं कॉफी की OP कीमत पर चाय की माँग OQ है और जब कॉफी की कीमत बढ़कर OP1 हो जाती है तो चाय की माँग बढकर OQ1 हो जाती है । कॉफी की कीमत बढने पर चाय की माँग बढ़ने के कारण Dx = F(Py)>0 है ।

(ii) पूरक वस्तुओं की तिरछी माँग (Cross Demand for Complementary Goods) : एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए जब एक साथ दो या अधिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है तो उन्हे पूरक वस्तुएँ कहा जाता है जैसे पेन और स्याही, चाय, चीनी और दूध । पूरक वस्तुओं की कीमत तथा मुख्य वस्तु की माँग के बीच विपरीत संबंध पाया जाता है । उदाहरण के लिए चीनी अथवा दूध की कीमत बढ़ने पर चाय की माँग घट जायेगी । यही चाय मुख्य वस्तु और चीनी अथवा दूध इसकी पूरक वस्तुएँ है । पूरक वस्तुओं की कीमत में परिवर्तन का मुख्य वस्तु की माँग पर पड़ने वाले प्रभाव को 'पूरक प्रभाव' कहते है और सदैव ऋणात्मक होता है । पूरक वस्तुओं की तिरछी माँग को समीकरण के रूप गे इस प्रकार लिखा जाता है : Dx = f(PZ) । इस समीकरण का अर्थ यह है कि अन्य बातो के समान रहने पर x वस्तु की माँग z वस्तु की कीमत पर निर्भर करती है ।

तालिका और रेखाचित्र संख्या 5 के विश्लेषण से इसे आसानी से समझा जा सकता है:

तालिका संख्या-5

चीनी की कीमत (Pz)	चाय की माँग(Dx)	विवरण
रू. 14	1 किलोग्राम	चीनी की कीमत और चाय की मांग के बीच ऋणात्मक सम्बन्ध है इसलिए चीनी की कीमत बढ़ने पर चाय की मांग घट रही है । अत: Dx = f(Py)<0
रू. 16	0.8 किलोग्राम	
रू. 20	0.5 किलोग्राम	

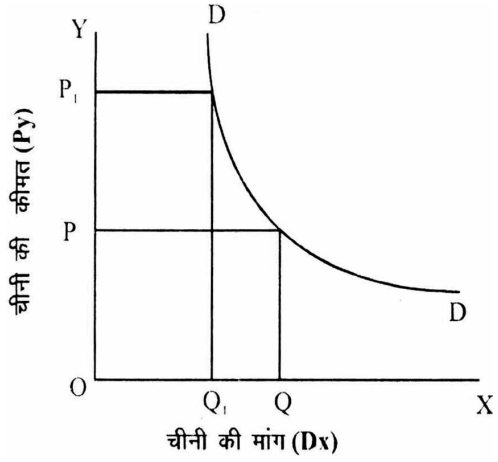

रेखाचित्र संख्या 5 में DD माँग वक्र बाये से दाये नीचे की तरफ गिरता हुआ (ऋणात्मक रूप से ढालू है जो चीनी की कीमत और चाय की माँग के बीच ऋणात्मक संबंध का प्रतीक है । चित्रानुसार जब चीनी की कीमत OP है, तो चाय की माँग OQ है किन्तु चीनी की कीमत बढ़कर OP1 हो जाती है तो चाय की माँग घटकर OP1 रह जाती है । चीनी की कीमत और चाय की माँग में ऋणात्मक संबंध होने के कारण Dx = F (Py) <0 है।

4. **व्युत्पन्न माँग** (Drived Memand) : जब किसी वस्तु की माँग स्वयं के प्रत्यक्ष उपभोग के लिए नहीं की जाकर किसी अन्य वस्तु / वस्तुओं के उत्पादन लिए की जाती है, तो ऐसी माँग को व्युत्पन्न अथवा अप्रत्यक्ष माँग कहते है । उदाहरण के लिए कपास की माँग सूती वस्त्र निर्माण के लिए, सीमेन्ट ईट तथा अन्य भवन सामग्री की माँग भवन निर्माण के लिए । उत्पादक या पूँजीगत वस्तुओं की माँग (औद्योगिक कच्चामाल मशीनों उपकरणों तथा अन्य साज समान की माँग) तथा उत्पादन के साधनों की माँग (भूमि, श्रम व पूँजी की माँग) व्युत्पन्न माँग के कतिपय ज्वलन्त उदाहरण है । पूँजीगत वस्तुओं तथा उत्पादन के साधनों की माँग उनके द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग पर निर्भर करती है इसलिए इनकी माँग को अप्रत्यक्ष माँग कहते है । मुद्रा को मात्र भी व्युत्पन्न माँग है क्योंकि मुद्रा की माँग वस्तुओं व सेवाओं को क्रय करने का कारण होती है ।
5. **सामूहिक या मिश्रित माँग** (Composite Demand) : जब किसी वस्तु का प्रयोग एक से अधिक उपयोगों मे किया जाता है तो उसकी सभी प्रयोगों में की गयी माँग के योग को सामूहिक माँग कहते है । हमारे घरों में विभिन्न प्रयोगों में काम मे ली जाने वाली बिजली और पानी की कुल माँग इसका सुन्दर उदाहरण है ।
6. **संयुक्त माँग** (Joint Demand) : जब किसी एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए दो या दो से अधिक वस्तुओं की माँग एक साथ की जाती है, तो इसे संयुक्त माँग कहते है ।

पूरक वस्तुओं की माँग इसका सुन्दर उदाहरण है । गेंद और बल्ले, पेन और स्याही, चाय, चीनी और दूध की माँग इसके कतिपय उदाहरण है ।

19.6 माँग के नियम (law of Demand)

हम अपने सामान्य अनुभव से यह जानते है कि किसी वस्तु की कीमत और उसकी क्रय की जाने वाली मात्रा के बीच घनिष्ठ संबंध पाया जाता है । व्यवहार गे हम यह देखते है कि क्रेता वस्तु की ऊँची कीमत पर कम मात्रा और नीची कीमत पर अधिक मात्रा खरीदते है । माँग का नियम, अन्य बातों के समान रहने पर, यह स्पष्ट करता है कि किसी वस्तु की कीमत और उसकी मांगी जाने वाली मात्रा के बीच ऋणात्मक (विपरीत) संबंध पाया जाता है अर्थात ऊँची कीमत पर कम मात्रा तथा नीची कीमत पर अधिक मात्रा क्रय की जात । है । माँग के नियम को परिभाषित करते हुए **सेम्यूलसन** लिखते है कि "यदि बाजार में किसी वस्तु की अधिक मात्रा प्रस्तुत की जाए, तो अन्य बातों के समान रहने पर, यह कम मूल्य पर ही बेची जा सकती है ।" सर शब्दों में कहे तो माँग के नियम के अनुसार किसी वस्तु की मांगी जाने वाली मात्रा उसकी कीमत की विपरीत दिशा में बदलती है अर्थात कीमत बढने पर माँग घटती है और कीमत घटने पर बढ़ती है ।

माँग के नियम को तालिका तथा रेखाचित्र संख्या 6 द्वारा समझा जा सकता है:

तालिका संख्या-6

x वस्तु की कीमत (Px)	**x वस्तु की मांग-मात्रा**	**विवरण**
रु. 10	100 इकाइयां	वस्तु की कीमत और माँग-मात्रा के बीच ऋणात्मक संबंध होने के कारण वस्तु की कीमत बढ़ने पर माँग घाट रही है।
रु. 11	80 इकाइयां	
रु. 12	50 इकाइयां	

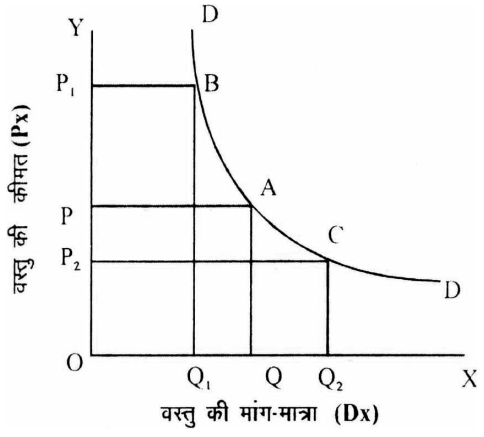

रेखाचित्र संख्या 6 में DD माँग वक्र ऋणात्मक रूप से ढालू है अर्थात बाये से दायें नीचे की तरफ झुकता हुआ है। चित्रानुसार OP कीमत पर वस्तु की मात्रा OQ है । जब कीमत बढ़कर OP1 हो जाती है तो मात्रा घटकर OQ1 रह जाती है । यदि कीमत गिरकर OP2 हो जाती है तो माँग मात्रा बढ़कर OQ2 हो जाती है ।

माँग के नियम की मान्यताएँ अथवा अन्य बाते समान रहने की शर्त (Assumptions of the Low of Demands)

माँग का नियम निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है :

(i) उपभोक्ता की मौद्रिक आय में परिवर्तन नही होना चाहिए, (ii) उपभोक्ता के रूचि, स्वाभाव, पसन्दगी अधिमान, फैशन एवं आदत में परिवर्तन नहीं होना चाहिए, (iii) विचाराधीन वस्तु की तथा संबंधित वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन नही होना चाहिए, (iv) वस्तु की निकट भविष्य में परिवर्तन की संभावना नही होनी चाहिए, तथा (v) विचारधीन वस्तु प्रतिष्ठासूचक नहीं होनी चाहिए ।

माँग के नियम के लागू होने के कारण अथवा अधिकाशं माँग वक्रो के बाये से दाये झुकते हुए होने के कारण (Reasons for the Application of the Low of Demand or Why Dses most of the Demand Curves Slop Downwards from Left or Right)

अधिकांश माँग वक्र बाये से दाये इसलिए झुकते हुए होते है क्योंकि वस्तु की कीमत और उसकी माँग मात्रा के बीच ऋणात्मक संबंध पाया जाता है । निम्नांकित कारणों की वजह से कीमत और माँग मात्रा के बीच विपरीत संबंध पाया जाता है -

1. **सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम का प्रभाव** (Effect of the law of Diminishing Marginal Utility) : इस नियम की क्रियाशीलता के कारण उपभोक्ता को वस्तु की अधिक इकाईयों के क्रय से क्रमश: घटती हुई सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होती है जिसके कारण उपभोक्ता वस्तु की कम उपयोगिता वाली इकाइयों को तभी खरीदना चाहेगा जब उनकी कीमत कम हो । इसलिए कम कीमत पर वस्तु की अधिक इकाईयाँ क्रय की जाती है । यहाँ यह ध्यान रखने योग्य बात है कि क्रेता किसी भी वस्तु की अधिकतम कीमत उससे प्राप्त सीमान्त उपयोगिता के बराकर ही दे सकता है, उससे अधिक नही । उक्त विश्लेषण से अब हम इस बात को ठीक ढ़ग से समझ गए होंगे कि माँग का नियम सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है । माँग के नियम पर सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के प्रभाव को निम्नांकित सूत्र द्वारा समझा जा सकता है :

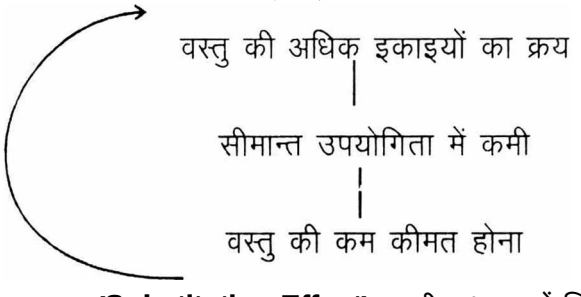

2. **प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution Effect) :** इसी अध्याय में तिरछी माँग के अध्ययन के समय हम यह जान चुके है कि किसी वस्तु की माँग पर उसकी स्थानापन्न वस्तुओं की कीमत का भी प्रभाव पड़ता है, जिसे हमने प्रतिस्थापन प्रभाव कहा है । यह प्रतिस्थापन प्रभाव माँग के नियम के लागू होने का एक अन्य प्रमुख कारण हैं । उदाहरण के लिए, जब चाय की कीमत कम हो जाती है और उसकी स्थानापन्न वस्तु कॉफी की कीमत स्थिर रहती है, तो चाय काफी की तुलना में सस्ती हो जाने के कारण अधिक क्रय की जायेगी, अर्थात उपभोक्ता सस्ती वस्तु (चाय) को उसकी महँगी स्थानापन्न वस्तु (कॉफी) के स्थान

पर प्रतिस्थापित करेगा । हम सब इस बात को सामान्य समझ से जानते है कि उपभोक्ता मिलती जुलती महँगी वस्तु के स्थान पर सस्ती वस्तु का अधिक प्रयोग करता है जिसके कारण कम कीमत पर वस्तु की अधिक मात्रा क्रय की जाती है ।

3. **आय प्रभाव (Income Effect) :** वस्तु की कीमत में परिवर्तन से उपभोक्ता की वास्तविक आय (क्रय शक्ति) में परिवर्तन होता है । कीमत बढ़ने पर उपभोक्ता की वास्तविक आय घटता है तथा कीमत घटने पर उपभोक्ता की वास्तविक आय बढ़ जाती है । उपभोक्ता की वास्तविक आय में हुआ परिवर्तन वस्तु की माँग को प्रभावित करता है जिसे **आय प्रभाव** कहते है । **माँग का नियम धनात्मक आय प्रभाव के कारण लागू होता है अर्थात वास्तविक आय में वृद्धि के कारण वस्तु की माँग बढ़ती है ।** इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है । मानी की एक उपभोक्ता ग वस्तु की 2 किलो मात्रा 80 रू. प्रतिकिलो के हिसाब से खरीदता हैं, तो उसका ग वस्तु पर कुल खर्चा 160 रू. होता है । अब यदि वस्तु की कीमत घट कर 60 रू. प्रतिकिलो हो जाती है तो अब वह वस्तु की पहले के बराकर मात्रा केवल 120 रू. में ही क्रय कर लेता है । इस प्रकार उसके पास 40 रू. शेष रह जाते है - यही उपभोक्ता की वास्तविक आय में वृद्धि है । अर्थशास्त्रियों का व्यावहारिक अनुभव के आधार पर यह मानना है कि उपभोक्ता इस बढ़ हुई वास्तविक आय का सम्पूर्ण अथवा एक भाग उसी वस्तु को क्रय करने पर अवश्य खर्च करता है जिससे उसकी माँग बढ़ जाती है । इस उदाहरण में 40 रु. की वास्तविक आय वृद्धि के कारण ग वस्तु की माँग 2 किलो से अधिक की जायेगी । वस्तु की माँग पर पडने वाले आय प्रभाव को निम्नलिखित सूत्र से समझा जा सकता है :

   वस्तु की कीमत में कमी उपभोक्ता की वास्तविक आय में वृद्धि धनात्मक आय प्रभाव के कारण वस्तु की माँग में वृद्धि

4. **घटते हुए मूल्य नये क्रेताओं को आकर्षित करते है** (Falling Prices Attract New Customers) : वस्तु की कीमत घटने पर अब उसका प्रयोग ऐसे क्रेताओं के द्वारा भी किया जाने लगता है जो पहले उसके ऊँचे दामों के कारण क्रय नही कर पाते है । कीमत में कमी के कारण अब वस्तु क्रेता की **'आय सीमा की पहुँच'** में आ जाती है जिससे उसकी माँग बढ़ जाती है ।

5. **वस्तु के विविध प्रयोग** (Different uses of Commodity) : प्राय: अधिकांश वस्तुएँ एक से अधिक प्रयोग में काम आती है । इसलिए जब वस्तु की कीमत कम हो जाती है तो उसके क्रेता उसका कम महत्वपूर्ण प्रयोगों में भी प्रयोग करने लगते है जिससे उसकी मांग बढ़ जाती है ।

माँग के नियम के अपवाद (Exceptions to the Law of Demand)

माँग के नियम के अपवाद से आशय इन दशाओं से है जब माँग का नियम लागू नहीं होता अर्थात जब कम कीमत पर वस्तु की कम माँग मात्रा तथा अधिक कीमत पर अधिक मांग मात्र क्रय की जाती हैं । माँग के नियम के अपवाद की स्थिति मे वस्तु की कीमत और माँग मात्रा के बीच ऋणात्गक सबंध के स्थान पर **धनात्मक संबंध** पाया जाता है जिसकी वजह से

माँग वक्र बाये से दाये ऊपर की तरफ उठता हुआ होता है । माँग के नियम के अपवाद की स्थिति को तालिका तथा रेखाचित्र संख्या 7 द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

तालिका संख्या - 7

x वस्तु की कीमत (Px)	x वस्तु की मांग (Dx)	विवरण
रु. 1	100	वस्तु की कीमत और मांग के बीच धनात्मक संबंध होने के कारण वस्तु की कीमत बढने पर उसकी मांग बढ़ रही है
रु. 2	120	
रु. 3	160	

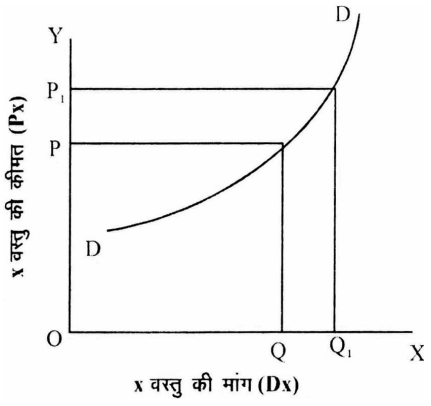

रेखाचित्र संख्या 7 में DD माँग वक्र ढाल धनात्मक है अर्थात बाये से दाये ऊपर की तरफ चढता हुआ है । चित्रानुसार OP कीमत पर OQ माँग मात्रा हैं कीमत बढ़कर OP1 हो जाने पर मात्रा भी बढ़ कर OQ1 हो जाती है । वस्तु की कीमत और माँग मे प्रत्यक्ष (सीधा) संबंध होने के कारण Dx = f (Px)>0 है ।

माँग के नियम के निम्नलिखित अपवाद बताये जाते है :

1) **मूल्य परिवर्तन की आशंका (Fear of Change in Price) :** यदि किसी वस्तु के मूल्य मे निकट भविष्य में परिवर्तन की आशंका है तो माँग का निमय लागू नही होगा । आर्थिक तेजी और मन्दी के समय माँग का नियम लागू नहीं होता है । तेजीकाल में कीमतों के बढने की आशंका के कारण लोग बढ़ते हुए मूल्यों के कारण होने वाली हानि से बचने के लिए पहले से अधिक मात्रा क्रय करते है और मन्दी काल में गिरते हुए मूल्यों से लाभान्वित होने के लिए पहले से कम मात्रा क्रय करते है । किन्तु यह माँग के नियम का वास्तविक अपवाद नहीं माना जाता है क्योंकि यह माँग के नियम की इन मान्यताओं को पूरा नहीं करता है कि वस्तु के मूल्य में निकट भविष्य में परिवर्तन नहीं होना चाहिए ।

2) **प्रतिष्ठासूचक वस्तुओं की माँग (Demand for Prestigious Goods) :** माँग का नियम प्रतिष्ठासूचक वस्तुओं पर लागू नही होता है क्योंकि अमीर लोग ऐसी वस्तुओं का तभी खरीदना पसन्द करते हैं जब इनकी कीमत अधिक हो । इनकी कीमत में कमी होने के बावजूद भी कम आय वाले व्यक्ति इन्हें खरीद पाने में असमर्थ होते हे । इन वस्तुओं के अन्तर्गत बेशकीमती हीरे जवाहरात, दुर्लभ कलाकृतियाँ आदि आते है । इसे भी माँग के नियम का सच्चा अपवाद नही माना जा सकता है क्योकि यह नियम की इस मान्यता को पूरा नही करता है कि विचाराधीन वस्तु प्रतिष्ठासूचक नहीं होनी चाहिए।

3) **वस्तु की गुणवता के बारे में अज्ञानता एवं भ्रम** (Ignorance and Illusion about the quality of product) : अनेक उपभोक्ता अज्ञानवशं एवं मनोवैज्ञानिक पूर्वाग्रहों के कारण महँगी वस्तुओ को श्रेष्ठ एवं अधिक उपयोगी तथा सरल वस्तुओं को घटिया

एवं कम उपयोगी मान बैठते है जिसके कारण वे ऊँची कीमतो पर अधिक और नीची कीमतों पर कम मात्रा क्रय करते है । **बेन्हम** ने इसका प्रथम विश्वयुद्ध के समय का तस्वीरों की एक पुस्तक का उदाहरण दिया है । पुस्तक के प्रथम संस्करण की कीमत 10.5 शिलिंग रखी गयी किन्तु वह अधिक नही बिकी । उसी पुस्तक का जब दूसरा संस्करण छापा गया तब उसकी कीमत लगभग तीन गुना अधिक रखी गयी, फिर भी उसकी अनेक प्रतियाँ फटाफट बिक गयी । ऐसा लोगो के अज्ञान और भ्रमवश हुआ कि पुस्तक के महंगी होने के कारण उसमे अच्छी एवं आकर्षक तस्वीरे होगी । इस अपवाद को भी अर्थशास्त्री माँग के नियम का सच्चा अपवाद नही मानते है क्योकि सभी आर्थिक सिद्धान्तों की यह अन्तर्निहित मान्यता है कि व्यक्ति विवेकशील होता है इसलिए उसका आचरण अज्ञान और भ्रम से प्रभावित नही होता है ।

4) **अनिवार्य वस्तुओं की माँग** (Demand for Necessaries of Life) : यह सच है कि जीवनरक्षक अनिवार्य वस्तुओं की माँग का नियम एक सीमा तक लागू नहीं होता है । ये ऐसी वस्तुएँ होती है कि जिन्हें एक न्यूनतम मात्रा में क्रय करना ही पडता है इसलिए इनकी माँग एक सीमा तक कीमतों में परिवर्तन से अप्रभावित रहती है । लेकिन कीमतों में एक सीमा के पश्चात होने वाली वृद्धि उपभोक्ता को इनकी सस्ती और घटिया स्थानापन्न वस्तुओं का उपभोग करने को विवश कर देती है ।

5) **निकृष्ट वस्तुओं की माँग** (Demand for Inferior Goods) : 19वी शताब्दी में **रोबर्ट गिफिन** ने यह दावा किया कि निम्न कोटि की वस्तुओं पर माँग का नियम लागू नही होता है । उनके अनुसार निम्न कोटि की वस्तुओं की माँग कीमत घटने पर घट जाती है । इन वस्तुओं पर माँग का नियम इसलिए लागू नहीं होता है कि इनके मूल्यों में कमी होने पर उपभोक्ता की वास्तविक आय मे जो वृद्धि होती है उसे वह ऋणात्मक आय प्रभाव के कारण इन वस्तुओं पर खर्च न करके श्रेष्ठ वस्तुओं पर खर्च करता है, परिणामस्वरूप इनकी माँग कम हो जाती है । उदाहरण के लिए, बाजरे की कीमत में कमी होने पर इसकी घट जायेगी क्योंकि उपभोक्ता अपनी वास्तविक आय वृद्धि को बाजरे के स्थान पर गेहूँ तथा चावल पर व्यय करेगा । इसे निम्नलिखित सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

वस्तु की कीमत मे कमी उपभोक्ता की वास्तविक आय में वृद्धि ऋणात्मक आय प्रभाव के कारण वस्तु की माँग में कमी

19.7 माँग-मात्रा में परिवर्तन-माँग का विस्तार एवं संकुचन (Change in Quantity demanded- Expansion Contraction of Demand)

माँग मात्रा में परिवर्तन केवल वस्तु की स्वयं की कीमत के परिवर्तन के कारण होता है जिसे कीमत माँग अथवा माँग के नियम के द्वारा स्पष्ट किया जाता है । माँगी गयी मात्रा के परिवर्तन, अन्य बातों के समान रहने पर, कीमत सापेक्ष होते है । यदि माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्व स्थिर रहे, तो वस्तु की कीमत में परिवर्तन के कारण उसकी क्रय की जाने

वाली मात्रा में जो परिवर्तन होता है, उसे ही माँगी गयी मात्रा का परिवर्तन कहते है । इसी इकाई की कीमत माँग शीर्षक के अन्तर्गत दी गयी तालिका संख्या 1 से इसे समझा जा सकता है । माँग मात्रा का परिवर्तन माँग के विस्तार अथवा माँग के संकुचन के रूप मे होता है :

i) **माँग का विस्तार :** माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों के स्थिर रहने पर, वस्तु की कीमत में कमी होने पर उसकी क्रय की जाने वाली मात्रा में जो वृद्धि होती है, उसे माँग का विस्तार कहते है । रेखाचित्र संख्या 8 में जब कीमत OP से घट कर OP2 हो जाती है तो इसके कारण वस्तु की क्रय की जाने वाली मात्रा OQ से बढ़ कर QQ2 हो जाती है । इस प्रकार वस्तु की मात्रा में {{2 कीमत कमी के कारण OQ2 की जो वृद्धि हुई है यही माँग का विस्तार कहलाता है ।

ii) **माँग का संकुचन :** अन्य बातों के समान रहने पर वस्तु की कीमत में वृद्धि होने पर उसकी क्रय की जाने वाली मात्रा में जो कमी आती है, उसे माँग का संकुचन कहते है । रेखाचित्र संख्या 8 में जब कीमत OP से बढ़ कर OP1 हो जाती है तो इस कारण वस्तु की क्रय की जाने वाली मात्रा OQ से घट कर OQ1 हो जाती है । इस प्रकार वस्तु की मात्रा में PP1 कीमत वृद्धि के परिणामस्वरूप OQ1 की जो कमी हुई है, यही माँग का संकुचन कहलाता है ।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि माँग मात्रा में परिवर्तन होने पर माँग तालिका मे कोई परिवर्तन नही होता है इसलिए माँग के विस्तार और संकुचन की स्थिति में **उपभोक्ता उसी माँग वक्र पर नीच ऊपर होता रहता है ।** चित्रानुसार DD माँग वक्र के प्रारम्भिक बिन्दु (A) से उपभोक्ता यदि नीचे की तरफ किसी बिन्दु (जैसे C बिन्दु) पर जाता है तो यह माँग का विस्तार होगा और यदि वह मूल बिन्दु से ऊपर की तरफ किसी भी बिन्दु (जैसे B बिन्दु) पर जाता है तो माँग का संकुचन होगा ।

रेखाचित्र संख्या 8

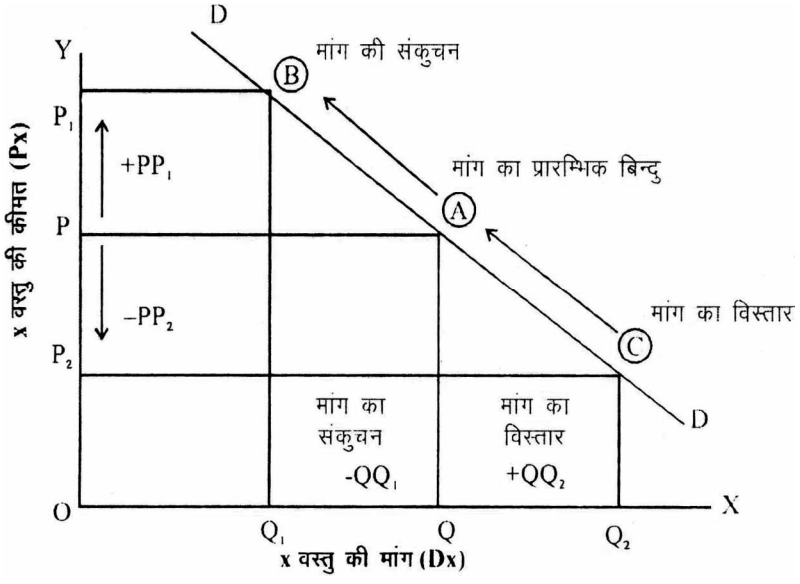

19.8 माँग में परिवर्तन- माँग में वृद्धि एवं कमी (Change in Demand or Increase and Decrease in Demand)

किसी वस्तु की कीमत के अतिरिक्त उसकी माँग पर अन्य तत्वो का भी प्रभाव पडता हैं जैसे उपभोक्ता की आय, रूचि एवं पसन्द, संबंधित वस्तुओं की कीमते भावी कीमतों की प्रत्यशा जनसंख्या, जलवायु आदि आदि । इन तत्वों को सामूहित रूप से माँग की दशाओं के नाम से जाना जाता है । वस्तु की कीमत के अलावा माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों में से किसी मे भी परिवर्तन हो जाने के कारण वस्तु की क्रय की जाने वाली मात्रा में जो परिवर्तन होता है, उसे माँग में परिवर्तन कहते है । आय माँग और तिरछी माँग, माँग परिवर्तन के सुन्दर उदाहरण है । माँग का परिवर्तन माँग में वृद्धि अथवा कमी के रूप में हो सकता है :

i) माँग मे वृद्धि : तकनीकी दृष्टि से माँग में वृद्धि निम्न दो प्रकार की होती है :

(अ) समान कीमत पर पहले से अधिक मात्रा क्रय करना तथा

(ब) पहले से ऊँची कीमत पर पहले के समान मात्रा क्रय करना ।

माँग मे वृद्धि की इन दोनों स्थितियों को तालिका संख्या 8 तथा रेखाचित्र संख्या 9 द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

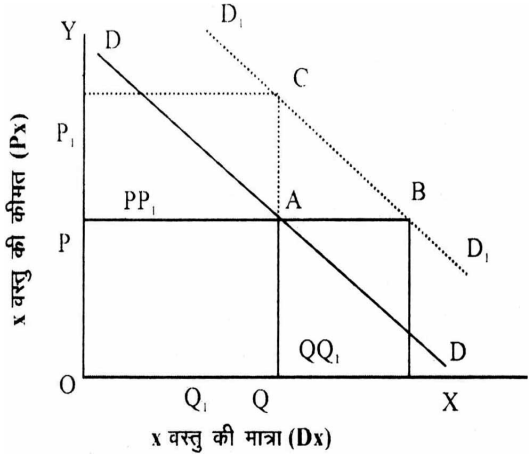

रेखाचित्र संख्या 9 में DD मूल माँग वक्र है । इसके A बिन्दु पर OP तथा OQ क्रमश: प्रारम्भिक कीमत और माँग है । यदि वस्तु की माँग अन्य तत्वों मे परिवर्तन के कारण OP कीमत पर ही OQ से बढ़ कर OQ_1 हो जाती है तो यहाँ OQ_1 मात्रा में वृद्धि माँग मे वृद्धि का प्रतीक है । इस कारण से उपभोक्ता DD माँग वक्र के A बिन्दु से खिसककर नये माँग वक्र D_1D_1 के B बिन्दु पर पहुँच जाता है । यह माँग में वृद्धि की प्रथम स्थिति है । दूसरी स्थिति में जब कीमत OP से बढ़ कर OP_1 हो जाती है तो अब उपभोक्ता DD माँग वक्र के A बिन्दु से हट कर नये माँग वक्र D_1D_1 के C बिन्दु पर पहुँच जाता है जहाँ वह PP_1 कीमत वृद्धि के बावजूद भी पहले के समान OQ मात्रा क्रय करता है ।

यहाँ यह बात स्मरण रखने योग्य है कि माँग में परिवर्तन होने पर माँग तालिका बदल जाती है । जिससे उपभोक्ता का माँग वक्र भी बदल जाता है । चित्रानुसार DD मूल माँग वक्र के । बिन्दु से D_1D_1 नये माँग वक्र के बिन्दु A बिन्दु से D_1D_1 नये मांग वक्र के बिन्दु B तथा C पर चलन ही माँग में वृद्धि का प्रतीक है ।

तालिका संख्या-8

(अ) समान कीमत पर पहले से अधिक मात्रा क्रय करना			(ब) उंची कीमत पर पहले के समान मात्रा क्रय करना		
X वस्तु की कीमत (रू. में) (Px)	X वस्तु की मांग (इकाईयों में) (DX)	विवरण	X वस्तु की कीमत (रू. में) (Px)	X वस्तु की मांग (इकाईयों में) (DX)	विवरण
1	100	समान कीमत पर उपभोक्ता पहले से 20 इकाईयां अधिक क्रयक़र रहा है	1	100	पहले से ऊंची कीमत पर उपभोक्ता पहले के समान इकाईयां क्रय कर रहा है ।
1	120		2	100	

ii) माँग में कमी : तकनीकी दृष्टि से माँग में कमी के निम्न दो रूप होते है

(अ) समान कीमत पर पहले से कम मात्रा क्रय करना तथा

(ब) पहले से नीची कीमत पर पहले के समान मात्रा क्रय करना ।

माँग मे कमी की इन दोनों स्थितियों को तालिका संख्या 9 तथा रेखाचित्र संख्या 10 द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

तालिका संख्या-9

(अ) समान कीमत पर पहले से अधिक मात्रा क्रय करना			(ब) उंची कीमत पर पहले के समान मात्रा क्रय करना		
X वस्तु की कीमत (रू. में) (Px)	X वस्तु की मांग (इकाईयों में) (DX)	विवरण	X वस्तु की कीमत (रू. में) (Px)	X वस्तु की मांग (इकाईयों में) (DX)	विवरण
1	100	समान कीमत पर उपभोक्ता पहले से 20 इकाईयां अधिक क्रयक़र रहा है	1	100	पहले से ऊंची कीमत पर उपभोक्ता पहले के समान इकाईयां क्रय कर रहा है ।
1	80		2	100	

रेखाचित्र संख्या 10 में DD मूल माँग वक्र है।

इसके A बिन्दु पर OP तथा मात्रा OQ है ।

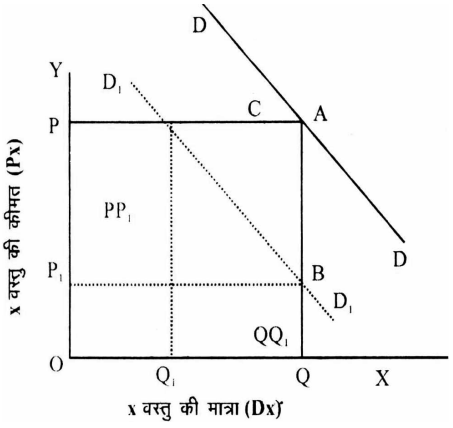

माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों में परिवर्तन हो जाने के कारण OP कीमत पर ही माँग घट कर OQ_1 हो जाती है और उपभोक्ता नये माँग वक्र D_1D_1 के B बिन्दु पर चला जाता है । यदि कीमत घट कर OPL हो जाती है तो वस्तु की माँग पहले के समान ही बनी रहती है लेकिन उपभोक्ता अब मूल माँग वक्र से हटकर नये मांग हटकर नये के माँग वक्र D_1D_1 बिन्दु पर पहुँच जाता है कीमत में PP_1 कीमत कमी के बावजूद भी माँग पूर्ववत OQ मही रहती है।

19.9 पूर्ति का अर्थ एवं विशेषताएँ (Meaning and Characteristics of Supply)

पूर्ति का अर्थ एवं परिभाषा : साधारण बोलचाल की भाषा मे हम पूर्ति का अर्थ किसी वस्तु की उस मात्रा से लगाते है जो किसी समय बिन्दु पर उपलब्ध होती है या स्टॉक में होती है । लेकिन पूर्ति के सम्बन्ध में यह धारण भ्रामक है । अर्थशास्त्र में पूर्ति का अर्थ किसी वस्तु की उस मात्रा से लगाया जाता है जो कोई उत्पादक या विक्रेता उसकी दी हुई कीमत पर एक निश्चित समयावधि में बेचने को तैयार है । **मेयर्स** के शब्दों में "हम पूर्ति को किसी वस्तु की उन मात्राओं की सूची के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो किसी समय विशेष पर अथवा किसी समयावधि (जैसे प्रतिदिन प्रति सप्ताह आदि)में, जिसमें पूर्ति की दशाएँ स्थिर रहे, सभी संभव कीमतों पर बिक्री हेतु पस्तुत की जायेगी ।"

स्टॉक और पूर्ति में अन्तर (Difference Between stock Supply) : स्टॉक से आशय किसी वस्तु की उस कुल मात्रा से है जो किसी समय बिन्दु पर बाजार में उपलब्ध है जबकि पूर्ति स्टॉक का वह भाग है जिसे प्रति इकाई समय अथवा निश्चित समयावधि में एक निश्चित एवं दी हुई कीमत पर बिक्री हेतु प्रस्तुत की जाती है । इस प्रकार वस्तु की पूर्ति उसके स्टॉक का एक भाग होती है जिसका संबंध एक निश्चित कीमत और निश्चित समायावधि से होता है । उदाहरण के लिए, किसी समय बिन्दु पर एक बाजार में चीनी की कुल मात्रा 10000 क्विंटल है जिसमें से चीनी के विक्रेता एक दिन में 1600 रू प्रति क्विंटल की दर रो केवल 4000 क्विंटल चीनी बेचने को तत्पर है तो चीनी का स्टॉक 10000 क्विंटल है और पूर्ति मात्र 4000 क्विंटल है । इस प्रकार स्टॉक और पूर्ति में प्रमुख अन्तर यह है कि स्टॉक का संबध किसी समय बिन्दु (Point of time) से होता है, जबकि पूर्ति का संबंध एक निश्चित समयावधि (Point of time) एवं निश्चित कीमत से होता है । स्टॉक कुल उपलब्ध मात्रा का प्रतीक एक स्टॉक अवधारणा है जबकि पूर्ति स्टॉक के एक भाग का प्रतीक प्रवाह अवधारण है ।

पूर्ति की विशेषताएँ: किसी भी वस्तु की पूर्ति की निम्नांकित विशेषताएँ होती है

(i) वस्तु की मात्रा : किसी वस्तु की पूर्ति उसकी वह मात्रा होती है जो विक्रेता एक निश्चित कीमत पर एक निश्चित समयावधि में बेचने को तैयार होते है ।

(ii) निश्चित कीमत: किसी वस्तु की पूर्ति का संबंध एक निश्चित एवं दी हुई कीमत से होता है । पूर्ति को सदैव वस्तु की कीमत के सन्दर्भ में ही व्यक्त किया जाता है ।

(iii) निश्चित समयावधि : चूँकि पूर्ति एक प्रवाह अवधारणा है इसलिए इसको एक निश्चित समयावधि वे संबंधित किया जाता है जैसे प्रतिदिन, प्रति सप्ताह, प्रतिमाह आदि

19.10 पूर्ति को प्रभावित करने वाले तन अथवा पूर्ति फलन (Factors affecting supply or Function):

किसी वस्तु की पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्वों को पूर्ति के निर्धारित तत्व कहते है । इन्हें पूर्ति फलन के रूप में निम्न समीकरण द्वारा प्रकट किया जाता है ।

$$Sx = f(px, Py, Pz, P1\text{-}Pn\ F1\text{-}Fm, TN, n)$$

यहाँ sx; वस्तु की पूर्ति, f; फलन, Px, x वस्तु की कीमत, py; स्थानापन्न वस्तुओं की कीमतें, pz; पूरक वस्तुओ की कीमते,P1-Pn; स अन्य वस्तुओं की कीमतें, F1-Fm, उत्पादन के सभी साधनों की कीमते, N प्राकुतिक घटक तथा n, अन्य तत्वों के सूचक है । किसी वस्तु की पूर्ति मुख्यतया निम्नलिखित तत्वों से प्रभावित होती है

1) वस्तु का मूल्य (Px) : किसी वस्तु की पूर्ति को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला तत्व उसकी स्वयं की कीमत है । अन्य बातों के समान रहने पर वस्तु की कीमत और उसकी पूर्ति मात्रा के बीच धनात्मक संबंध पाया जाता हैं अर्थात ऊँची कीमतों पर अधिक पूर्ति और नीची कीमतों पर कम पूर्ति होती है ।

2) स्थानापन्न एवं पूरक वस्तुओं की कीमत (Py and Pz): किसी वस्तु की पूर्ति पर स्वयं उसकी कीमत का ही नहीं बल्कि उसकी स्थानापन्न और पूरक वस्तुओं की कीमतों का भी प्रभाव पडता है । उदाहरण के लिए जब किसी वस्तु की स्थानापन्न वस्तुओं की कीमतें बढ जाती है और उस का स्वयं का मूल्य स्थिर की पूरक वस्तुओं की कीमत बढ़ जाती है तो विचारधीन वस्तु की पूर्ति भी बढ़ जायेगी और विलोमश: घट जायेगी ।

3) अन्य वस्तुओं की कीमते (P1-Pn) : जब अन्य वस्तुओं की कीमते बढ़ जाती है तथा विचारधीन वस्तु की कीमते बढ़ती हैं तो उसकी पूर्ति घट जायेगी क्योंकि ऐसी वस्तु की पूर्ति में फर्म का कोई आकर्षण नजर नहीं आता है । इसके विपरीत जब सभी वस्तुओं की कीमतें घटने लगती है तो विचाराधीन वस्तु की पूर्ति मे वृद्धि हो जायेगी ।

4) उत्पादन के साधनो की कीमते (F1 - Fm): किसी वस्तु के उत्पादन में लगे साधनों की कीमतो का उसकी पूर्ति पर प्रभाव पडता है । यदि उत्पादन के साधनों की कीमतें बढ़ जाती है तो वस्तु की पूर्ति घट जायेगी और विलोमश: उत्पादन के साधनों की कीमते घट जाने पर वस्तु की पूर्ति बढ़ जायेगी ।

5) प्राकृतिक घटक (N) : वस्तुओं की पूर्ति पर प्राकृतिक घटकों, यथा जलवायु, मौसम, वर्षा प्राकृतिक संसाधनों आदि की अनुकूलता और प्रतिकूलता का गहरा प्रभाव पडता है । सागान्यतया प्राकृतिक तत्वों की अनुकूलता वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि तथा प्रतिकूलता पूर्ति

में कमी करती है । कृषि जन्य पदार्थो की पूर्ति प्राकृतिक घटको की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता पर एक बडी भारी सीमा तक निर्भर करती है ।

6) **तकनीकी ज्ञान (T) :** जब किसी वस्तु के उत्पादन संबंधी तकनीकी ज्ञान गे निरन्तर वृद्धि होती रहती है तो उसकी पूर्ति पर अनुकूल प्रभाव पडता हैं । उत्पादन की तकनीक में सुधार होने पर वस्तु की उत्पादन लागत में कमी आती है जिससे उत्पादक का लाभ भी बढ़ जाता है परिणामस्वरूप वस्तु की पूर्ति भी बढ़ जाती है ।

7) **अन्य तत्व (n)**: इसके अन्तर्गत - (i) देश मे आन्तरिक शान्ति एवं ब्राहा सुरक्षा, (ii) उत्पादकों एवं विक्रेताओं की रूचि, (ii) परिवहन और संचार के साधन, (iv) सरकारी नीति (v) फर्मो के उद्देश्य, (vi) उत्पादकों फर्मो का गठबंधन, (vii) औद्योगिक शान्ति आदि।

19.11 पूर्ति का नियम (The Law of supply)

पूर्ति का नियम हमें यह बताता है कि अन्य बातों के समान रहने पर किसी वस्तु की कीमत और उसकी बेची जाने वाले मांग(पूर्ति-मात्रा) के बीच प्रत्यक्ष अथवा धनात्मक संबंध होता है। तकनीकी दृष्टि से कहे तो पूर्ति का नियम यह स्पष्ट करता है कि अन्य बातों के समान रहने पर, किसी वस्तु की कीमत बढ़ने पर उसकी पूर्ति बढ़ती है और कीमत घटने पर पूर्ति घटती है । यहाँ यह बात स्मरण योग्य है कि पूर्ति का नियम एक गुणात्मक कथन है न की परिमाणात्मक कथन अर्थात यह वस्तु की कीमत परिवर्तन के कारण उसकी पूर्ति मात्रा मे होने वाले परिवर्तन की दिशा बताता है किन्तु पूर्ति मात्रा में होने वाले परिमाण को नही । संक्षेप में पूर्ति का नियम यह स्पष्ट करता है कि किसी वस्तु की कीमत और उसकी पूर्ति मात्रा के बीच धनात्मक संबंध पाया जाता है, किन्तु इस संबंध का सगानुपाती होना आवश्यक नहीं है।

पूर्ति के नियम की मान्यताएँ (Application)

जैसा की पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है । कि पूर्ति का नियम 'अन्य बातों के समान रहने पर' ही लाग होता है जो इस बात का सूचक है कि नियम कुछ मान्यताओं पर आधारित है। पूर्ति के नियम की प्रमुख मान्यताएँ निम्नांकित है :-

1) उत्पादन के साधनों की कीमत अपरिवर्तित रहनी चाहिए ।
2) वस्तु के क्रेता एवं विक्रताओं की आय एवं आर्थिक स्थिति अपरिवर्तित रहनी चाहिए ।
3) वस्तु के क्रेता एवं विक्रताओं की रूचियों, आदतों एवं पसन्दगी अधिमान में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए ।
4) वस्तु के उत्पादन की तकनीकी दशायें समान रहनी चाहिए अर्थात तकनीकी ज्ञान के स्तर में कोई सुधार नई होना चाहिए।
5) निकट भविष्य में वस्तु की कीमतों में परिवर्तन की आशंका नहीं होनी चाहिए ।
6) वस्तु की कीमत मे होने वाले अति सूक्ष्म परिवर्तन भी उसकी बेची जाने वाली मात्रा को प्रभावित करते है ।

पूर्ति के नियम का तालिका एवं रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण

पूर्ति के नियम को तालिका संख्या 10 तथा रेखचित्र संख्या 11 के द्वारा समझाया गया है।

तालिका संख्या-10

x वस्तु की कीमत (Px)	x वस्तु की मांग (Sx)	विवरण
रु. 10	100 इकाइयां	वस्तु की कीमत और मांग के बीच धनात्मक संबंध होने के कारण वस्तु की कीमत बढने पर उसकी मांग बढ़ रही है
रु. 20	120 इकाइयां	
रु. 30	160 इकाइयां	

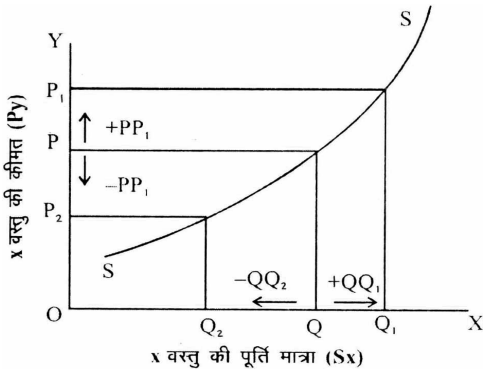

रेखाचित्र सख्या 11 गे वस्तु का पूर्ति वक्र है जो बाये ', से दायें ऊपर की तरफ चढता हुआ है अर्थात् इसका । ढाल धनात्मक है । चित्रानुसार OP कीमत पर OQ 'पूर्ति मात्रा है । जब कीमत बढ कर OP। हो जाती है, तो पूर्ति मात्रा भी बढ कर OQ, हो जाती है और जब कीमत घट कर OP2 हो जाती है, तो पूर्ति मात्रा भी घट कर OQ2 हो जाती है । वस्तु की कीमत और पूर्ति में प्रत्यक्ष (सीधा) सबंध होने कारण Sx = F(Px) >0 है

पूर्ति का नियम के लाग होने के कारण (Reasons for the application of law of supply)

1. **लाभ की वृद्धि** (Increase in Profits) : वस्तु की उत्पादन लागत समान रहने पर यदि उसकी कीमत बढ़ जाती है, तो उत्पादक/विक्रेता का लाभ बढ जाता है जिससे पूर्ति बढती है । इसके विपरीत वस्तु की कीमत घटने पर लाभ कम हो जाने की वजह से पूर्ति घट जाती है ।
2. **उत्पादकों एवं विक्रेताओ की संख्या में परिवर्तन** (Changes in the number of producers & Seller): वस्तु की कीमत में वृद्धि एवं कमी होने पर उसके उत्पादक एव विक्रेताओं की संख्या भी क्रमश बढ़ एवं घट जाती है ।
3. **उत्पादन क्षमता के उपयोग में परिवर्तन** (Changes in efficiency): अल्पकाल में जैसे जैसे वस्तु की कीमत बढ़ती-जाती है वैसे वैसे उत्पादक अपनी उपलब्ध उत्पादन क्षमता का अधिक प्रयोग कर पूर्ति बढ़ा देता है और कीमत मे कमी होने पर वह अपनी उत्पादन क्षमता का पहले की अपेक्षा कम प्रयोग करने लगता है । दीर्घकाल में उत्पादक कीमत बढ़ने पर नये साधनों का प्रयोग बढ़ाकर अथवा तकनीकी सुधार करके पूर्ति की मात्रा बढ़ा सकता है ।
4. **उत्पादन कुशलता में प्रवृति** (Changes in efficiency): सामान्यतया जिस दिशा मे वस्तु की कीमत बदलती है उसी दिशा में उत्पादन कुशलता भी बदलती है । इसलिए कीमत में वृद्धि होने पर वस्तु के उत्पादन के क्षेत्र में नव प्रवर्तन व आविष्कार होने लगते है जो उत्पादन की दशाओं में सुधार लाते है ।
5. **पूर्ति में समायोजन की प्रवृति** (Tendency of adjustment in supply): जैसे जैसे समय की अवधि लम्बी होती जाती है, वैसे वैसे वस्तु की पूर्ति उसकी माँग के अनुसार समायोजित होने

की प्रवृति रखती है । इसलिए जब वस्तु की माँग में वृद्धि होने पर उसकी कीमत बढती है, तो पूर्ति भी बढ जाती है और विलोमश घट जाती है।

पूर्ति के नियम के अपवाद (Exceptions to the law of supply)

जब पूर्ति का नियम लागू नहीं होता है, तो इस नियम का अपवाद कहते है । कुछ विशेष दशाओं में पूर्ति का नियम लागू नही होता है । ऐसी स्थिति में कीमत बढ़ने पर पूर्ति बढ़ती नही है और कीमत घटने पर पूर्ति घटती नही है । पूर्ति के नियम के निम्नलिखित अपवाद है:

1. **निकट भविष्य में वस्तु की कीमत में परिवर्तन की आशंका :** यदि वस्तु की कीमत निकट भविष्य में परिवर्तित होने की सभांवना है, तो विक्रेता ऊँची कीमत पर वस्तु की कम मात्रा तथा नीची कीमत पर अधिक मात्रा बेचने के लिए तैयार रहते है । तेजी काल ओर मन्दी काल में ये स्थिति देखी जा सकती है ।
2. **दुर्लभ एवं कलात्मक वस्तुएँ :** ऐसी वस्तुएँ निरूत्पादनीय (जिनका पुन: उत्पादन संभव नहीं) होती हैं, इसलिए इनकी पूर्ति पर कीमत परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पडता है, जैसे दुर्लभ चित्र, कलाकृतियॉ आदि वस्तुओ की पूर्ति कीमत बढ़ने पर भी नही बढायी जा सकती है ।
3. **नीलामी की वस्तुएँ :** नीलाम की जाने वाली तथा नियंत्रित कीमतों पर बेची जाने वाली वस्तुओं की पूर्ति पूर्व निश्चित होती हैं इसलिए इनकी पूर्ति कीमत से प्रभावित नहीं होती है ।
4. **कृषि पदार्थो की पूर्ति :** कृषिजन्य पदार्थो की पूर्ति भी कीमत परिवर्तनों से तत्काल तथा पूर्ति के नियम के अनुसार प्रभावित नहीं होती है । ही इनकी पूर्ति दीर्घकाल में कीमत परिवर्तनों से अवश्य प्रभावित होती है ।
5. **श्रम की पूर्ति :** पिछड़े व विकासशील देशो में श्रम की पूर्ति अनेक बार मजदूरी मे वृद्धि के उपरान्त भी नही बढ़ती है क्योंकि श्रमिक काम की अपेक्षा आराम को अधिक महत्व देने लगते है । इसी कारणं श्रम का पूर्ति वक्र पीछे की और मुडता हुआ होता है ।
6. **स्थानापन्न एवं पूरक वस्तुएँ :** इन वस्तुओं के संबंध में पूर्ति का नियम ज्यो का त्यों लागू नही होता है ।

19.12 पूर्ति-मात्रा मे परिवर्तन (Changes in Quantity Supplied)

जब किसी वस्तु की बेची जाने वाली मात्रा में परिवर्तन केवल उसकी कीमतो में परिवर्तन के कारण होते है, तो इन्हे पूर्ति मात्रा में परिवर्तन कहा जाता है । इसके दो रूप होते है :

1. **पूर्ति में विस्तार (Expansion in Supply):** जब किसी वस्तु की कीमत में वृद्धि के कारण उसके बेची जाने वाली मात्रा में वृद्धि होती है, तो यह पूर्ति में विस्तार कहलाता है ।
2. **पूर्ति में संकुचन (Contraction in supply):** जब किसी वस्तु की कीमत में कमी के कारण उसकी बेची जाने वाली मात्रा घट जाती है, तो इसे पूर्ति में संकुचन कहते है ।

यहाँ बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि पूर्ति में विस्तार और संकुचन की स्थिति में विक्रेता की पूर्ति तालिका अपरिवर्तित रहती है (तालिका संख्या 10 देखें) जिससे पूर्ति वक्र भी अपरिवर्तित रहता है, लेकिन वह उसी वक्र के ऊपर-नीचे होता रहता है । इसे रेखाचित्र संख्या 12 द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

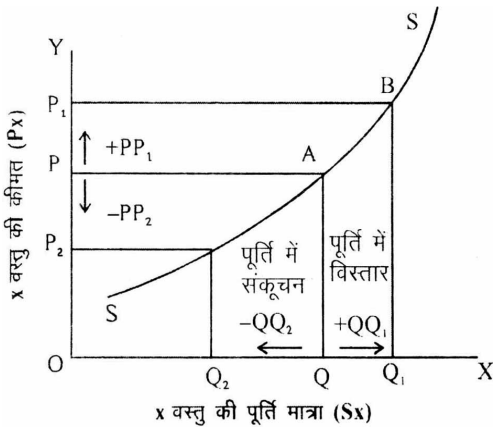

रेखाचित्र संख्या 12 में SS पूर्ति वक्र है । इसके प्रारम्भिक बिन्दु A पर वस्तु की कीमत OP तथा पूर्ति मात्रा OQ है । यदि कीमत बढ़ कर OP_1 हो जाती है, तो पूर्ति मात्रा भी बढ़ कर OQ_1 और विक्रेता पूर्ति वक्र के A बिन्दु से B बिन्दु पर पहुँच जाता है । यहाँ PP1 वृद्धि के कारण QQ_1 पूर्ति में विस्तार है । इसी प्रकार से जब कीमत घट कर OP_2 हो जाती है तो इसके कारण विक्रेता पूर्ति वक्र के A बिन्दु से खिसक कर C पर पहुँच जाता है और पूर्ति मात्रा घटकर रह जाती है I यहाँ PP2 कीमत में कमी के कारण पूर्ति में संकुचन QQ_2 के बराबर हुआ है । इस प्रकार विक्रेता यदि पूर्ति वक्र के मूल बिन्दु से दायी ओर ऊपर की तरफ जाता है, तो यह पूर्ति में प्रसार होगा और वह बायी ओर नीच की तरफ आता है, तो यह पूर्ति में संकुचन होगा।

19.13 पूर्ति में परिवर्तन (changes in supply)

जब किसी वस्तु की बेची जाने वाले मात्रा में होने वाला परिवर्तन उसके स्वयं की कीमत के अतिरिक्त पूर्ति को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों के कारण होता है, तो इसे पूर्ति में परिवर्तन कहते है । पूर्ति में होने वाला परिवर्तन पूर्ति की दशाओं मे परिर्वतन के कारण होता है । पूर्ति में परिवर्तन के दो रूप होते

1. पूर्ति में वृद्धि (Increase in Supply) तकनीकी दृष्टि से पूर्ति में वृद्धि की स्थितियों होती है जिन्हे चित्र संख्या 13 में दर्शाया गया है
   (अ) समान कीमत पर पहले से अधिक मात्रा विक्रय करना तथा
   (ब) पहले से नीची कीमत पर पूर्ववत (पहले के समान) मात्रा विक्रय करना ।

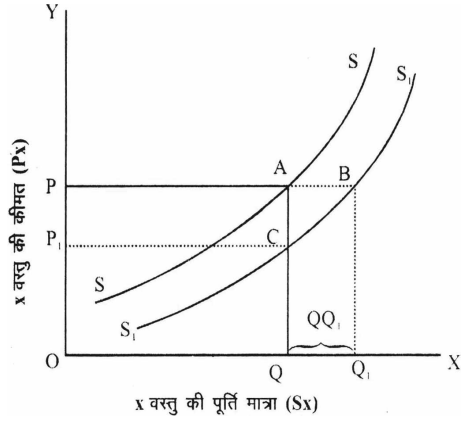

रेखा चित्र संख्या 13 में SS मूल पूर्ति वक्र है जिसके A बिंदु पर प्रारम्भिक कीमत और मात्रा क्रमश: OP तथा OQ है I S_1S_1 नया पूर्ति वक्र मूल वक्र के दायी ओर है, जिसके B बिन्दु पर समान कीमत OP पर मात्रा OQ_1 है I इस प्रकार QQ1 मात्रा पूर्ति में वृद्धि का प्रतीक है I S_1S_1 पूर्ति वक्र के C बिन्दु पर OP_1 पहले से नीची कीमत है किन्तु इस पर पहले के बराबर OQ मात्रा विक्रय के लिए प्रस्तुत की जा रही

है, जो पूर्ति में वृद्धि का प्रतीक है ।

2. पूर्ति मे कमी (Decrease in Supply) तकनीकी दृष्टि से पूर्ति में कमी की निम्नांकित दो स्थितियाँ है, जिन्हे रेखाचित्र संख्या 14 द्वारा स्पष्ट किया गया है
   (अ) समान कीमत पर पहले से कम मात्रा विक्रय करना तथा
   (ब) पहले से ऊँची कीमत पर पूर्ववत (पहले के समान) मात्रा विक्रय करना ।

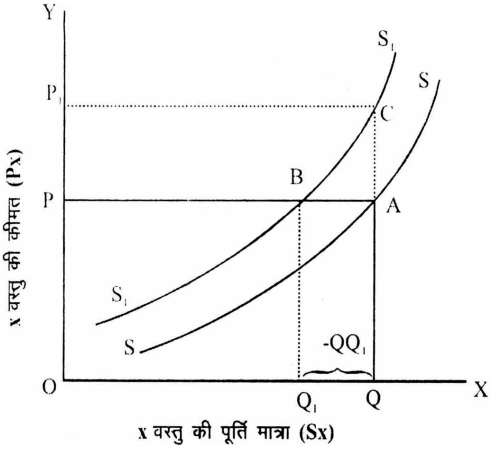

रेखाचित्र संख्या 14 मे SS मूल पूर्ति वक्र है जिसके A बिन्दु पर OP तथा OQ प्रारम्भिक कीमत और मात्रा है पूर्ति में कमी की स्थिति में नया पूर्ति वक्र S_1S_1 है जो मूल वक्र के बाई ओर है, जिसके B बिन्दु पर पूर्ववत कीमत OP पर OQ_1 मात्रा है । इस प्रकार समान कीमत QQ_1 कम विक्रय के लिए प्रस्तावित है जो पूर्ति में कमी का प्रतीक है । इस प्रकार S_1S_1 नया पूर्ति वक्र के C बिन्दु पर OQ मात्रा पहले से ऊची कीमत OP_1 पर विक्रय हेतु प्रस्तुत है, जो कि पूर्ति में कमी का प्रतीक है ।

19.14 सारांश

किसी वस्तु की माँग उसकी वह मात्रा होती है जो किसी निश्चित कीमत पर किसी समय विशेष में क्रय की जायेगी । माँग का संबंध सदैव निश्चित कीमत और समय से होता है । किसी वस्तु की माँग अनेक तत्वों से प्रभावित होती है, जिनमें वस्तु की कीमत, संबंधित वस्तुओं की कीमते, उपभोक्ता की आय तथा उपभोक्ता की रूचि एव पसन्द सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । माँग अनेक प्रकार की होती है । वस्तु की कीमत माँग कीमत प्रभाव को, आय माँग आय प्रभाव को तथा तिरछी माँग तिरछे प्रभाव (स्थानापन्न एव पूरक प्रभाव) को दर्शाती है । व्युत्पन्न माँग उत्पादक वस्तुओं तथा उत्पादन के साधनों की माँग होती है । माँग का नियम, अन्य बातों के समान रहने पर, किसी वस्तु की कीमत और उसकी माँगी जाने वाली मात्रा के बीच ऋणात्मक संबंध को प्रकट करता है अर्थात ऊची कीमत पर कम माँग तथा नीची कीमत पर अधिक माँग होती है । इस नियम के लागू होने के प्रमुख कारण सीमान्त उपयोगिता झरन नियम का प्रभाव, आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव है । कभी कभी माँग का नियम व्यवहार में लागू नहीं होता है, विशेष कर गिफिन वस्तुओं या घटिया वस्तुओं की माँग पर । वस्तु की माँग मात्रा में परिवर्तन और माँग में परिवर्तन पर्यायवाची न होकर एक दूसरे से भिन्न अर्थ रख ते है । माँग मात्रा का परिवर्तन केवल वस्तु की स्वयं की कीमत में परिवर्तन के कारण होता है, जबकि माँग में परिवर्तन वस्तु की कीमत को छोड कर उसकी माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों मे परिवर्तन के कारण होता है । माँग मात्रा मे परिवर्तन माँग का विस्तार

तथा माँग के संकुचन के रूप में होता है, जबकि माँग में परिवर्तन माँग मे वृद्धि तथा माँग के रूप में होता है ।

किसी वस्तु की पूर्ति उसकी वह मात्रा होती है जो एक विक्रेता उसकी एक निश्चित कीमत पर निश्चित समयावधि में बेचने को तैयार है । वस्तु की पूर्ति उसके स्टॉक से भिन्न होती है । स्टॉक एक स्थैतिक प्रवाह धारणा है । वस्तु की पूर्ति उसकी माँग की भाँति अनेक तत्वों से प्रभावित होती है । इसमें वस्तु की कीमत, संबंधित वस्तुओ की कीमतें, उत्पादन के साधनों की कीमतें तथा प्राकृतिक घटक प्रमुख है । पूर्ति का नियम, अन्य बातों के समान रहने पर, किसी वस्तु की कीमत और उसकी बेची जाने वाली मात्रा के बीच धनात्मक संबंध को प्रकट करता है अर्थात ऊँची कीमत पर अधिक पूर्ति और नीची कीमत पर कम पूर्ति होती है । पूर्ति के नियम के लागू होने के प्रमुख कारण है : लाभ मे वृद्धि, उत्पादकों एवं विक्रेताओं की संख्या मे वृद्धि तथा उत्पादन क्षमता के उपयोग में परिवर्तन । पूर्ति का नियम कलात्मक वस्तुओं, नीलामी की वस्तुओं तथा कृषि पदार्थो की पूर्ति पर लागू नही होता है । पूर्ति मात्रा में परिवर्तन और पूर्ति में परिवर्तन समानार्थी न होकर अलग - अलग अर्थ रखते है । पूर्ति मात्रा में परिवर्तन केवल वस्तु की संचय की कीमत में परिर्वतन के कारण होता है, जो पूर्ति में विस्तार तथा पूर्ति में संकुचन के रूप में होता है जबकि पूर्ति में परिवर्तन वस्तु की कीमत को छोड कर उसकी पूर्ति को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों में परिर्वतन होने के कारण होता है । यह पूर्ति में वृद्धि तथा पूर्ति कमी के रूप में होता है ।

19.15 शब्दावली

1. **माँग** (Demand): किसी वस्तु की मांग उसकी वह मात्रा है, तो उसकी एक निश्चित कीमत पर एक समय विशेष में उपभोक्ता क्रय करने को तत्पर है । मांग सदैव निश्चित कीमत और निश्चित समयविधि के सन्दर्भ में ही व्यक्त की जाती है । वस्तु की प्रभावी इच्छा (आवश्यकता) होना, निश्चित कीमत तथा निश्चित समय होना मांग की प्रमुख विशेषताएँ हैं ।
2. **कीमत माँग** (Price demand) : कीमत माँग वस्तु की स्वय ही कीमत गे होने वाले परिवर्तनों का उसकी माँगी जाने वाली मात्रा पर पड़ने वाले प्रभाव को व्यक्त करती है, जिसे कीमत प्रभाव कहते है । यह वस्तु की कीमत और उसकी माँगी जाने वाली मात्रा के बीच ऋणात्मक सम्बन्ध को प्रकट करती है इसलिए कीमत प्रभाव प्राय: ऋणात्मक होता है ।
3. **आय माँग** (Income demand) : आय माँग उपभोक्ता की आय गे होने वाले परिवर्तनो का वरन् विशेष की माँग पर पड़ने वाले प्रभाव को प्रकट करती है, जिसे आय प्रभाव कहते है । श्रेष्ठ वस्तुओं के सम्बन्ध में आय प्रभाव धनात्मक और निकृष्ट वस्तुओं के सम्बन्ध में यह ऋणात्मक होता है ।
4. **तिरछी माँग** (Cross demand) : तिरछी माँग किसी किसी वस्तु विशेष की माँग (DX) उससे सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतों (PR) का पड़ने पड़ने वाले प्रभाव को बताती है, जो प्रभाव कहलाता है । स्थानापन्न वस्तुओं के सम्बन्ध में यह प्रभाव प्रतिस्थापन प्रभाव

कहलाता है, जो सदैव धनात्मक होता है । और पूरक वस्तुओं के सम्बन्ध में यह प्रभाव पूरक प्रभाव कहलाता है, तो सदैव ऋणात्मक होता है ।

5. **युत्पन्न माँग** (Drived demand) : जब किसी वस्तु की माँग उसके प्रत्यक्ष उपयोग के लिए न की जाकर अन्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए की जाती है, तो ऐसी माँग व्युत्पन्न माँग होती है । पूँजीगत वस्तुओं तथा उत्पादन के साधनों की माँग इसके ज्वलन्त उदाहरण है ।
6. **सामूहिक मिश्रित माँग** (Composite demond) : किसी वस्तु के सभी प्रयोगो में की गयी उसकी कुल माँग को सामूहिक माँग कहते हैं । हमारे घरों में बिजली और पानी की कुल माँग इसका सुन्दर उदाहरण है ।
7. **संयुक्त माँग** (Joint demand) : जब एक आवश्यकता की पूर्ति हेतु दो या दो से अधिक वस्तुओं की माँग एक साथ की जाती हैं, तो संयुक्त माँग कहलाती है । पूरक वस्तुओ की माँग इसका सुन्दर उदाहरण है ।
8. **माँग का नियम** (Law of demand) : यह नियम किसी वस्तु की कीमत और उसकी माँग-मात्रा के बीच, अन्य बातों के समान रहने पर, पाये जाने वाले विपरित सम्बन्ध को प्रकट करता है और बताता है कि उँची कीमतो पर कम माँग तथा निची कीमतों पर अधिक माँग की जाती है । यह एक गुणात्मक कथन होता है, न कि परिणात्मक ।
9. **प्रतिष्ठासूचक वस्तुएँ** (Prestigires Goods) ये वे वस्तुएँ होती है जिनकी माँग ऊँची कीमत पर अधिक होती है, जैसे बेशकीमती हीरे जवाहरात, दुर्लभ कलाकृतियाँ आदि । इन वस्तुओं पर माँग का नियम लागू नहीं होता हैं।
10. **गिफिन वस्तुएँ** (Giffin goods) : ये वे घटिया वस्तुएँ होती है जिन पर उपभोक्ता अपनी आय का अपेक्षाकृत बडा भाग खर्च करता है, जैसे मोटा कपडा तथा मोटा अनाज । इनका आय प्रभाव ऋणात्मक होता है अर्थात आय बढ़ने पर इनकी माँग घट जाती है । माँग का नियम इन वस्तुओ पर लागू नही होता है । सभी गिफिन वस्तुएँ घटिया वस्तुएँ है, किन्तु सभी घटिया वस्तुएँ गिफिन वस्तुएँ नही होती है ।
11. **स्थानापन्न वस्तुएँ** (Subsitute goods): ये वे वस्तुएँ है जिन्हे एक आवश्यकता के पूर्ति हेतु एक दूसरे के स्थान पर काम लिया जा सकता है । इन्हे प्रतियोगी वस्तुएँ भी कहा जाता है । चाय व कॉफी, पेपनी व कोला इसके उदाहरण है ।
12. **पूरक वस्तुएँ** (Complementry goods): ये वे वस्तुएँ होती है जिन्हे एक आवश्यकता की पूर्ति हेतु चाय, चीनी व दूध की माँग एक साथ की जाती है ।
13. **श्रेष्ठ वस्तुएँ** (Superior Goods) : ये वे वस्तुएँ है जिनकी माँग उपभोक्ता की आय कें वृद्धि के साथ बढ़ती जाती है । इन वस्तुओं का आय प्रभाव धनात्मक होता है ।
14. **माँग मात्रा में परिवर्तत** (Change in quality demand) : किसी वस्तु की क्रय की जाने वाली मात्रा में होने वाले वे परिवर्तन माँग मात्रा में परिवर्तन कहलाते है, जो वस्तु की कीमतो मे होने वाले परिवर्तनों के परिणामस्वरूप फलित होते है, यदि माँग को प्रभावित

करने वाले अन्य तत्व स्थिर रहें तो माँग मात्रा के परिवर्तन माँग का विस्तार और माँग के संकुचन के रूप में होते है । ऐसी स्थिति में माँग वक्र अपरिवर्तित रहता है ।

15. **माँग का विस्तार** (Expansion of demand) : वस्तु की कीमत में कमी होने के कारण उसकी क्रय की जाने वाली मात्रा मे होने वाली वृद्धि ही माँग का विस्तार कहलाती है ।
16. **माँग का संकुचन** (Contraction of demand) : वस्तु की कीमत में वृद्धि होने के कारण की क्रय की जाने वाली मात्रा में होने वाली कमी को माँग का संकुचन कहते है ।
17. **माँग में परिवर्तन** (Change in demand) : जब किसी वस्तु की क्रय की जाने वाली मात्रा में होने वाला परिवर्तन उसकी स्वयं की कीमत के अलावा अन्य तत्वों के कारण होता है, तो वह माँग में परिवर्तन कहलाता है । वस्तुत: यह माँग की दशाओं में परिवर्तन के कारण होता है । यह माँग में वृद्धि तथा माँग में कमी के रूप में होता है । ऐसी स्थिति मे माँग वक्र बदल जाता है ।
18. **माँग में वृद्धि** (Increase in demand): जब वस्तु की समान कीमत पर पहले से अधिक मात्रा क्रय की जाती है अथवा पहले से ऊँची कीमत पर पूर्ववत मात्रा क्रय की जाती है तो ये दोनो स्थितियाँ माँग गे वृद्धि कहलाती है । माँग में वृद्धि होने पर नया माँग वक्र मूल माँग के दाहिनी ओर स्थित होता है ।
19. **माँग में कमी** (Decrease in demand) : जब वस्तु की समान कीमत पर पहले से कम मात्रा क्रय की जाती है अथवा पहले से कम कीमत पर पूर्ववत मात्रा क्रय की जाती है, तो ये दोनो स्थितियाँ माँग गे कमी का प्रतीक है । माँग में कमी होने पर नया माँग वक्र मूल माँग वक्र के बायी ओर खिसक जाता है ।
20. **पूर्ति** (Supply) : किसी वस्तु की पूर्ति उसकी वह मात्रा होती है जो एक विक्रता उसकी एक निश्चित कीमत पर निश्चित समायावधि में बेचने को तत्पर है । यह एक प्रवाह अवधारणा है संबंध निश्चित कीमत एवं समय से होता है!
21. **स्टॉक** (Stock): स्टॉक किसी वस्तु की वह कुल मात्रा होती है, जो किसी समय बिन्दु पर उपलब्ध है । यह एक स्टॉक अवधारणा है । पूर्ति स्टॉक का ही एक भाग होती है ।
22. **पूर्ति का नियम** (Law of demand) : अन्य बातो के समान रहने पर पूर्ति का नियम हमे यह बताता है कि किसी वस्तु की कीमत और उसकी बेची जाने वाली मात्रा के बीच प्रत्यक्ष संबंध पाया जाता है अर्थात् ऊँची कीमत पर अधिक पूर्ति और नीची कीमत पर कम पूर्ति होती है । यह एक गुणात्मक कथन होता है, न कि परिणात्मक ।
23. **पूर्ति मात्रा में परिवर्तन** (Change in quantity supplied) : किसी वस्तु की बेची जाने वाली मात्रा के परिवर्तन जब केवल उसकी स्वयं की कीमतों में परिवर्तन के कारण होते है, तो इन्हे पूर्ति मात्रा में परिवर्तन कहते है । यह विस्तार औंर संकुचन के रूप में एक ही पूर्ति वक्र पर होता है ।
24. **पूर्ति में विस्तार** (Expansion in supply) : वस्तु की कीमत में वृद्धि के कारण उसकी बेची जाने वाली मात्रा में होने वाली वृद्धि को पूर्ति में विस्तार कहते है ।

25. **पूर्ति मे संकुचन** (Contraction in supply) : वस्तु की कीमत में कमी के कारण उसकी बेची जाने वाली मात्रा में होने वाली वृद्धि को पूर्ति में विस्तार कहते है ।
26. **पूर्ति में परिवर्तन** (Change in supply) : यदि वस्तु की बेची जाने वाली मात्रा में होने वाला परिवर्तन उसकी कीमत के अलावा अन्य तत्वों में परिवर्तन के कारण होता है, तो इसे परिर्वतन कहते है । यह पूर्ति में वृद्धि व कमी के रूप में होता है और ऐसी स्थिति में पूर्ति वक्र बदल जाता है ।
27. **पूर्ति में वृद्धि** (Increase in supply) : वस्तु की समान कीमत पर पहले से अधिक मात्रा का विक्रय कना अथवा पहले से कम कीमत पर पहले के बराबर मात्रा का विक्रय करना पूर्ति में वृद्धि कहलाता है । ऐसी स्थिति में पूर्ति वक्र दाहिनी ओर खिसक जाता है ।
28. **पूर्ति में कमी** (Decrease in supply) : वस्तु की समान कीमत पर पहले से कम मात्रा का विक्रय किया जाना अथवा पहले से ऊँची कीमत पर पहले के समान मात्रा का विक्रय जाना पूर्ति में कमी कहलाता है । ऐसी स्थिति में नया पूर्ति वक्र मूल पूर्ति वक्र के बायी ओर स्थिति होता है ।

19.16 स्वरूप प्रश्न (Self examined questions)

1. माँग से आप क्या समझते है? किसी वस्तु की माँग को प्रभावित करने वाले तत्वों का वर्णन कीजिए ।
2. माँग का नियम क्या है? इसके क्रियाशील होने के कारणों पर प्रकाश डालिए ।
3. माँग मात्रा मे परिवर्तन और माँग में परिवर्तन में अन्तर कीजिए ।
4. माँग वक्र का ढ़ाल ऋणात्मक क्यों होता है ?
5. पूर्ति से आपका क्या आशय है? किसी वस्तु की पूर्ति किन -किन तत्वो से प्रभावित होती है ?
6. पूर्ति के नियम को समझाइए और बताइए कि यह क्यों लागू होता है '
7. पूर्ति मात्रा में परिवर्तन और पूर्ति मे परिवर्तन गे अन्तर स्पष्ट कीजिए ।
8. संक्षिप्त टिप्पणीयाँ लिखिए
   (i) माँग का विस्तार एवं माँग में वृद्धि
   (ii) माँग का संकुचन एवं माँग में कमी
   (iii) पूर्ति में विस्तार एवं पूर्ति में वृद्धि
   (iv) पूर्ति में संकुचन एवं पूर्ति में कमी
   (v) आय माँग
   (vi) तिरछी माँग
   (vii) व्युत्पन्न माँग
   (viii) माँग के नियम के अपवाद

19.17 उपयोगी पुस्तकें :

1. व्यष्टि अर्थशास्त्र, एन.डी.माथुर व ओ.पी गुप्ता (शिवम् बुक हाउस प्राइवेट लिमिटेड) जयपुर।
2. व्यावसायिक अर्थशास्त्र, अग्रवाल, अग्रवाल व गुप्ता (रमेश बुक डिपो), जयपुर।
3. व्यावसायिक अर्थशास्त्र, बी.पी गुप्ता (नेशनल पब्लिशिग हाउस), जयपुर।
4. व्यावसायकि अर्थशास्त्र, एन.डी. माथुर व आभा मोहन (शिवम बुक हाउस), जयपुर।

इकाई 20 अन्य आर्थिक अवधारणाएं

इकाई की रूपरेखा :-

20.1 उद्देश्य

20.2 प्रस्तावना

20.3 प्रमुख आर्थिक शब्दावली / अवधारणाएँ

(i) दुर्लभता

(ii) आर्थिक प्रणाली / संगठन

(iii) स्टॉक व प्रवाह की अवधारणा

(iv) बाजार

(v) मूल्य और कीमत

(vi) उपभोक्ता एवं उत्पादक वस्तुएँ

(vii) मौद्रिक आय एवं वास्तविक आय

(viii) लागत एवं आगम

(ix) साम्यां /संतुलन की अवधारणा

(x) धन, पूँजी व आय

(xi) राष्ट्रीय आय, खर्च योग्य आय तथा प्रति व्यक्ति आय

(xii) मुद्रा स्फीति और मुद्रा संकुचन

20.4 स्वपरख प्रश्न

20.5 उपयोगी पुस्तकें

20.1 उद्देश्य (objective)

इस इकाई के अध्ययन से आप अर्थशास्त्र, वाणिज्य तथा व्यावहारिक आर्थिक जगत में बहुधा प्रचलित आर्थिक शब्दावली का ज्ञान प्राप्त करं सकेंगे।

20.2 प्रस्तावना (Introduction)

वास्तव में देखा जाये तो किसी विषय की प्रमुख शब्दावली के ज्ञान के अभाव में उस विषय को ठीक ढंग से नही समझा जा सकता है। यही बात अर्थशास्त्र एवं वाणिज्य विषय के बारे में भी शत-प्रतिशत सही है। इस इकाई में आप सामान्य रूप से प्रचलित प्रमुख आर्थिक शब्दावली का अध्ययन करेंगे जिससे आप अपने विषय वाणिज्य तथा अर्थव्यवस्था एव आर्थिक जीवन के बारे में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ज्ञान ठीक से प्राप्त कर सके ताकि किसी प्रकार की भ्रान्ति और सन्देह न रहे। प्राय: यह कहा जाता है कि नीम हकीम खतरे जान जिसका आशय है कि ज्ञान अज्ञान से कही अधिक खतरनाक होता है।

20.3 प्रमुख आर्थिक शब्दावली (Main Economic Glossary)

(i) दुर्लभता (Scarcity)

दुर्लभता एक सापेक्षिक अवधारणा है न कि निरपेक्ष, आपने प्राय: लोगों को यह कहते सुना होगा कि मानवीय आवश्यकताओं को संतुष्ट करने वाले साधन सीमित है। यहाँ इसका यह आशय है कि मानवीय आवश्यकताओं की तुलना में साधन कम हैं। यदि हम दूसरे शब्दों में कहें, तो साधनों की उपलब्धि उनकी माँग की तुलना में कम है। इसलिए साधनों की सीमितता निरपेक्ष न होकर सापेक्षिक होती है। उदाहरण के लिए, हमारे देश में अरबों-खरबों रूपये की पूँजी होने के बावजूद भी यह माँग से कम है। अत: यह सीमित है। इसके विपरीत थोडे रो खराब पड़े फल अथवा सब्जी सीमित नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनकी कोई माँग नहीं होती है। इसलिए साधनों को तभी सीमित माना जा सकता है जब उनकी पूर्ति उनकी माँग से कम हो। इसे सूत्र रूप में इस प्रकार लिखा जा सकता है : **S < D**

यहाँ, **S** पूर्ति है और **D** माँग है। इसलिए किसी वस्तु अथवा साधन की सीमितता की जानकारी उसकी पूर्ति की तुलना माँग रो करके ही की जा सकती है। रोबिन्स ने अर्थशास्त्र की अपनी दुर्लभता प्रधान परिभाषा में साधनों की सीमितता को मानवीय आवश्यकताओं के सन्दर्भ में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि समस्त आर्थिक समस्याओं की जड़ दुर्लभता है। यह बात एक हद तक सत्य भी है। भारत सरीखे विकासशील देशों के सामने उनकी विकास की जरूरतों के सन्दर्भ में पूँजी की पूर्ति उसकी माँग की तुलना में कहीं कम है। इसलिए हमें विवश होकर विदेशी पूँजी पर निर्भर रहना पड रहा है और साथ ही में हम पूँजी की सीमितता के कारण तेजी से विकास नहीं कर पा रहे हैं । साधनों की सीमितता की समस्या यत्र, तत्र, सर्वत्र विद्यमान है । ही, यह कही कम तो कही अधिक हो सकती है, जैसे अमरीका में पूँजी की सीमितता की समस्या कम है, तो भारत में कही अधिक है । साधनों की सीमितता के कारण ही साधनों के विकास तथा इनके अनुकूलतम प्रयोग मितव्ययी प्रयोग की आवश्यकता है । रोबिन्स चयन की समस्या को ही आर्थिक समस्या मानते है । साधनों की सीमितता के कारण ही समस्त आवश्यकताओं को पूरा करना संभव नहीं है इसलिए प्राथमिकताओं का निर्धारण करना आवश्यक है।

(ii) आर्थिक प्रणाली संगठन (Economic System)

आर्थिक प्रणाली की साधारण बोलचाल की भाषा में अर्थव्यवस्था अथवा आर्थिक संगठन भी कहा जाता है । आर्थिक प्रणाली उस व्यवस्था अथवा संगठन को कहते है जो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उत्पादन के विभिन्न साधनों (भूमि, श्रम, पूँजी, संगठन व साहस) के मितव्ययी और सर्वश्रेष्ठ उपयोग हेतु निर्मित की जाती -है। आर्थिक प्रणाली द्वारा ही समाज अपनी अधिक से अधिक आवश्यकताओं को सीमित साधनों के बेहतर प्रयोग द्वारा संतुष्ट करने के लिए प्रयत्नरत रहता है । इसके लिए अनेक **आर्थिक संस्थाओं** का गठन किया जाता है । **ग्रेगोरी ग्रोसमेन** (Gregory Grossman) ने **आर्थिक प्रणाली को आर्थिक संस्थाओं का समूह माना है।** विभिन्न अर्थशास्त्री अपने-अपने तरीके से आर्थिक प्रणाली को पारिभाषित करते है। **बोल्डिंग** के मतानुसार, ' 'जब किसी संगठन का आर्थिक उद्देश्य वस्तुओं का उत्पादन, उपभोग व विनिमय करना होता है, तो हम उसे आर्थिक संगठन कह सकते हैं। ' रिचार्ड लिप्से अर्थव्यवस्था को बाजार व गैर-बाजार उत्पादक क्रिया का एक परस्पर निर्भर समूह मानते है।

प्रो. हिक्स ने आर्थिक प्रणाली को दो अलग-अलग विधियों के रूप में स्पष्ट किया है। उनके अनुसार "एक तरफ हम इसे उपभोक्ता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादकों के परस्पर सहयोग के रूप में देख सकते हैं और दूसरी तरफ, यह स्मरण रखते हुए कि उत्पादक एवं उपभोक्ता बहुत कुछ एक से ही व्यक्ति होते हैं हम इसे पारस्परिक विनिमय के रूप में देख सकते हैं।"

विभिन्न अर्थशास्त्रियों के आर्थिक प्रणाली के बारे में प्रकट किये गये विचारों का अध्ययन करने के पश्चात हम यह कह सकते हैं कि आर्थिक प्रणाली एक ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा व्यक्ति तथा समाज विभिन्न आर्थिक क्रियाओं को आर्थिक संस्थाओं के माध्यम से सम्पादित कर सीमित साधनों के प्रयोग द्वारा अपनी अधिक से अधिक आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास करता है। **ब्राउन** का यह मानना है कि जिस प्रकार जीवित प्राणियों में भोजन करने, पचाने व बढ़ने की प्रक्रिया देखने को मिलती है, ठीक उसी प्रकार अर्थव्यवस्था में उत्पादन, उपभोग, विनिमय व विकास की प्रक्रिया पायी जाती है । एक अर्थव्यवस्था में निम्नांकित विशेषताएँ पायी जाती है :

1. **मौद्रिक प्रणाली** एक अर्थव्यवस्था का केन्द्रीय लक्षण होती है। मुद्रा का प्रवाह आर्थिक क्रिया के स्तर को प्रभावित करता है। सामान्यता मुद्रा का प्रवाह कम होने पर आर्थिक क्रियाओं का स्तर नीचा तथा अधिक होने पर आर्थिक क्रियाओं का स्तर ऊँचा होता है।
2. आर्थिक क्रियाओं का स्तर बदलता रहता है अर्थात् कभी आर्थिक क्रियाओं में तेजी, तो कमी मन्दी आती रहती है, जो अपने आप में एक बड़ी आर्थिक समस्या है। आर्थिक क्रियाओं में तेजी व मन्दी से व्यापार चक्र आते हैं।
3. अर्थव्यवस्था विकास की ओर निरन्तर बढ़ती रहती है । इसके लिए अर्थव्यवस्था में उत्पादन के एक भाग को बचाकर उत्पादन वृद्धि हेतु प्रयोग किया जाता है, जो विनियोग कहलाता है। विकास प्रक्रिया के दौरान अर्थव्यवस्था में कई संरचनात्मक परिवर्तन होते रहते हैं, जैसे अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्व घटने लगता है तथा उद्योग और सेवा क्षेत्र का महत्व बढने लगता है। जैसा वर्तमान में भारत में परिलक्षित हो रहा हैं।
4. अर्थव्यवस्था की मुख्य प्रक्रियाओं (Vital Process) में उत्पादन, उपभोग व विनिमय वितरण व राजस्व प्रक्रियाएँ आती हैं । ये प्रक्रियाएँ परस्पर एक दूसरे पर निर्भर करती हैं।

आर्थिक प्रणाली / अर्थव्यवस्था कई प्रकार की होती है जिनमें मुख्य रूप रो पूँजीवादी, समाजवादी व मिश्रित अर्थव्यवस्था महत्त्वपूर्ण हैं। हम यहाँ इनके बारे में संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करेगें।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था (Capitalism) : पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एक ऐसी अर्थव्यस्था है जिसमे उत्पादन के साधनों का स्वामित्व और नियंत्रण मुख्य रूप से निजी व्यक्तियों तथा संस्थाओं के हाथों मे होता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एक **स्वतंत्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था** होती है क्योंकि इसके अन्तर्गत उपभोक्ता **'बादशाह** होता है क्योंकि उसके मुद्रा रूपी वोट से ही अर्थव्यवस्था संचालित एवं निर्देशित होती है। यह अर्थव्यवस्था पूरी तरह बाजार तंत्र अथवा कीमत तंत्र पर टिकी हुई होती है इसलिए इसे **स्वचालित अर्थव्यवस्था** कहा जाता है। इसकी **प्रमुख विशेषताएँ** निम्नलिखित हैं :

1. उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व और नियंत्रण निजी क्षेत्र के हाथों में होता है।
2. स्वतंत्र बाजार तंत्र इस अर्थव्यवस्था का आधार स्तम्भ होता है। सरकार आर्थिक क्रियाओं में कोई हस्तक्षेप नहीं करती अथवा न्यूनतम हस्तक्षेप करती है।
3. पूँजीवाद का उद्देश्य निजी लाभ को अधिकतम करना होता है।
4. इसमें आर्थिक नियोजन का अभाव होता है और बिना किसी चालक के संचालित होने के कारण यह स्वचालित अर्थव्यवस्था कहलाती है।
5. उपभोक्ता बाजार का राजा होता है क्योंकि इसके इशारे पर ही अर्थव्यवस्था की दशा और दिशा निर्भर करती है।
6. इसमें उद्यम की पूर्ण स्वतंत्रा होती है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था (Socialism) : यह एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है जिसमें उत्पादन के अधिकांश साधनों पर समाज अथवा सरकार का नियंत्रण एवं अधिकार होता है। यह पूर्णतया सरकार द्वारा निर्देशित एवं नियंत्रित अर्थव्यवस्था होती है। इसमें कीमत तंत्र को आर्थिक नियोजन के अधिकतम सामाजिक लाभ के उद्देश्य की पूर्ति हेतु बाधित या नियंत्रित किया जाता है । समाजवाद की कुछ **प्रमुख विशेषताएँ** अग्रांकित हैं :

1. उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व एवं नियंत्रण समाज अथवा सरकार (सार्वजनिक क्षेत्र) के हाथों में होता है।
2. अर्थव्यवस्था के विकास हेतु बाजार तंत्र के स्थान पर नियोजन तंत्र प्रभावी होता है । केन्द्रीय नियोजन पद्धति इस अर्थव्यवस्था का प्राण होती है।
3. समाजवाद का उद्देश्य अधिकतम सामाजिक कल्याण (बहुजन हिताय बहुजन सुखाय) करना होता है।
4. समाजवाद में आर्थिक समानता लाने के लिए आय एवं धन के न्यायोचित वितरण को प्राथमिकता दी जाती है।
5. समाजवाद में उद्यम की स्वतंत्रता नहीं होती है और न ही उपभोक्ता बादशाह होता है।
6. भारी उद्योगों व सुरक्षा उद्योगों के विकास पर अधिक बल दिया जाता है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) मिश्रित अर्थव्यवस्था उस अर्थव्यवस्था को कहते हैं जिसमें निजी क्षेत्र (पूँजीवाद) और सार्वजनिक क्षेत्र (समाजवाद) का मिश्रण होता है। इस अर्थव्यवस्था में सरकार और 'निजी उद्यमी दोनों मिलकर आर्थिक विकास के रथ को आगे खींचने का समन्वित प्रयास करते हैं। **प्रो. ए. एम. खुसरो** के शब्दों में, ' 'एक मिश्रित अर्थव्यवस्था' दो महत्त्वपूर्ण. रूपों में मिश्रित होती है (i) इसमें उत्पादन के सार्वजनिक व निजी साधनों (पूँजी व श्रम) का मिश्रण होता है, तथा (ii) इसमें वस्तुओं व सेवाओ के स्वतंत्र बाजौरों व नियंत्रित बाजारों का मिश्रण होता है ।" प्रो. खुसरो की परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र का मिला-जुला स्वामित्व एवं नियंत्रण होने के साथ-साथ वस्तुओ व सेवाओं के बाजार का भी मिश्रित स्वरूप होता है। मिश्रित अर्थव्यवस्था गे एक तरफ स्वतंत्र बाजार होता है जिसमें 'माँग और पूर्ति की शक्तियाँ स्वतंत्र रूप से कार्य करती हैं, तो -दूसरी तरफ नियंत्रित बाजार होता है जहाँ -सरकारी हस्तक्षेप के कारण मूल्य नियंत्रण व राशनिंग आदि की व्यवस्था। होती है। भारतीय अर्थव्यवस्था

मिश्रित अर्थव्यवस्था का एक जीता-जागता उदाहरण है। एक मिश्रित अर्थव्यवस्था में निम्नांकित **प्रमुख विशेषताएँ** पायी जाती हैं

1. उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व एवं सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र दोनों के हाथों में संयुक्त रूप से होता है। सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र की प्रमुख सहभागिता के साथ-साथ इस अर्थव्यवस्था में सहकारी क्षेत्र और संयुक्त क्षेत्र भी विद्यमान होता है। इस प्रकार यह बार क्षेत्रों के मिश्रण से श्री अर्थव्यवस्था होती है।
2. मिश्रित अर्थव्यवस्था दोहरे बाजार की अर्थव्यवस्था होती है। इसमें एक तरफ स्वतंत्र बाजार होता है, तो दूसरी तरफ सरकार द्वारा निर्देशित-नियंत्रित बाजार होता है।
3. यह एक लचीली अर्थव्यवस्था होती है जिसमें आर्थिक नियोजन भी -हो सकता है, जैसा कि भारतीय अर्थव्यवस्था में है। यह देश काल एव परिस्थितियो के अनुसार अपने झुकाव में बदलाव लाती रहती है। वर्तमान में आर्थिक सुधारो के कारण भारतीय मिश्रित अर्थव्यवस्था का झुकाव पूँजीवाद व निजीकरण की तरफ है।
4. इसमें मूल्य तंत्र तथा नियोजन तंत्र एक साथ काम कर सकते हैं।
5. निजी क्षेत्र को सरकार की समग्र आर्थिक नीतियों के ढाँचे में रहकर -कार्य करने की स्वतंत्रता होती है। सरकार औद्योगिक एवं लाइसेंस नीति के द्वारा निजी क्षेत्र पर नियंत्रण रखकर उसका दिशा नियंत्रण करती है। अनेक बार सरकार भौतिक नियंत्रणों का भी सहारा लेती है।

(iii) स्टॉक व प्रवाह की अवधारणा (Stock and Flow Concept)

अर्थशास्त्र (विशेषकर समष्टि अर्थशास्त्र) में स्टॉक व प्रवाह की अवधारणा का काफी प्रयोग -होता है। स्टॉक व प्रवाह दोनों चल राशियाँ **(variable)** होती हैं और इनमें घटत-बढत हो सकती है। **एडवर्ड शेपीरो** के अनुसार, "इन दोनों में अन्तर यह है कि स्टॉक वह मात्रा होती है जो समय के एक विशिष्ट बिन्दु **(Specified point of time)**पर मापी जाती है, जबकि प्रवाह वह मात्रा होती है जो एक विशिष्ट समयावधि **(A specified Period of time)** के रूप में ही मापी जाती है।

एक उदाहरण के द्वारा हम स्टॉक व प्रवाह की अवधारणा के अन्तर को समझ सकते हैं। स्टॉक की अवधारणा एक झील में किसी समय के बिन्दु पर पानी की कुल मात्रा को प्रकट करती है। यद्यपि इन दोनों का अपना-अपना महत्त्व है, लेकिन दोनों अवधारणाएँ एक दूसरे से भिन्न हैं।

स्टॉक से जुडी कुछ प्रमुख अवधारणाओं के उदाहरण निम्नांकित हैं देश की कुल जनसंख्या, पूँजी भण्डार, मुद्रा की मात्रा, विदेशी मुद्राकोषों की मात्रा, कुल श्रमशक्ति, रोजगार प्राप्त व्यक्तियों की कुल संख्या आदि। इन सबको एक निश्चित समय बिन्दु के आधार पर मापा व बताया जाता है। प्रवाह सम्बन्धी कुछ प्रचलित अवधारणाओं के उदाहरण इस प्रकार हैं राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय बचत, राष्ट्रीय विनियोग, निर्यात व आयात की मात्राएँ, व्यापार घाटे की राशि, श्रमशक्ति में वार्षिक वृद्धि, रोजगार में वार्षिक वृद्धि बेरोजगारी में वृद्धि, बजट घाटे की राशि आदि। इन सबको एक निश्चित समयावधि के आधार पर मापा व बताया जाता है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि बचतें (Saving) स्टॉक अवधारणा है और बचत (Saving)एक प्रवाह अवधारणा है। इसी प्रकार वर्ष के अन्त में कर्ज की बकाया राशि स्टॉक अवधारणा है और वर्ष के दौरान कर्ज में होने वाली वृद्धि एक प्रवाह अवधारणा है। मुद्रा स्टॉक व मुद्रा प्रवाह कीं अवधारणा का अन्तर भी इनके अन्तर को समझने में सहायक हो सकता है। किसी एक समय बिन्दु पर अर्थव्यवस्था में चलन की जो मात्रा होती है, उसे मुद्रा स्टॉक कहते हैं, जबकि एक निश्चित समयावधि में कुल मुद्रा की पूर्ति प्रवाह के बराबर होती है जिसे मुद्रा स्टॉक के चलन वेग (Velocity of money) गुणा करके ज्ञात किया जाता है।"

(iv) बाजार (Market)

साधारण बोलचाल की भाषा में बाजार किसी वस्तु के क्रेताओं और विक्रेताओं का सम्पर्क स्थल होता है, किन्तु अर्थशास्त्र में बाजार की आशय किसी स्थान विशेष से नही होता है । अर्थशास्त्र में बाजार का आशय उस समस्त क्षेत्र से है जिसमें किसी वस्तु के क्रेता एव विक्रेता फैले हुए हो तथा उनके बीच स्वतंत्र सम्पर्क और प्रत्यक्ष प्रतिस्पर्धा होती हो। कुर्नो (Cournot) के शब्दों में "अर्थशास्त्री बाजार शब्द का अर्थ किसी स्थान विशेष से नहीं लेते है जहाँ पर कि वस्तुएँ क्रय-विक्रय की जाती हैं, बल्कि इसका अर्थ उस समस्त क्षेत्र से लेते हैं जिसमें क्रेताओं व विक्रेताओं के मध्य इस प्रकार कप स्वतंत्र सम्पर्क होता है कि एक वस्तु की कीमत की प्रवृत्ति सुगमता से तथा शीघ्रता से समान होने की पायी जाती है।

बाजार के तत्व / अंग (Components of Market): बाजार के तत्त्व अथवा विशेषताएँ निम्नलिखित है :

1. **क्षेत्र** (Area) बाजार कोई स्थान विशेष न होकर एक ऐसा समरस क्षेत्र है जिसमें वस्तु के क्रेता एव विक्रेता समान रूप से फैले रहते हैं । **स्टोनियर व हेग** इसे लेन-देन का जालसूत्र मानते है।
2. **एक वस्तु** (One Community): बाजार में किसी वस्तु विशेष का क्रय-विक्रय किया जाता है इसलिए एक वस्तु का होना आवश्यक है, जैसे कपड़े का व्यापार।
3. **क्रेता एवं विक्रेता** (Buyers & Sellers Buyers & Sellers) : बिना क्रेता व विक्रेता के बाजार की कल्पना तक नहीं की जा सकती, इसलिए इनका बाजार में होना आवश्यक है।
4. **प्रतियोगिता** (Competition) : बाजार में क्रेताओं औंर विक्रेताओं के बीच प्रतिस्पर्धा चलती है जिसमें वस्तु की कीमत एक समान होने की प्रवृत्ति रहती है।
5. **कीमत** (Price): कीमत बाजार का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। बाजार में परस्पर प्रतियोगिता के आधार पर कीमत का निर्धारण होता है और उसी पर वस्तु का क्रय-विक्रय होता है। बाजार कीमत का निर्धारण बाजार मांग व पूर्ति की शक्तियों के आधार पर होता है। बाजार का वर्गीकरण कई आधार पर किया जाता हैं जो इस प्रकार है

(A) क्षेत्र के आधार पर : स्थानीय बाजार, क्षेत्रीय बाजार, राष्ट्रीय बाजार तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजार।

(B) कार्य के आधार पर : मिश्रित बाजार, विशिष्ट बाजार, प्रतिदर्शी बाजार तथा श्रेणी बाजार।

(C) प्रतियोगिता के आधार पर : पूर्ण प्रतिस्पर्धी बाजार, अपूर्ण प्रतिस्पर्धी बाजार तथा एकाधिकारी बाजार।

(D) समय के आधार पर : अति अल्पकालीन बाजार, अल्पकालीन बाजार, दीर्घकालीन बाजार तथा अति दीर्घकालीन बाजार।

(v) मूल्य और कीमत (Value and Price)

किसी वस्तु की विनिमय शक्ति **(Exchange Power)** ही उसका मूल्य होता है। दूसरे शब्दों में, एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु की जितनी इकाइयाँ प्राप्त हो सकती हैं, वही पहली वस्तु का दूसरी वस्तु के सन्दर्भ में मूल्य है। उदाहरण के लिए, एक पेन के बदले चार पेंसिल प्राप्त होती हैं, तो पेन का मूल्य चार पेंसिल के बराबर होगा । किसी वस्तु का मूल्य ही इस बात का निर्धारण करेगा कि वह दूसरी वस्तु के सन्दर्भ में कितनी महत्त्वपूर्ण है? यदि किसी वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु के सन्दर्भ में मूल्य है। उदाहरण के लिए एक पेन के बदले चार पेंसिल प्राप्त होती हैं, तो पेन का मूल्य चार ऐसिल के बराबर होगा। किसी वस्तु का मूल्य ही इस बात का निर्धारण करेगा कि वह दूसरी वस्तु के सन्दर्भ में कितनी महत्त्वपूर्ण है ' यदि किसी वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु के सन्दर्भ में अधिक है, तो वह अधिक महत्त्वपूर्ण है और विलोमश: कम महत्त्वपूर्ण होगी।

जब किसी वस्तु के मूल्य को मुद्रा के रूप में व्यक्त किया जाता है, तो यह कीमत कहलाती है। सरल शब्दों में किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए एक व्यक्ति को जितनी मुद्रा खर्च करनी पडती है, यही उस वस्तु की कीमत है । उदाहरण के लिए, एक पेन को खरीदने के लिए 20 रू. -खर्च करने पड़ते हैं, तो पेन की कीमत 20 रु. होगी । एक ही वस्तु की कीमत भिन्न-भिन्न मुद्राओं में भिन्न-भिन्न होती है।

मूल्य और कीमत में मोटा अन्तर इतना ही है कि मूल्य एक व्यापक अवधारणा है, जबकि कीमत एक विशिष्ट अवधारणा है। मूल्य वस्तुओं तथा मुद्रा दोनों में प्रकट किया जा सक्ता है, जबकि कीमत केवलं मुद्रा में ही प्रकट की जा सकती है। किसी वस्तु की कीमत का निर्धारण उसकी माँग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों के द्वारा निर्धारित होता है।

(vi) उपभोक्ता एवं उत्पादक वस्तुएँ (Consumers and Capital Goods)

उपभोक्ता वस्तुएँ वे वस्तुएँ होती हैं जो मानवीय आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष संतुष्टि करती हैं और इसलिए ही उपभोक्ता उन्हें क्रय करते हैं । उदाहरण के लिए सूती वस्त्र, चीनी, चाय, दूध, आइसक्रीम आदि । किसी भी देश का आर्थिक कल्याण वर्तमान में उत्पादित उपभोक्ता वस्तुओं की संख्या, मात्रा व किस्म पर निर्भर करता है । इस वस्तुओं के उपभोग से मनुष्य को संतुष्टि प्राप्त होती है और इनकी प्रयोग की जाने वाली मात्रा ओर -गुणवता उसके जीवन-रत्तर का निर्धाद्य। करती है । दीर्धकाल में इन वस्तुओं का अधिक उत्पादन करना प्रत्येक प्रकार की अर्थव्यवस्था का लक्ष्य होता है ।

पूँजीगत वस्तुओं को उत्पादक वस्तुएँ (Producers Goods) भी कहा जाता है। ये वे वस्तुऐ होती हैं जिन्हें उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन हेतु प्रयुक्त किया जाता है, जैसे सूती वस्त्र निर्माण हेतु के पास का प्रयोग अथवा रखी वस्त्र निर्माण हेतु सूती वस्त्र बनाने वाली मशीनों का प्रयोग।

इन वस्तुओं में मुख्य रूप से कच्चा माल, अर्द्धनिर्मित गाल तथा मशीनों को सम्मीलित किया जाता है। किसी भी देश का भविष्य आर्थिक विकास और आर्थिक कल्याण का स्तर वर्तमान में पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन की संख्या, मात्रा व गुणवत्ता पर निर्भर करता है ।

कोई वस्तु उपभोग वस्तु है अथवा उत्पादक, यह इस बात पर निर्भर करता है। कि उसका प्रयोग किरन उद्देश्य से किया जा रहा है ? यदि उसके प्रयोग का उद्देश्य मानवीय आवश्यकता की प्रत्यक्ष सन्तुष्टि करना है, तो वह उपभोक्ता वस्तु है और यदि उसके प्रयोग का उदेश्य उभोक्ताओं वस्तु के उत्पादन में सहयोग करना है, तो वह 'उत्पादक वस्तु कहलायेगी। उदाहरण के लिए, यदि रुई का प्रयोग गद्दे-रजाई भरने के लिए किया जाता है, तो यह उत्पादन वस्तु कहलायेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई वस्तु उत्पादक व उपयोग वस्तु के रूप में स्थायी रूप से वर्गीकृत नहीं की जा सकती । इस बात को समझने के लिए हम एक और उदाहरण ले सकते हैं । यदि कोई व्यक्ति 'कार तथा कम्प्युटर अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए प्रयोग करता है, तो ये उपभोग वस्तुएँ कहलायेगी और यदि इनका प्रयोग इसी व्यक्ति द्वारा कार-खाने के काम के लिए किया जाता है, ।

(vii) मौद्रिक आय एवं वास्तविक आय (Money Income and Real Income)

किसी व्यक्ति को उसके काम के बदले मुद्रा के रूप में प्राप्त आय उसकी मौद्रिक आय कहलाती है, जबकि वास्तविक आय मौद्रिक आय की क्रय शक्ति होती है अर्थात् उसे मौद्रिक आय से वह प्रचलित मूल्य पर कितनी वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त कर सकता है ? मौद्रिक आय की क्रय शक्ति प्रचलित सामान्य कीमत स्तर पर निर्भर करती है । यदि सामान्य कीमत स्तर ऊँचा है, तो वास्तविक आय कम होगी और इसके विपरीत सामान्य कीमत स्तर नीच होने पर वास्तविक आय अधिक होगी । यही कारण है कि तेजी काल में मौद्रिक आय अधिक होने पर भी वास्तविक आय कम होती है, जबकि मन्दीकाल में मौद्रिक आय कम होने पर भी वास्तविक आय अधिक होती है। किसी भी व्यक्ति का जीवन-स्तर उसकी मौद्रिक आय के बजाय उसकी वास्तविक आय के स्तर पर निर्भर करता है।

(viii) लागत एवं आगम (Cost and Revenue)

लागत (Cost)

किसी वस्तु के उत्पादन पर होने वाले समस्त खर्चो के योग को लागत कहते है। दूसरे शब्दों में, किसी वस्तु के उत्पादन में प्रयुक्त सभी उत्पादन के साधन को चुकाये गये पारिश्रमिक के योग को लागत कहते हैं। लागत के मौद्रिक एवं वास्तविक रूप में व्यक्त किया जा सकता है। इसके अलावा इसे अवसर लागत के रूप में भी प्रयोग किया जाता है।

मौद्रिक लागत (Money Cost): वस्तु विशेष के उत्पादन पर एक उत्पादक द्वारा किया गया कुल मुद्रा व्यय ही उसकी मौद्रिक लागत है। यह उत्पादक द्वारा प्रयुक्त किये गये उत्पादन के साधनों का मौद्रिक पुरस्कार है, जैसे भूमि, श्रम और पूँजी के प्रयोग के बदले चुकाया गया लगान, मजदूरी और ब्याज। मौद्रिक लागत को निम्न सूत्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है:

मौद्रिक लागतें = स्पष्ट लागतें + अस्पष्ट लागतें

स्पष्ट लागतों के अन्तर्गत उन सभी खर्चों को सम्मिलित किया जाता है जो एक उत्पादक अपनी वस्तु के उत्पादन के लिए उन उत्पादन के साधनों पर व्यय करता है जिन्हें वह अनुबन्ध पर लेता है। उदाहरण के लिए, कच्चे माल की कीमत, भूमि व भवन का किराया, पूँजी पर ब्याज, मजदूरों और प्रबन्धकों को चुकाया गयी मजदूरी एवं वेतन, विक्रय लागतें आदि। अस्पष्ट लागतें साहसी के संचयं के साधनों एवं सेवाओं की आरोपित लागते होती हैं। इन्हें बाजार की प्रचलित दर के आधार पर व ब्याज लगाना अथवा अपनी सेवाओं के बदले प्रचलित बाजार दर से पारिश्रमिक वसूलना आदि। अर्थशास्त्री सामान्य लाभ को भी अस्पष्ट लागत मानकर कुल लागत में जोड़ते हैं। काल के आधार पर कुल मौद्रिक लागतों को रिम्र और परिवर्तनशील लागातों के लेप में वर्गीकृत किया जाता है। स्थिर लागतें उत्पादन की मात्रा परिवर्तित होने पर भी स्थिर रहती हैं, जबकि परिवर्तनशील लागतें उत्पादन की मात्रा के साथ-साथ परिवर्तित होती रहती हैं। उदाहरण के लिए, भूमि व भवन का किराया, पूँजी पर ब्याज, स्थायी कर्मचारियों का वेतन, बिजली, पानी और सफाई का व्यय स्थिर लागतें हैं, जबकि कच्चे माल की लागत, प्रत्यक्ष श्रम की 'मजदूरी, मशीनों के संचालन का व्यय परिवर्तनशील लागतें हैं। किसी वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन पर होने वाला अतिरिक्त व्यय उसकी **सीमान्त लागत** कहलाता है। सीमान्त लागत एक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन के कारण कुल लागत में होने वाले परिवर्तन की -दर का प्रतीक है।

वास्तविक लागत (Real Cost) : वास्तविक लागत के अन्तर्गत वे सब कष्ट, प्रयत्न, कठिनाइयाँ तथा त्याग कठिनाइएँ होते हैं जो किसी वस्तु के निर्माणकाल में उठाने पते हैं। मार्शल इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के श्रमिकों के प्रप्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष शारीरिक एवं मानसिक प्रयत्नों तथा पूँजी संचय में होने वाले त्याग एवं कष्ट सम्मिलित करते हैं।

अवसर लागत (Opportunity Cost) : इसे हस्तान्तरण आय भी कहा जाता है। यह किसी उत्पादन के साधन की वह न्यूनतम कीमत है जो उसे वर्तमान व्यवसाय में रोके रखने के लिए मिलनी आवश्यक है। यदि साधन को यह न्यूनतम पुरस्कार प्राप्त नहीं होता है, तो वह अपने वैकल्पिक प्रयोग में चला जावेगा । **बेनहम** अवसर लागत को साधन के सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक प्रयोग में प्राप्त आय मानते है।

आगम (Revenue)

एक फर्म द्वारा अपनी उत्पादित वस्तु को बेचने से प्राप्त होने वाली राशि को आगम कहते हैं । अर्थशास्त्र में आगम शब्द का निम्नलिखित अर्थों में प्रयोग किया जाता है :

1. **कुल आगम** (Total Revenue) : एक फर्म द्वारा अपनी वस्तु की एक निश्चित मात्रा को बेचने से जो कुल राशि प्राप्त होती है, उसे कुल आगम कहते हैं। इसे वस्तु की बेची गयी कुल मात्रा को उसकी प्रति इकाई कीमत से गुणा करके ज्ञात किया जाता है। उदाहरण के लिए, फर्म 100 इकाइयाँ 10 रू प्रति इकाई कीमत पर बेचती है, तो यही कुल आगम 1000रू. होगा। सूत्र रूप में

TR=Q x P

यहाँ TR कुल आगम, Q वस्तु की बेची गयी कुल इकाइयाँ तथा P प्रति इकाई कीमत है।

2. औसत आगम (Average Revenue) : औसत आगम वस्तु की बेची गयी मात्रा से प्राप्त होने वाली प्रति इकाई कीमत है जिसे कुल आगम में बेची गयी इकाइयों की संख्या का भाग देकर ज्ञात किया जाता है। औसत आगम ज्ञात करने का सूत्र इस प्रकार है

$$AR = \frac{TR}{Q}$$

यहाँ AR औसत आगम, TR कुल आगम तथा Q बेची गयी कुल इकाइयों की संख्या है । ऊपर दिये गये उदाहरण के अनुसार 100 इकाइयाँ का भाग देने से औसत आगम 10रु आयेगा।

3. सीमान्त आगम (Marginal Revenue): सीमान्त आगत वस्तु की अतिरिक्त इकाई को बेचने से प्राप्त होने वाला आगम है । दूसरे शब्दों में, यह वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई को बेचने से कुल आगम में होने वाला परिवर्तन है । सीमान्त आगम को ज्ञात करने के निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग किया जाता है:

$$MR = \frac{dTR}{dQ}$$

यहाँ MR सीमान्त आगम,dTR कुल आगम में परिवर्तन तथा dQ कुल मात्रा में परिवर्तन के प्रतीक चिन्ह हैं । MR को दूसरे सूत्र से भी ज्ञात किया जा सकता है ।

MR = TRn - TRn - 1

(ix) साम्य अथवा संतुलन (Equilibrium)

अर्थशास्त्र में साम्य दो अर्थों में प्रयुक्त होता है । प्रथम अर्थ में साम्य दो विपरीत शक्तियों के समता बिन्दु का प्रतीक है, जैसे साम्य कीमत का निर्धारण वहाँ होता है जहाँ वस्तु की माँग और पूर्ति ठीक एक दूसरे के बराबर होती है । द्वितीय अर्थ में साम्य पूर्ण विश्राम की स्थिति का प्रतीक है । दूसरे शब्दों में, यह वह स्थिति होती है जिसमें विचलन (परिवर्तन) की प्रवृति का अभाव पाया जाता है । उदाहरण के लिए, एक उपभोक्ता तब साम्य में होता है जब वह अपने खर्च के तरीके में परिवर्तन नहीं करना चाहता । इसी प्रकार एक उत्पादक तब साम्य में होता है जब वह उत्पादन के साधनों के संयोग में परिवर्तन नहीं चाहता है । साम्य स्थायी तथा अस्थायी एवं आंशिक तथा सामान्य प्रकार का हो सकता है ।

(x) धन, पूँजी तथा आय (Wealth, Capital, and Income)

धन के अन्तर्गत उन सभी वस्तुओं तथा सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है जिनमें उपयोगिता (मानवीय आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की क्षमता), मूल्य तथा हस्तान्तरणशीलता के तीनों तत्त्व विधमान हों । आम आदमी मूल्यवान वस्तुओं को ही धन मानता है । यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य हे कि मूल्य दुलभर्ता से उत्पन्न होता है । इसलिए जो वस्तु अथवा सेवा जितनी दुर्लभ है, वह उतनी ही अधिक मूल्यवान होती है । उदाहरण के लिए, हीरे-जवाहरात, स्वर्ण, रजत आदि वस्तुएँ अधिक दुर्लभ होने के कारण अधिक मूल्यवान है । धन को सम्पति भी कहते हैं । पूँजी धन का वह भाग है जो अधिक धन उत्पादन करने के लिए काम में लिया जाता है । **फिशर** के शब्दों, 'पूँजी वह धन है जो मनुष्य के भूतकालीन श्रम 'को परिणाम है, लेकिन जिसका प्रयोग अधिक धन का उत्पादन करने के साधन के रूप में किया जाता है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उसी धन को पूँजी कहा जाता है जिसका उत्पादक प्रयोग हो 'रहा हो । इसलिए यह कहा जाता है कि समस्त पूँजी धन है, ।किन्तु समस्त धन पूँजी नहीं है । इस आधार पर तिजोरी में बन्द वह धन जो किसी उत्पादन कार्य में नहीं लगाया गया है, पूँजी नहीं कहलायेगा । पूँजी उत्पादक -होने के कारण आय प्रदान करती है और इस प्रकार धन उत्पादन में -सहयोग करती है । इसलिए जिस समाज में अधिक पूँजी होती है, वही आय भी अधिक होती है ।

एक व्यक्ति को उसके काम (श्रम) के बदले जो कुछ प्राप्त होता है, उसे आय कहते हैं । आय एक प्रवाह अवधारणा है, जबकि धन तथा पूँजी स्टॉक अवधारणाएँ हैं । आय का संबंध किसी निश्चित समयावधि से होता है, जबकि धन तथा पूँजी का सम्बन्ध एक निश्चित समय बिन्दु से होता है । इसलिए आय एक समयावधि में परिवर्तनशील होती है, लेकिन धन व पूँजी एक समय बिन्दु पर स्थिर होते हैं । पूँजी से आय उत्पन्न होती है और आय से बचत उत्पन्न होती है, जो धन कहलाती है । धन को उत्पादक कार्यो में लगाने से पूँजी निर्माण होता है । इस प्रकार आय, धन व पूँजी परस्पर एक दूसरे के कारण एवं प्रभाव है, इसलिए एक दूसरे से सम्बन्धित हैं ।

(xi) राष्ट्रीय आय, खर्च योग्य आय तथा प्रति व्यक्ति आय

(National Income, Disposable Income and Per Capital Income)

राष्ट्रीय आय एक प्रवाह अवधारणा होने के कारण एक निश्चित समयावधि में, जो प्राय: एक वर्ष होती है, एक राष्ट्र द्वारा उत्पादित समस्त अन्तिम वस्तुओं और सेवाओं का योग है । यह घरेलू आय से भिन्न है । घरेलू आय में केवल स्वदेश में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं को ही सम्मिलित किया जाता है, जबकि राष्ट्रीय आय में देशवासियों द्वारा देश तथा विदेश में उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है । अत: राष्ट्रीय आय की अवधारणा घरेलू आय की अवधारणा से व्यापक है । सूत्र रूप में :

राष्ट्रीय आय = घरेलू आय + विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय

राष्ट्रीय आय में केवल उसी आय को सम्मिलित किया जाता है जो किसी आर्थिक उत्पादक क्रिया के बदले प्राप्त -होती है । इसमें हस्तान्तरण भुगतानों तथा दान, उपहार, चन्दा, पेंशन, अकाल राहत, छात्रवृति आदि को सम्मिलित नहीं किया जाता है । इसके अलावा राष्ट्रीय आय में विशुद्ध मौद्रिक सौदों तथा सम्पत्तियों के क्रय-विक्रय से प्राप्त होने वाले पूँजीगत लाभों को भी सम्मिलित नहीं किया जाता है क्योंकि ये किसी उत्पादक आर्थिक क्रिया से सम्बन्धित नहीं होते है । उदाहरण के लिए जमीन-जायदाद, बॉण्ड तथा शेयर के क्रय-विक्रय से प्राप्त लाभों को राष्ट्रीय आय की गणना में सम्मिलित नहीं किया जाता है ।इसी प्रकार अवैधानिक व्यापारिक क्रियाओं से प्राप्त आय को भी राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जाता है । राष्ट्रीय आय को गणना की सरलता की दृष्टि से मुद्रा रूपी पैमाने के द्वारा मापा जाता है । राष्ट्रीय आय की गणना करते समय दोहरी गणना से बचा जाता है । राष्ट्रीय आय को चालू मूल्यों अथवा स्थिर मूल्यों पर मापा जा सकता है । चालू मूल्यो ' पर ज्ञात की गयी राष्ट्रीय आय को **नामित आय** (Nominal Income) तथा स्थिर मूल्यों पर ज्ञात की गयी राष्ट्रीय आय को **वास्तविक आय** (Real Income) के नाम से जाना जाता

है । आर्थिक कल्याण एवं प्रगति की दृष्टि से वास्तविक आय अधिक महत्वपूर्ण है । राष्ट्रीय आय की अनेक अवधारणाएँ प्रचलित हैं । सामान्य ज्ञान की दृष्टि से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय आय एक वर्ष की अवधि में एक राष्ट्र के समस्त नागरिकों द्वारा उत्पादित समस्त अन्तिम वस्तुओं और सेवाओं की बिना दोहरी गणना के की गयी माप है ।

खर्च योग्य आय को व्यय योग्य अथवा प्रयोज्य वैयक्तिक आय भी कहते हैं । वैयक्तिक आय में से अनिवार्य भुगतनों को घटा 'देनें के पश्चात जो आय शेष रहती है, उसे खर्च योग्य आय कहते हैं । यह वह आय होती है जिसे वयक्ति अपनी स्वेच्छानुसार खर्च कर सकता है । जैसे एक व्यक्ति की आय में से प्रत्यक्ष कर (आय 'कर एवं सम्पत्ति कर) तथा अन्य अनिवार्य भुगतान (बीमा किस्त, लाइसेंस फीस तथा दण्ड एव जुर्माना) घटा देते हैं तो उसकी खर्च योग्य आय निकल आती है । सूत्र रूप में :

खर्च योग्य आय = वैयक्तिक आय - अनिवार्य भुगतान

प्रति व्यक्ति आय देश की राष्ट्रीय आय में देश की कुल जनसंख्या के भाग देने से प्राप्त होती है । यह देशवासियों की औसत आय होती है । प्रति व्यक्ति आय की अवधारणा का प्रयोग आर्थिक विश्लेषण तथा अन्तर्राष्ट्रीय तुलनाओ में किया जाता है । विभिन्न देशों की आर्थिक प्रगति की तुलना इसके आधार पर ही की जाती है । प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की तुलना में इसलिए अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इसमे जनसंख्या के आकार और उसमें वृद्धि का समायोजन स्वतः ही हो जाता है । प्रति व्यक्ति आय की गणना का सूत्र अग्रांकित है:

$$\text{प्रति वयक्ति आय} = \frac{\text{राष्ट्रीय आय}}{\text{कुल जनसंख्या}}$$

(xii) मुद्रास्फीति और मुद्रा संकुचन (Inflation and Deflation)

बेब्स्टर शब्दकोष के अनुसार, "मुद्रास्फीति वह अवस्था है जब वस्तुओं की उपलब्ध मात्रा की तुलना में मुद्रा एवं साख की मात्रा में अधिक वृद्धि होती है, जिसके परिणामस्वरूप मूल्य स्तर में निरन्तर और महत्वपूर्ण वृद्धि होती है । सरल शब्दों में कहें तो मुद्रास्फीति वह दशा है जिसमें मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग (वस्तुओं की उपलब्ध मात्रा) की तुलना में अधिक हो जाती है, जिसके फलस्वरूप सामान्य कीमत स्तर बढ़ने लगता है और मुद्रा का मूल्य गिरने लगता है । मुद्रा प्रसार को स्पष्ट करते हुए पीगू ने लिखा है कि, 'जब मौद्रिक आय, आय उपार्जन सम्बन्धी क्रियाओं से कहीं अधिक अनुपात में बढ़ती है. तब मुद्रास्फीति की स्थिति उत्पन्न होती है । इस प्रकार मुद्रास्फीति वह स्थिति होती है जब देश में मौद्रिक आय (मुद्रा की कुल पूर्ति) उसकी वास्तविक आय (वस्तुओं और सेवाओं की कुल उत्पादन-मात्रा) से अधिक हो जाती है और इस कारण से वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ़ने लगती हैं तथा मुद्रा की क्रय शक्ति गिरने लगती है । मुद्रास्फीति का समाज के विभिन्न वर्गो पर अच्छा व बुरा अलग-अलग प्रभाव पडता है । कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार रेंगता हुआ (धीमा) मुद्रा प्रसार अर्थव्यवस्था के लिए अच्छा होता है, किन्तु कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि यह अर्थव्यवस्था के लिए घातक सिद्ध होता है । इसलिए मुद्रास्फीति पर यथा संभव नियंत्रण रखा जाना चाहिए । मुद्रास्फीति काल में आय, रोजगार तथा उत्पादन बढ़ता है ।

मुद्रा संकुचन या अवस्फीति मुद्रा प्रसार की ठीक विपरीत स्थिति है । मुद्रा संकुचन की स्थिति में मुद्रा की मात्रा उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा से कम हो जाती है जिससे सामान्य कीमत स्तर में गिरावट तथा मुद्रा के मूल्य में वृद्धि होती रहती है । इस स्थिति में जैसा कि **पीगू** मानते है, 'वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन मौद्रिक आय की तुलना में तेजी से बढ़ता है ।" मुद्रा संकुचन काल में आय, रोजगार तथा उत्पादन घटता है जिससे जीवन-यापन का संकट उठ खड़ा हो जाता है ।

लार्ड कीन्स मुद्रास्फीति और मुद्रा संकुचन दोनों को ही आर्थिक बुराई मानते हैं, लेकिन साथ में यह भी कहते हैं कि मुद्रा संकुचन मुद्रा-प्रसार की तुलना में अधिक बुरा है । उन्हीं के शब्दों में, 'भुद्रा-प्रसार अन्यायपूर्ण है तथा मुद्रा संकुचन अनुपयुक्त । इन दोनों में संभवत: मुद्रा संकुचन अधिक बुरा है क्योंकि आज के निर्धन विश्व में बेरोजगारी को बढ़ावा देना विनियोक्ताओ को अप्रसन्न करने की अपेक्षा कहीं अधिक बुरा है । मुद्रास्फीति में कम से कम आधी रोटी तो मिल जाती है, किन्तु मुद्रा संकुचन में बेरोजगारी के कारण आधी रोटी भी छिन जाती है ।

20.4 स्वपरख प्रश्न (Self Examined Questions)

1. समाजवाद और पूँजीवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए उनमें अन्तर कीजिए ।

2. मिश्रित अर्थव्यवस्था की परिभाषा दीजिए और इसकी प्रमुख विशेषताओं पर भारतीय संदर्भ में प्रकाश डालिए।

3. दुर्लभता से आप क्या समझाते है ? इसे आर्थिक समस्याओं की जड़ क्यो कहा जाता है?

4. स्टॉक व प्रवाह की अवधारणा में उदाहरण सहित अंतर कीजिए ।

5. धन, पूँजी व आय का अर्थ स्पष्ट करते हुए इनकी पारस्परिक निर्भरता को समझिए ।

6. मूल्य और कीमत में अन्तर स्पष्ट कीजिए ।

7. मुद्रास्फीति और मुद्रा संकुचन का अर्थ बताइए और इनमें अंतर कीजिए ।

8. "मुद्रा प्रसार अन्यायपूर्ण है तथा मुद्रा संकुचन अनुपयुक्त" । समझिए ।

9. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :

(i) बाजार का अर्थ एवं विशेषताएँ

(ii) उपभोक्ता व उत्पादक वस्तुओं में अन्तर

(iii) राष्ट्रीय आय

(iv) अवसर लागत

(v) मौद्रिक आय तथा वास्तविक आय

(vi) प्रति व्यक्ति आय

20.5 उपयोगी पुस्तकें :

1. व्यष्टि अर्थशास्त्र एन. डी. माथुर व ओ पी. गुप्ता (शिवम् बुक हाउस), जयपुर

2. व्यावसायिक अर्थशास्त्र अग्रवाल, अग्रवाल व गुप्ता (रमेश बुक डिपो), जयपुर

शब्दावली

कम्पनी : कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत समामेलित व्यक्तियों का एक संघ है । यह विधि द्वारा निर्मित कृत्रिम व्यक्ति है, इसका अपना विशिष्ट नाम होता है, एक सार्वमुद्रा होती है, शाश्वत जीवन होता है और सदस्यों से पृथक अस्तित्व होता है ।

अंशों द्वारा सीमित कम्पनी : एक ऐसी कम्पनी जिसमें सदस्यों का दायित्व उनके शेयरों अथवा अंशों के मूल्य तक सीमित होता है ।

गारंटी द्वारा सीमित कम्पनी : यह एक ऐसी कम्पनी होती हे जिसमें सदस्यों का दायित्व उस राशि तक सीमित है जो वे कम्पनी के समापन होने की स्थिति में कम्पनी की परिसम्पतियो में देने का उत्तरदायित्व लेते हैं ।

सरकारी कम्पनी : एक ऐसी कम्पनी जिसकी कम से कम 51 प्रतिशत प्रदत्त अंश पूंजी सरकार के पास होती है।

निजी कम्पनी : एक कम्पनी जो पार्षद अन्तर्नियमों अपने अंशों के हस्तांतरण पर रोक लगाती है अपने सदस्यों की संख्या को 50 तक सीमित करता है । अपने अंशों या ऋणों को जनता द्वारा लेने पर रोक लगाती है ।

अविच्छिन्न अस्तित्व : अपने सदस्यों के जीवन या विवेक पर ध्यान किये बिना कम्पनी का अस्तित्व निरन्तर बने रहना।

विदेश कम्पनी : भारत के बाहर अन्य देश में निगमित कम्पनी लेकिन जिसका भारत में व्यवसाय का स्थान है ।

सार्वमुद्रा : प्रत्येक कम्पनी के नाम की एक सार्वमुद्रा होती है । सार्वमुद्रा लगे हुए दस्तावेजों के लिए ही कम्पनी पूर्ण उत्तरदायी होती है ।

अंश : कम्पनी की पूंजी अंशों में विभाजित होती है और प्रत्येक अंश का एक निश्चित मूल्य होता है।

सारांश

एकाकी व्यापार और साझेदारी संस्थाओं की सीमाओं ने कम्पनी प्रारूप को जन्म दिया । कम्पनी विधान द्वारा निर्मित एक कृत्रिम व्यक्ति है जिसका अपना पृथक एवं वैधानिक अस्तित्व होता है । इसकी पूंजी अंशों में विभक्त होती है, जिनके धारकों का दायित्व सीमित होता है तथा संस्था की अपनी एक सार्वमुद्रा होती ह । कम्पनी की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार है (i) ऐच्छिक एवं समामेलित संघ (ii) विधान द्वारा निर्मित कृत्रिम व्यक्ति (iii) वैधानिक अस्तित्व (iv) सीमित दायित्व (v) सार्वमुद्रा (vi) शाश्वत उत्तरदायित्व (vii) स्वामित्व एवं प्रबन्ध में पृथकता (viii) सदस्यों की संख्या (ix) अंशों की हस्तान्तरणीयता (x) वैधानिक दायित्व ।

कम्पनी को विभिन्न आधारों पर विभिन्न प्रकारों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है:

कम्पनी संगठन के प्रमुख लाभों में शामिल है- स्थायी अस्तित्व, अंशधारियों का सीमित दायित्व, शेयरों के हस्तान्तरण की सुविधा, पेशेवर प्रबन्धकों की सेवाएं संभव, बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभ, विकास एवं विस्तार की सम्भावना एवं अनुसंधानों को प्रोत्साहन आदि । प्रमुख दोष या सीमाएं इस

प्रकार है- स्थापना में कठिनाई, आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण, गोपनीयता का अभाव, सदस्यों में प्रतिस्पर्धा, प्रेरणा का अभाव, सरकारी हस्तक्षेप की अधिकता एवं प्रवर्तकों द्वारा कपट आदि ।

स्वपरख प्रश्न

1. कम्पनी की परिभाषा दीजिए । कम्पनी की विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।
2. कम्पनी के प्रमुखं प्रकारों का संक्षेप में वर्णन कीजिए
3. संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी से आप क्या समझते हैं? इसके लाभ-दोषों का वर्णन कीजिए ।
4. साझेदारी और कम्पनी में अन्तर स्पष्ट कीजिए ।
5. "कम्पनी कानून द्वारा निर्मित एक कृत्रिम व्यक्ति है, जो ठीक व्यक्ति की तरह है, किन्तु जिसका कोई भौतिक अस्तित्व नहीं होता है । ' समझाइए ।

उपयोगी पुस्तकें

आर.सी. अग्रवाल, व्यावायिक संगठन, (जयपुर : कॉलेज बुक डिपो 1987)

डॉ. आर.के. बजाज, डी.आर. सैनी एवं बी.एल. गुप्ता (जयपुर कैलाश बुक डिपो 1964)

यदुकुल भूषण एवं ओ.पी अग्रवाल : व्यावसायिक संगठन के सिद्धान्त (नई दिल्ली. सुल्तान चद एण्ड संस, 1988) रामनारायण गोयल. आधुनिक व्यवसाय - संगठन एवं प्रबन्ध (इलाहाबाद : किताब महल)